

वेद-स्वाध्याय-प्रदीपिका

प्रथम खण्ड

महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती



ABOUT THE BOOK

There is no substitute of Vedas insofar as the code of human behaviour and conduct is concerned Vedas are the scriptures of all true knowledge If this vast universe and human beings in it are the creations of God, then it was also incumbent on God to advise human beings, how to live, conduct, behave and act upon in this world And this the Almighty Lord did right in the beginning of creation by revealing the knowledge, so essential for human beings, in the form of Vedas

This book contains detailed exposition of thirty-one Vedic hymns in simple, colloquial Hindi by M Gopal Swami Saraswati, dealing with varied aspects of human life, be it at the individual, family, society, state or at the world level

M. Gopal Swami Saraswati has endeavoured to explain the selected vedic hymns in such a simple manner that even the most ordinary person can understand and absorb the message of Vedic lores without any difficulty, whatsoever.

ओ३म्

वेद-स्वाध्याय प्रदीपिका

सम्पादक :

म० गोपाल स्वामी सरस्वती



विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक	:	**विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द** ४४०८, नई सड़क, दिल्ली–६ दूरभाष : ३९१४९,८५, ३९७७२१६ Email · ajay@vedicbooks.com Web www vedicbooks com
संस्करण	:	२००१
मूल्य	:	250/- रुपये
टाइप सैटिंग	:	**भगवती लेज़र प्रिंटर्स** नई दिल्ली–६५, दूरभाष : ६४१४३५९
मुद्रक	:	स्पीडो ग्राफिक्स, दिल्ली 51

वेद स्वाध्याय प्रदीपिका

(खण्ड १)



स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद न करें।

—तैत्तिरीयोपनिषद् १।११

 **प्रेमोपहार** 

श्री ....

....

.... की सेवा में



विनीत—

....

....

....



प्रकाशकीय वक्तव्य

[PUBLISHER'S NOTE]

वेदो की महिमा अपार है। विश्व के मानवों को सृष्टि के आरम्भ में ही ज्ञान देने का श्रेय वेदों को है। जहाँ वेदों की ज्योति है, वहाँ प्रकाश है, उन्नति है, सुख और शान्ति का वास है। वेदों का स्वाध्याय प्रत्येक व्यक्ति समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व की उन्नति का साधन है, विश्व-बंधुत्व का प्रेरक है, और मानव-धर्म तथा मानवता का संस्थापक है।

हमें प्रसन्नता है कि हम महात्मा गोपाल स्वामी जी सरस्वती (पूर्व आश्रम में आर्य जगत के सुविख्यात वेद-प्रवक्ता एवं लेखक, मान्य श्री गोपाल शरण जी "विद्यार्थी") की कुछ वेद मन्त्रों पर व्याख्याये 'वेद स्वाध्याय प्रदीपिका' के नाम से दो खण्डों में प्रकाशित कर रहे हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. **वेद स्वाध्याय प्रदीपिका (खण्ड १)**	इसमें श्री स्वामी जी द्वारा पूर्व आश्रम में लिखित ३१ वेद मन्त्रों की विस्तृत व्याख्यायें हैं। यह सब व्याख्यायें आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रमुख हिन्दी साप्ताहिक **'आर्यजगत्'** में सम्पादकाचार्य श्री अशोक कौशिक जी के कार्यकाल में वर्ष १९९६ से लेकर वर्ष १९९८ के बीच छप चुकीं हैं; और वहीं से साभार ली गई हैं।
२. **वेद स्वाध्याय प्रदीपिका (खण्ड २)**	इसमें श्री स्वामी जी द्वारा लिखित तथा अन्यत्र प्रकाशित २२ वेद मन्त्रों पर व्याख्यायें तथा वेद मन्त्रों पर आधारित पर्वों (त्योहारों) सम्बन्धी ९ लेख हैं।

इस प्रकार दोनों खण्ड मिलकर स्वाध्यायशील पाठकों/वेद प्रेमियों तथा उन असंख्य छोटी-छोटी आर्य समाजों के साप्ताहिक सत्संगों के

लिये (चाहे वे ग्रामीण क्षेत्र में हों या शहरी क्षेत्र में) पूरे वर्ष के उपयोग के लिये इतनी सामग्री प्रदान कर देंगे, कि उनको अपने साप्ताहिक सत्संगों में उपदेशकों पर कम ही निर्भर रहना पड़ेगा। जनसाधारण की वेदों के स्वाध्याय में रुचि बढ़े; अपने साप्ताहिक सत्सगों एवं पर्वों पर प्रत्येक समाज में अधिकारी वा कार्यकर्त्ता इन लेखों को पढ़ें, पढ़ायें, सुनें और सुनायें, यही हमारी कामना है।

वेद स्वाध्याय प्रदीपिका में संकलित वेद मन्त्रों की व्याख्याओं की कुछ अपनी **विशेषताएँ** हैं, जिनकी ओर हम अपने सुधी पाठकों का ध्यान दिलाना चाहेंगे—

१. श्री स्वामी जी महाराज वेदों को 'जीवन ग्रन्थ' स्वीकारते हैं, अतः व्याख्याओं के लिये वेद मन्त्रों का चयन कुछ इस प्रकार किया गया है जिनमें प्रत्येक मनुष्य को अपनी सामयिक समस्याओं को सुलझाने की सामग्री मिले।

२. प्रस्तुतिकरण इतना सरल, सुलझा हुआ और साधारण बोलचाल की भाषा में है कि वेद मन्त्रों के आशय को समझने में मामूली हिन्दी जानने वाले व्यक्ति को भी कोई कठिनाई नहीं होगी। यह हमारा दावा भी है, और विश्वास भी।

३. स्वामी जी ने जो शैली अपनाई है, वह उनके गुरुवर पूज्यपाद स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' जी की देन है। इस के आधार पर वेद लोहे के चने नहीं रहते। हरेक की समझ में वेद मन्त्र आसानी से आ जाते हैं। यह हमारे पाठकगण इन व्याख्याओं को पढ़कर स्वयं अनुभव करेंगे।

४. प्रत्येक व्याख्या वेद में पैठ कर समाहित होकर लिखी गई है। सारी व्याख्या ठोस सामग्री से ओत-प्रोत है। कथाओं और गाथाओं से दृष्टान्त आदि देकर पन्ने भरने की चेष्टा नहीं की गई है। समस्त प्रमाण और विस्तार वेद और आर्ष ग्रन्थों पर ही आधारित हैं।

हमारे बहुत आग्रह पर म० गोपाल स्वामी जी सरस्वती ने अपने जीवन वृत्त पर एक लेख "अपनों से अपनी बात" दिया है, इसके लिये हम श्री स्वामी जी के अत्यन्त आभारी हैं।

मातुश्री धनदेवी केशवराम धर्मार्थ वैदिक ट्रस्ट ने जो अनुदान देकर हमें आर्थिक सहायता प्रदान की है, उसके लिये भी हम ट्रस्ट के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

प्रकाशन और मुद्रण की त्रुटियों के निराकरण तथा अन्य सकारात्मक सुझावों का हमारी ओर से सदैव स्वागत है, तथा रहेगा। नीचे दो पत्र हम अविकल इस लिये दे रहे हैं, कि पाठक गण हमारे इस संग्रह के प्रकाशन के कार्य का महत्व समझ सकें।

मकर संक्रान्ति, सं० २०५८ **आदित्य प्रकाशन**
१४ जनवरी, २००२ गुड़गाँव/नई दिल्ली

शुभशंसा (१)

गोपाल जी गुप्त
द्वारा क्रान्ति इलेक्ट्रानिक्स
ग्रा० पो०-सिकन्दरपुर,
जनपद-बलिया, (उ०प्र०)
पिन-२७७३०३

प्रति दिनांक २८.३.९७
श्री गोपाल शरण 'विद्यार्थी'
बी-१२८/१, ईस्ट ऑफ कैलाश,
नई दिल्ली-११००६५

परमादरणीय 'विद्यार्थी' जी

शुभाभिवादन!

होली के सुमधुर अवसर पर भावना के साथ सहृदय मिलन। पत्र में विलम्ब हो गया। कृप्या क्षमा करेंगे। यह पत्र होली की पूर्व सन्ध्या पर लिखना प्रारम्भ करने वाला ही था कि १६ फरवरी ९७ को 'आर्य जगत' में 'परम पुरुष की सोलह कलाएँ' लेख हाथ लग गया। अब तो लिखना छोड़ कर 'आर्य जगत्' के अंक ढूढ़ना प्रारम्भ कर दिया उन पुराने अंको के संकलनों को ढूंढ़ने लगा और इच्छा उत्पन्न हुई कि आपकी व्याख्याओं को संकलित कर लिया जाय। मुझे मात्र छः लेख प्राप्त हुए। ऐसा लग रहा है कि 'आर्य जगत्' में प्रायः आपकी

व्याख्याओं को दूसरे पृष्ठ पर ही स्थान दिया जा रहा है। ***अर्थात् आपकी व्याख्याएँ केवल मेरे ही नहीं, सबके हृदय को आकर्षित करनेवाली और संग्रहणीय है।*** मैं तो अपने को धन्य मानता हूँ कि आपसे किस प्रकार भटकी अवस्था में मिला। पर आज हम दोनों पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्रगाढ़ आध्यात्मिक भावना-सागर में गोते लगाने का अनुभव करते हैं। मुझे ऐसा लग रहा है कि भले ही परम पूज्य स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' स्थूल शरीर में दिखाई नहीं देते हों, उनका कारण शरीर तो आपके साथ है ही। इसी प्रकार वेदों के रस से आनन्दाप्लावित करते रहें, यही वेद माता से प्रार्थना है।

यदा कदा अपने विचारों और भावनाओं से हमें भी आनन्द देते रहें, यही प्रार्थना है। होली की बधाई के साथ वेदमाता का आशीर्वचन।

आपका मित्र—

गोपाल जी गुप्त

शुभशंसा (२)

आसकरण दास सरदाना,
सरदाना क्लीनिक, रेल्वे रोड
नंगल टाउनशिप-१४० १२४
(पंजाब)

दिनांक : ३०.७.९७

श्रीमान मान्यवर 'विद्यार्थी' जी,

सादर नमस्ते!

''आर्य जगत'' पत्रिका में आप द्वारा दी गई वेद मन्त्रों की व्याख्या बहुत ही सरल तथा ज्ञान वर्धक और प्रमाणिक होती है। आपके ऐसे लेख बहूमुल्य हैं। क्या आपने इन लेखों को कोई पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया हुआ है या ऐसा कोई विचार है। यदि ऐसा है तो मेरी ऐसी एक पुस्तक लेने की इच्छा है। पत्रिकाएँ सम्भाल कर रखना कठिन है। पुस्तक लाभकारी रहती है। कृपया सूचित करें।

आशा है, कि आप अपनी ज्ञान वर्षा पत्रिका में हम लोगों के लिये करते रहेंगे।

स्वास्थ्य तथा दीर्घायु की शुभ कामनाओं के साथ—

भवदीय

आसकरण सरदाना

अपनों से अपनी बात

म० गोपाल स्वामी सरस्वती

(पूर्वनाम—गोपाल शरण ''विद्यार्थी'')

प्रकाशक तथा अनेक मित्रों का आग्रह है, कि मैं कुछ अपने बारे में लिखूं। समझ में नहीं आता कैसे और कहाँ से शुरू करूँ।

आज जब मैं आयु के ७० वें वर्ष में यह पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, तो प्रथम आश्चर्य तो मुझे यह हो रहा है, कि मैं इतना जीवन जी कैसे गया। मुझे अपने एक प्रिय भजन की पक्तियाँ याद आ रही हैं, जो परमेश्वर को समर्पित हैं—

तेरी मेहरबानी का है बोझ इतना,
जिसे मैं उठाने के काबिल नहीं हूँ।
मैं लिख तो रहा हूँ, मगर जानता हूँ,
मैं कुछ भी लिखने के क़ाबिल नहीं हूँ॥ १ ॥

तुम्हीं ने अता की, मुझे जिंदगानी,
मुँह में जुबान और कलम में रवानी।
कर्ज़दार तेरी दया का हूँ, इतना,
जिसे मैं चुकाने के क़ाबिल नहीं हूँ॥ २ ॥

मैं समझता हूँ, कि यह मेरे कुछ पूर्व-जन्म के कर्म वा संस्कार रहे होंगे, तथा प्रभु की कृपा और माँ का आशीर्वाद, जिसने मुझे क्या से क्या बना दिया।

मैं अपने माता-पिता की उन सन्तानों में से एक हूँ, जिनके लिये बड़ी मनौतियाँ और मन्नतें मानी जाती हैं। कारण यह, कि मुझ से पूर्व मेरे माता-पिता के पाँच सन्तानें हो चुकी थीं, जो पैदा तो हृष्ट-पुष्ट हुईं, किन्तु साल दो साल में ही वे मृत्यु का ग्रास हो गईं। माँ के दुःख

का पारावार न था, कि इस बीच विधाता की व्यवस्थानुसार मैं माँ के गर्भ में आ गया समूचे गर्भकाल में शायद ही कोई क्षण ऐसा होगा, जिसमें माँ ने परमेश्वर से मेरे स्वस्थ रहने और जीवित रहने की प्रार्थना न की हो। साधु सन्तों को दान तथा लोक सेवा के कार्यों के लिये दानादि का क्रम अलग से चलता रहा, इस भावना से कि पता नहीं किस सन्त महात्मा का आशीर्वाद मुझे लग जावे, या किस पुण्य का फल मुझे मिल जावे।

अंतत: विक्रमी सं० १९८९ (ईस्वी सन् १९३२) शाके १८५४ वर्षा ऋतु, भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष ६, चन्द्रवार, मिथुन लग्नोदय, भरणी नक्षत्र के तृतीय चरण में उत्तर प्रदेश के बरेली नगर में मेरा जन्म हुआ। जन्मते ही पता लगा कि मेरे शिर के बाँयी ओर एक ज़बरदस्त फोड़ा है, जो पका रखा है। मेरे जीवित रहने के लिये उसका चीरा लगना ज़रूरी था, परन्तु अगले दिन सप्तमी और अष्टमी एक होने के कारण श्री कृष्ण जन्माष्टमी का पर्व था, कोई डॉक्टर न मिला, आख़िर एक मुसलमान जर्राह ने आकर चीरा लगाया और मवाद आदि निकालने के पश्चात मरहम-पट्टी की। आज भी अर्द्ध-चन्द्राकार चीरे का निशान मेरे शिर में मौजूद हैं। अब यह सोचता हूँ, कि कहीं वह फोड़ा गर्भ में ही फट गया होता, तो गर्भ में ही मैं समाप्त हो गया होता, और माँ का जीवन और संकट में पड़ गया होता। परन्तु ईश्वर ने जो चमत्कार दिखाना था, सो दिखा दिया। मैं जी गया। मेष राशि के अनुसार मेरा नाम "लेखराम" रखा गया। 'गोपाल शरण' नाम मेरे पितामह ने मुझे दिया। साल सवा साल बाद मेरी एक बहन हुई, वह भी जी गई। परन्तु उसके पश्चात माता-पिता के जो सन्तानें हुईं, कोई भी जीवित नहीं रहीं।

ज्योतिषियों और पंडितों के अनुसार मेरे ग्रह मेरे लिये बारह वर्ष तक और मेरे पिता के लिये अत्यन्त कष्टदायक थे। उनके शमन के लिये, जो भी पूजा-पाठ, व्रत, उपवास, दान आदि कुल-पुरोहित स्व० श्री बांके लाल शास्त्री और पं० कन्हैया लाल जी बताते जाते माँ निरन्तर करती रहती थीं। मेरे लिये अन्न आदि से किये गये 'तुला-दान' और वस्त्र आदि से 'छाया-दान' की यादें अभी भी मेरी स्मृति में हैं। जब तब सत्यनारायण व्रत कथा, उपवास, पूजा-पाठ, होम आदि चलते रहते थे। ग्रहों की शान्ति के लिये कृत्य अलग चलते

रहते थे। फिर भी पिताजी जब तब बीमार रहते या किसी विपत्ति में पड़ जाते थे। बचपन में होली पर्व से पूर्व मेरा बीमार पड़ जाना एक आम बात थी। बीमारी में मेरा भोजन छूटता, तो माँ भी नहीं खाती थीं।

मेरा यह सब लिखने का तात्पर्य यह बताना है, कि मैं उन सौभाग्यशालियों में से नहीं हूँ, जिनको जन्मते ही माता-पिता या पारिवारिक परिवेश से आर्यत्व के संस्कार मिले हों।

मैं शायद पांच या छह साल का रहा हूंगा जब अपने ताउजी के घर में ऊँचाई से गिरने के कारण मेरी बाँयी बाँह फ्रैक्चर हो गई। उन दिनों प्लास्टर का चलन न था। एक ऐसी पट्टी बांधी जाती थी, जो त्वचा से चिपक जाती थी, और जब पट्टी उतारी जाती तो बड़ा कष्ट होता था, खाल उधड़ जाती थी। माँ ही अपनी हिम्मत और साहस से यह कार्य करवा पाती थीं। छह सात माह बाद अंततः बाँह ठीक हो गई।

पढ़ाई की व्यवस्था मेरी घर पर ही की गई थी। मैंने सात वर्ष की आयु में एडवर्ड मेमोरियल हाई स्कूल, (जो बाद में कुंवर दयाशंकर एडवर्ड मेमोरियल इन्टर कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ), में कक्षा ४ में सीधा दाख़िला लिया; जहाँ से मैंने १३ वर्ष की आयु में हाई स्कूल की परीक्षा १९४६ ई० में पास की। बचपन में देखे साम्प्रदायिक दंगों और १९४२ के स्वतन्त्रता आंदोलन की कुछ यादें स्मृति में हैं। १९४७ में जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब मैं बरेली कॉलेज बरेली में इन्टरमीडियेट (कामर्स) का विद्यार्थी था। बरेली कॉलेज से ही मैंने १९४८ ई० में इन्टमीडियेट (कामर्स); १९५० में बी०काम०; १९५२ में एम०काम० और १९५३ में एल०एल०बी० की उपाधियाँ द्वितीय या प्रथम श्रेणी में लीं। ३० जनवरी १९४८ को महात्मा गाँधी जी की मृत्यु से मैं बहुत दुःखी हुआ था, क्योंकि गाँधी युग में जन्मने के पश्चात् भी मैं उनके दर्शन जीवन में न कर सका था। १९५६ में बतौर अध्यापक मैंने एम०ए० (समाजशास्त्र) में किया। मेरी शिक्षा का माध्यम उर्दू तथा अँग्रेज़ी रही। हिन्दी मैंने कहानियों की पत्रिकाओं तथा उपन्यास पढ़-पढ़ का सीखी। प्रेमचन्द, गुरुदत्त और शरतचन्द्र मेरे प्रिय उपन्यासकार थे। हिन्दी माध्यम से मैंने 'साहित्य रत्न' (अर्थशास्त्र) की उपाधि १९५३ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन,

प्रयाग से ली। इस के अलावा 'हिन्दी' एक अतिरिक्त विषय लेकर मैंने इन्टर की परीक्षा पास की।

१९५१ ई० में आयु के ५५वें वर्ष में पिता जी पोस्ट आफ़िस की नौकरी से सेवानिवृत्त हो गये। तब से ही परिवार की आय में योगदान देने के लिये मैं छोटी-मोटी नौकरियाँ करता रहा। जुलाई १९५३ में, मैं बरेली के डी०ए०वी० कालीचरन इन्टर कॉलेज में वाणिज्य का अध्यापक तदर्थ (ad hoc) आधार पर लग गया। इस अस्थायी नौकरी की शर्तों में एक शर्त आर्य समाज, बिहारीपुर, बरेली के साप्ताहिक सत्संगों में शामिल होकर उपस्थिति दर्ज कराने की थी। प्रायः अन्य अध्यापक तो सम्भावित सत्संग की समाप्ति के समय के आस-पास केवल हाज़िरी लगाने आते थे, किन्तु मैं इस दृष्टि से देखने के लिये, कि आर्यसमाज के सत्संगों में क्या होता है, थोड़ा समय से आता था, और जो कुछ वहाँ पढ़ा या बोला जाता, ध्यान से सुनता था। बरेली के 'प्रेम पुस्तक भंडार' वाले समाज में पुस्तकों का स्टाल लगाते थे। पुस्तकों के देखने पढ़ने का शौक मेरा बाल्यावस्था से था, धीरे-धीरे आर्य सिद्धान्तों सम्बन्धी ग्रन्थ, तथा ऋषि दयानन्द के समस्त ग्रन्थ (वेद-भाष्य को छोड़कर) मेरे पास आ गये और मैंने पढ़ डाले। ऋषि दयानन्द की प्रश्नोत्तर शैली मुझे अच्छी लगती थी। इनके अतिरिक्त आर्य महापुरुषों और क्रान्तिकारियों के जीवन चरित्र पढ़ना अच्छा लगता था। आर्ष साहित्य में मुझे पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय और स्वामी दर्शनानन्द वा महात्मा नारायण स्वामी जी की पुस्तकें (प्रायः ट्रैक्ट) भाते थे। आज मेरे पास वैदिक साहित्य का अपना निजी विशाल पुस्तकालय है, जो मैंने अपनी कमाई से पिछले ५० वर्षों में बनाया है।

युवा वर्ग में उन दिनों साम्यवादी/मार्क्सवादी विचारधारा का बहुत प्रचार था। इनकी पुस्तकें निशुल्क अथवा बहुत ही सस्ती मिल जाती थीं। पढ़ने से ऐसा लगता था कि सब समस्याओं का अन्त पूंजीवादी व्यवस्था को अन्त करने से हो सकता था। उस समय अपने आपको समाजवादी, मार्क्सवादी या साम्यवादी कहलाना फैशन होता जा रहा था। आज मैं कह सकता हूँ, कि यदि समय रहते युवावस्था में स्वामी दयानन्द और उनकी विचार धारा से मेरा परिचय न हुआ होता, तो मैं एक पार्टी वर्कर या मज़दूर नेता से अधिक कुछ

न बना होता। बहुचर्चित समाजवादी तथा मार्क्सवादी व्यवस्था की अर्थी उठते तो मैंने अपने इसी जीवन में देख ली। **मैं आज गर्व से कह सकता हूँ कि मानव समाज की समस्त समस्याओं का हल यदि कहीं है, तो वह वेद द्वारा प्रतिपादित मानवतावादी व्यवस्था में ही है।**

आर्यसमाज में मैं जाने लगा था, पर जितना मैं ऋषि दयानन्द और आर्य समाज की विचारधारा के निकट होता गया, आर्य समाजियों के गुण कम और दोष अधिक उजागर होते गये। बड़ी जबरदस्त धड़ेबाज़ी थी, कारण जो धड़ा आर्य समाज में अधिकारिक रूप से प्रबल रहता, उसी के हाथ में डी०ए०वी० स्कूल और अनाथालय पर अपना अधिकार एवं वर्चस्व रहता। दोनों ही संस्थाएँ सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी के समान थीं, जिन पर काबिज रहना ही प्रतिष्ठा का प्रश्न सर्वोपरि रहता था। आर्यसमाजियों की दशा देखकर जब भी दु:ख ही लगता था और आज भी सम्पूर्ण आर्यसमाज की दशा देखकर चाहे प्रादेशिक स्तर पर हो, या सार्वदेशिक स्तर पर, दु:ख ही लगता है। फिर भी ऋषि के तप के फलस्वरूप, यत्र तत्र सर्वत्र, कहीं न कहीं, कोई न कोई, ऐसी विभूति दीख जाती है, कि हृदय आनन्दित हो जाता है, निराशा आशा में परिणित हो जाती है।

१४ अगस्त १९५४ की रात्रि में मेरे पिता जी की तबियत ख़राब हुई। अगले दिन १५ अगस्त की सार्वजनिक छुट्टी होने के कारण १६ अगस्त १९५४ को प्रात: ज़िले के सरकारी अस्पताल में भर्ती कराया, पर शाम तक कोई उपचार नहीं मिला। साँयकाल जब अस्पताल सक्रिय हुआ, तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी। पिताजी की मृत्यु से पहले मैंने किसी की मृत्यु इतने क़रीब से देखी भी नहीं थी। शाम को जब मैं अस्पताल आया तो वे ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना मन्त्रों का पाठ कर रहे थे। मुझे देख कर एक रिश्तेदार जो सिरहाने बैठे थे, कहा "बाबूजी! गोपाल से कुछ कहना है। तब अनासक्त भाव से उन्होंने कह दिया—"नहीं"; वह काफ़ी समझदार है।" और पुन: गायत्री मन्त्र का पाठ करने लगे। सन्ध्या बीत गई। जैसे-जैसे रात बढ़ने लगी, इधर उनके प्राण सिमटने लगे, उधर अस्पताल वाले आक्सीजन आदि की व्यवस्था करने लगे। मैंने अनुभव किया कि यह अस्पताल वाले भी अजीब प्राणी हैं। जब उपचार की ज़रूरत थी

तो कोई झांका तक नहीं, और अब चैन से मरीज़ को मरने भी नहीं देते। माताजी उनके मुख में तुलसी और गंगाजल डालना चाहती थीं। आख़िर को मुझे अस्पताल वालों से कहना पड़ा कि वे अपना सब ताम-झाम हटा लें, और मरीज़ को उसके हाल पर छोड़ दें। अंतत: माताजी ने उनको चम्मच से गंगा जल पान कराया। हलक़ में गंगा जल जाने से कुछ चैतन्यता आई तो एक सज्जन बोल पड़े— "बाबूजी! राम राम कहिये। मैंने देखा कि 'राम' कहने में उनको कष्ट हो रहा था। 'रा' के लिये पूरा जबड़ा खोल पाना सम्भव नहीं हो पा रहा था, तो मैंने कान के पास मुँह सटा कर कहा कि आप "ओ३म्" कहिये। ओ३म् कहने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं हुई। **इससे पहले मैंने केवल पढ़ा ही था कि परमेश्वर का निज नाम 'ओ३म्' है। इसका साक्षात प्रत्यक्षीकरण मैंने पिताजी की मृत्यु समय किया।** परमेश्वर का निज नाम वही हो सकता है जो अंत समय में हर जाती सांस के साथ सुगमतापूर्वक लिया जा सके। 'ओ३म्' 'ओ३म्' कहते-कहते रात्रि के ११ बजे वे शान्त हो गये। मैं तो रो भी नहीं सका। कभी अपनी 'ओ३म्' रूपी उपलब्धि पर और कभी आगे क्या और कैसे होगा, यही सोचता रहा। रात्रि में ही हम शव को अस्पताल से घर ले आये। दाह कर्म कहाँ हो, हरेक की अपनी-अपनी राय। कोई गंगा जी के पक्ष में, कोई रामगंगा (जो बरेली नगर की सीमा पर बहती है) के पक्ष में। रूढ़ियों से ग्रस्त सनातनी हिन्दू परिवारों में मृत्यु उपरान्त कई तरह की रस्में और रिवाज हैं; सब का एक ही लक्ष्य है, कि धन फूंकते जाओ और तमाशा देखते जाओ। आख़िर अंगद के पैर के समान मुझी को अड़ना पड़ा। मैंने सब बड़ों की राय के विपरीत यह निर्णय लिये—

(i) पिताजी का अंतिम संस्कार बरेली की शमशान भूमि में वैदिक रीत्यानुसार होगा।

(ii) मैं उतना ही कुछ करूँगा जितना स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि में लिखा है।

सब कहें, कि यह लड़का आर्य समाजी हो गया, अब गया काम से। खै़र, पिताजी का अन्त्येष्टि संस्कार विधिपूर्वक हुआ। मेरे डी०ए०वी० स्कूल में हिन्दी अध्यापक श्री व्रतपाल शास्त्री के पूज्य पिताजी श्री राम स्वरूप जी वानप्रस्थी ने संस्कार विधि से समस्त

क्रिया-कर्म सम्पन्न कराया। एक सौ इक्कीस मन्त्रों से घृत और सामग्री की आहुतियाँ दी गईं। मैं और मेरे तीन तिहेरे-भाइयों की आहुतियाँ मिला कर ४८४ आहुतियाँ पड़ीं। प्रचुर मात्रा में चन्दन और अगर, तगर, कपूर, गुग्गल तथा देशी घी का प्रयोग किया गया। महर्षि दयानन्द द्वारा प्रणीत अन्त्येष्टि संस्कार की महिमा और गरिमा को मैंने पहली बार प्रत्यक्ष समझा। मेरे एक बड़े भाई सा० ने वहाँ घोषणा कर दी कि मृतक की स्मृति में टिन शेड युक्त एक वेदी बनवाई जावेगी। कुछ वर्षों बाद इस घोषणा का मैंने ही पालन कर दिया। घर पर भी शुद्धि हवन के अतिरिक्त और कुछ मैंने नहीं होने दिया।

पिताजी की मृत्यु के पश्चात मेरे सामने समस्या थी, घर संभालने तथा स्थायी आजीविका की। डी०ए०वी० स्कूल में मेरी नौकरी अस्थायी और तदर्थ रूप में थी। चूँकि मैं ट्रेन्ड टीचर की श्रेणी में नहीं आता था, अतः कुल मिला कर ८५/- प्रति मास मिलते थे। ट्रेन्ड टीचर के वेतनमान के लिये मेरा B.T. या L.T. होना ज़रूरी था। उस समय बरेली में B.T या L.T. की सुविधा नहीं थी, अतः मैंने १९५५ मुरादाबाद में के०जी०के० कॉलेज से L.T. करने की सोची। इस हेतु दाख़िले का फ़ार्म भरने मैं मुरादाबाद गया। वापसी भी उसी दिन थी। वापसी का टिकट मैं ख़रीद चुका था, किन्तु अभी मैं रेल्वे के पुल पर ही था, कि गाड़ी ने सीटी देकर खिसकना शुरू कर दिया। भाग कर मैंने डिब्बे का हैन्डल पकड़ा, परन्तु दरवाज़े पर भीड़ ने मुझे असन्तुलित कर दिया और मैं प्लेटफ़ार्म के नीचे पटरी और प्लेटफ़ार्म के बीच में जो जगह होती है, उस में जा गिरा। गाड़ी के रुकते-रुकते भी कई डिब्बे निकल गये। पटरी पर पहिये क्या दौड़ रहे थे, मानो सामने मौत नाच रही थी। किसी भी क्षण किसी भी बोगी का कोई भी भाग मुझे हताहत कर मृत्यु का ग्रास बना सकता था। पर सर्वरक्षक परमात्मा ने अपना चमत्कार मुझे दिखाना था, सो दिखा दिया। ईश्वर-सिद्धि के अनेक प्रमाणों में से एक प्रत्यक्ष प्रमाण मैं स्वयं हूँ। मैं गिरा तो असावधानी की स्थिति में था, पर उस अदृश्य सर्वशक्तिमान शक्ति ने मुझे कुछ ऐसी सिकुड़ी अवस्था में बांयी करवट गिराया जिससे मेरी पीठ प्लेटफ़ार्म की दीवार से लगी थी। हाथ पैर ऐसी सिकुड़ी स्थिति में थे, जैसे बच्चा माँ के गर्भ में होता है। सिर मेरा नीचे धरती से लगा था। गाड़ी जब रुकी, तो

मुझे लगा कि माँ के आशीर्वाद और ईश्वर की कृपा से मैं बच गया। ऊपर प्लेटफ़ार्म पर देखने वालों की भीड़ थी, पर निकालने वाला कोई न था। अंतत उसी परमात्मा ने मुझे शक्ति दी। मैं खड़ा हुआ, तब लोगों ने बांह पकड़ कर निकाला। रगड़ से पहने हुए कपड़े सब फट गये थे, पर मैं सही सलामत और ज़िन्दा था, यह आश्चर्य सब की आँखों में था। मुरादाबाद रेल्वे में मेरे फूफा जी थे। उनके यहाँ उस दिन रह कर अगले दिन बरेली आया। सुकड़े गिरने के कारण मुझे पसलीयों में दर्द तथा सांस लेने में काफ़ी दिनों तक कठिनाई रही। पर धीरे-धीरे मैं बिलकुल ठीक हो गया।

इस घटना के पश्चात मुरादाबाद में एल०टी० करने का निश्चय स्थगित हो गया। दिल्ली जाकर नौकरीयों के लिये कुछ परीक्षायें तथा साक्षात्कार दिये। अंततः भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI) में सहायक के पद पर १५ नवम्बर १९५६ से लग गया। इसी संस्था में कार्य करते हुये मैंने पंजाब विश्व-विद्यालय से पत्रकारिता का डिप्लोमा कोर्स (J.D.) १९५८ में प्रथम श्रेणी में द्वितीय स्थान लेकर पास किया। १९६१ में मैंने बैकिंग और औद्योगिक वित्त से सम्बन्धित CAIIB परीक्षायें काफ़ी ऊंचा स्थान लेकर पास कर लीं। आई०एफ० सी०आई० (I.F.C.I.) में निरन्तर उन्नति करते-करते मैं ३१ जुलाई १९९१ को महाप्रबन्धक के पद से लगभग ३५ वर्ष बाद सेवा निवृत्त हुआ। फ़र्वरी १९९२ से नवम्बर १९९५ तक इसी संस्था द्वारा प्रायोजित श्रम विकास संस्थान (भारत) (I.L.D-I) का मैं प्रथम संस्थापक-कार्यपालक निदेशक, जयपुर में रहा।

दिल्ली में जब मैं आया-आया ही था, तो लगभग प्रथम पाँच वर्ष तक मैं विनयनगर (वर्तमान सरोजनीनगर) में रहा। यहाँ आर्य समाज के सत्संग श्री रोशनलाल जी गुप्ता के क्वार्टर के आगे लान में लगते थे। यहीं मुझे श्री पं० देवव्रत धर्मेन्दु तथा श्री पं० सुरेन्द्र शर्मा गौर, क़बूलनगर दिल्ली शहादरा के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। धर्मेन्दु जी की व्याख्यान शैली तथा पं० सुरेन्द्र शर्मा गौर के संस्कारों के कराने की रोचक शैली से मैं बहुत प्रभावित था। मेरा स्वयं का विवाह संस्कार और मेरे पुत्रों के अधिकांश बाल्यावस्था में होने वाले संस्कार मेरे अनुरोध पर श्री पं० सुरेन्द्र शर्मा गौर ने ही कराये।

विषयान्तर ही सही, किन्तु लिखना ज़रूरी समझता हूँ। मेरी

बहिन का विवाह पिताजी ने अपने जीवन काल में कर दिया था। वे चाहते थे कि मेरा विवाह भी उनके जीवन काल में हो जावे। किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती के वे शब्द जो उन्होंने पं० लेखराम को १८८१ ई० में कहे थे कि "२५ वर्ष से पूर्व विवाह न करना" मेरे अन्दर बैठ गये थे। पिताजी की मृत्यु, जब मैं मात्र २२ वर्ष का था, तब ही हो गई थी। मेरा विवाह, जब मैं २६ वर्ष से अधिक का हो चुका था, वसंत पंचमी १२ फ़र्वरी १९५९ को आर्य समाज, भूड़ बरेली के निष्ठावान सभासद स्व० श्री यमुना सहाय मुख्त्यार की भतीजी कु० विनोद जौहरी (सुपुत्री श्री रघुवीर सहाय जौहरी, प्रधानाचार्य सी०डी० इन्टर कॉलेज, हल्दौर, एवं श्रीमती पुष्पा जौहरी प्रधानाचार्या आदर्श विद्यापीठ मूड़, बरेली) से हुआ। आप एम०ए० (हिन्दी) तथा बी० एड० थीं। विवाहोपरान्त आपने हिन्दी में पी०एच०डी० (डाक्ट्रेट) तथा मेरे अनुरोध पर एम०ए० (संस्कृत) से किया। आप २६ जून १९६५ से संस्कृत शिक्षक के रूप में दिल्ली के शिक्षा विभाग में लगीं। १९७४ में आपकी पदोन्नति संस्कृत पी०जी०टी० के रूप में हुई। ३१ अक्तूबर २००० को ३५ वर्ष की सेवा उपरान्त उप-प्रधानाचार्या के पद से आप सेवा-निवृत्त हुई। आप संस्कृत भाषा के लिये एक समर्पित व्यक्तित्व हैं; इसी उपलक्ष में आपने कई सम्मान प्राप्त किये हैं। गृहस्थ जीवन में हमारे ४ पुत्र हुये। आप उनको इन्जीनियर और डॉक्टर देखना चाहती थीं। तदनुसार बड़े पुत्र मैरीन इन्जीनियर बने। अब उनका गुड़गांव में स्वयं का लघु उद्योग है। दूसरे A.M.E. कर फ़्लाइट इन्जीनियर बने। अब उनका न्यू जरसी (अमेरिका) में कम्प्यूटर ट्रेनिंग और प्लेसमेन्ट का व्यवसाय है। शेष दो डॉक्टर (चिकित्सक) हैं। एक ब्लूमिंगटन (शिकागो के निकट) अमेरिका में बाल-रोग विशेषज्ञ हैं। दूसरे मास्को (रूस) में दवाओं के व्यवसाय में हैं। ईश्वर की कृपा से चारों ही पुत्र अपने निजी पुरुषार्थ से पढ़े, बढ़े और अपने-अपने व्यवसाय में सुव्यवस्थित हुये। इन के विवाह भी जाति के आधार पर नहीं, किन्तु गुण, कर्म स्वभाव के आधार पर हुये। बड़ी पुत्रवधू श्रीमती पूनम सक्सेना मथुरा के आर्य परिवार से हैं। इनके पिता स्व० श्री बृज नाथ एडवोकेट वर्षों आर्य समाज के प्रधान रहे। सम्प्रति यह चिरंजीव भारती पब्लिक स्कूल, पालम विहार, गुड़गांव में बॉयोलॉजी पी०जी०टी० हैं। दूसरी

पुत्र वधू आशा सक्सेना, पंजाबी खन्ना परिवार से हैं, और फ़्यूचर टेक्नालॉजीज़ इन्कारपोरेटिड, न्युजरसी (यू०एस०ए०) की अध्यक्षा हैं। तीसरी पुत्रवधू सीमा सक्सेना शिकागो यूनीवर्सिटी से प्रबन्धन में स्नातकोत्तर हैं। चौथी पुत्र वधू याना एक रूसी परिवार से है, और चिकित्सा विज्ञान की छात्रा रही हैं। प्रत्येक की दो-दो सन्तानें हैं। वैदिक जीवन पद्धति को अपनाने और वेद-ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने में पुत्रों से अधिक मुझे अपने पौत्रों से बड़ी आशायें भविष्य में हैं।

विनयनगर जब हमने छोड़ा, उस समय तक हमारे दो पुत्र हो चुके थे। विनयनगर से हम मोतीनगर लगभग दो वर्ष रहे और उसके उपरान्त १९६९ में ईस्ट ऑफ कैलाश में अपना फ़्लैट मिलने तक हम रमेशनगर रहे। यह लगभग आठ साल की अवधि मेरे लिये परमात्मा की अभूतपूर्व देन साबित हुई। सत्य को जानने और समझने की जिज्ञासा ने मुझे स्वामी दयानन्द के क़रीब ला दिया था पर उनके वेदभाष्य को भी पढ़ करके वेद मेरे लिये अरूचिकर ही रहे। वेद को जानने और समझने के लिये मेरा सौभाग्य, कि मुझे राजौरी गार्डन स्थित वेद संस्थान के सर्वस्व स्वामी विद्यानन्द जी 'विदेह' मिल गये। स्वामी दयानन्द को तो शायद किसी पूर्व जन्म में देखा वा सुना हो, इस जन्म में तो उनको उनके ग्रन्थों को पढ़ कर और आर्यसमाज के उत्सवों और सत्सगों में सुन कर ही जाना; पर स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' को इसी जीवन में देखा भी, सुना भी, बहुत कुछ सीखा भी और उन्हीं की सद् प्रेरणा से 'योग' तथा 'वेद' की पावन गंगा में हम पति-पत्नी दोनों डुबकी लगा बैठे। शायद १९६३ ई० में वेद संस्थान के श्रावण वेद सत्र में मैंने पहली बार स्वामी जी का वेदोपदेश सुना। मेरा सौभाग्य, कि वह सत्र पूरे एक माह प्रातः सायं चला। सत्र के पश्चात् भी तीन सप्ताह तक स्वामी जी, चूँकि वेद संस्थान में रहे, अतः प्रतिदिन वेदोपदेश होते रहे। फिर तो स्वामी जी को सुनना, वेद संस्थान में, तथा दिल्ली में जहाँ भी कार्यक्रम हों, कम-से-कम मेरा तो शौक़ बन गया। जिस वेद मन्त्र पर वे बोलते, उसका पूरा पता पहले देते थे, मैं वह तथा उनका व्याख्यान नोट कर लेता था। फिर उसी मंत्र का अध्ययन मैं अन्य वेदभाष्यों में करता। स्वामी जी की व्याख्या की जो विधा तथा शैली थी, उससे मुझे वेदों में रस आने

लगा। वेद मेरे लिये अब न मुश्किल थे, न अरूचिकर। मेरे जैसे असंख्य साधारण व्यक्तियों को वेद की ओर प्रेरित करने में श्री स्वामी जी का यह अप्रतिम उद्घोष था कि वेद संसार की सरलतम पुस्तक है। और यह मात्र उद्घोष नहीं था; स्वामी जी अपने प्रवचनों में वेद-मंत्रों के अर्थ और व्याख्या से उन (वेद-मंत्रों) की सरसता, सरलता और जीवन के लिए उनकी उपयोगिता का साक्षात् दर्शन करा देते थे। प्रत्येक मंत्र की व्याख्या उन ससीम के उस असीम से युक्त होकर गहन चिन्तन, मनन, अनुभूति और अन्तर्बोध से प्रेरित होती थी। बच्चा, बूढ़ा, किसान, मजदूर, विद्वान् और निरक्षर, धनी और निर्धन, योगी और रोगी, सबको अपने हित की बातें उनकी मंत्र-व्याख्या में मिल जाती थीं।

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' जी की पुस्तकों को पढ़ कर, उनको देख, सुन कर ही मैंने मन-ही-मन यह संकल्प लिया था कि स्वामी जी से दीक्षित होकर इसी प्रकार देश और विदेशों में मैं वेद-प्रचार करूंगा। "विदेह" जी कहा करते थे कि कोई भी पुस्तक मनुष्य का धर्म नहीं हो सकती। मनुष्य का धर्म मनुष्यता/मानवता के अतिरिक्त और कुछ नहीं। पुस्तक से केवल ज्ञान या विद्या प्राप्त की जा सकती है। धर्म का सम्बन्ध आचरण से है। वे प्रायः स्वामी दयानन्द के ही शब्दों को दोहराते हुये कहते थे कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, पर धर्म है, वेद का पढ़ना और समझ कर पढ़ाना; वेद का सुनना और समझ कर सुनाना। और परम धर्म है वेदानुसार जीवन में आचरण करना। स्वामी जी के अनुसार वेद में ईश्वर प्रदत्त वे समस्त सत्य विद्यायें हैं, जिनको जान व समझ कर मनुष्य जीवन की उच्चतम ऊचाइयों पर पहुँच सकता है और परम आनन्द और शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर सकता है, स्वामी जी इसी लिए वेदों को "जीवन-ग्रन्थ" कहा करते थे। कर्तव्यों के पालन करने का दायित्व हर व्यक्ति का अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने समाज के प्रति, अपने राष्ट्र के प्रति और अपना वसुन्धरा (भू-मण्डल) के प्रति बनता है; वेद के प्रत्येक मन्त्र में इनसे संबद्ध शिक्षाओं का प्रकाश, स्तुति या प्रार्थना के रूप में, किया गया है। भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए सृष्टि से तृण पर्यन्त ज्ञान-विज्ञान, जीवन-यापन और सर्वांगीण उन्नति

के लिए कर्म-विधान और आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए उपासना द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार की विद्या, ये ही वेदों के विषय हैं और इनमें ही वेदार्थ की कुञ्जी है। स्वामी ''विदेह'' का कथन था कि ''**वेदों की महिमा वेदों के 'वैदिक' अर्थों से प्रकाशित होगी, रूढ़ और पण्डिताऊ अर्थों से नहीं।** और वेदों का वैदिक अर्थ प्रकाशित होगा अन्तस्साधना द्वारा वेदमय होकर वेदों में पैठने से।''

५ मार्च १९७८ को पूज्य स्वामी विद्यानन्द जी 'विदेह', सहारनपुर में अपना वेद-प्रवचन समाप्त कर मंच पर ही ''मे प्राणः ओ३म् भू'' कहते हुये प्रभु से जा मिले, पर मुझे जो दिशा तथा प्रकाश उनसे मिला था, तथा अपने संकल्प की पूर्ति हेतु मैं नवम्बर १९९५ में पूर्ण सेवा निवृत्ति के पश्चात संलग्न हो गया।

वाणी के द्वारा वेद प्रचार स्थानीय आर्य समाजों में 'विदेह' जी के समय में ही करने लगा था; सोचा लेखन के द्वारा भी 'विदेह' जी के कार्य को आगे बढ़ाना चाहिये। लिखने का मुझे अभ्यास था। आरम्भ में मेरे कुछ लेख 'आर्यमित्र'* लखनऊ में छपे थे, जब श्री भारतेन्द्र नाथ जी (बाद में महात्मा वेद भिक्षुः) उसके सम्पादक थे। फिर पूरी सर्विस फ़ाइनेन्स और मैनेजमेन्ट सम्बन्धी विषयों पर जब तब अपने वरिष्ठ अधिकारियों के लिये लिखता रहा। अब वेद पर लेखनी उठानी थी, इसलिये आत्म-अवस्थित होकर वेद में पैठना ज़रूरी था। स्वामी दयानन्द का कार्य और 'विदेहजी' का आशीर्वाद मेरे साथ था। डॉक्टर अभय देव जी, वर्तमान अध्यक्ष वेद संस्थान, का भी आग्रह शुरू-शुरू में था। अन्तर्यामी प्रभु ने जो-जो सुझाया, वही कागज़ों पर उतारता रहा। आभारी हूँ ''आर्य जगत'' (साप्ताहिक) के भूतपूर्व सम्पादक श्री अशोक कौशिक जी का, जिन्होंने मेरे लेखों को ''आर्य जगत'' में महत्वपूर्ण स्थान दिया। श्री कौशिक जी की सहृदयता और सांमनस्यता मुझे सदैव स्मरणीय रहेगी। उन्होंने ही मुझे आर्य जगत में लेखक के रूप में एक पहचान दी। १९९६ से

---

* १. पत्थर का भगवान मर गया....(कहानी) आर्यमित्र ६ जून १९५५.
२. सभ्यता और संस्कृति— आर्यमित्र २६ जून १९५५.
३. छात्रों में अनुशासनहीनता के कारण— गुरुकुल प्रणाली एक मात्र हल आर्यमित्र ४ सितम्बर १९५५.

१९९८ ई० तक "आर्य जगत" में जो लेख छपते रहे, उन्हीं का संकलन है—यह "वेद स्वाध्याय प्रदीपिका"।

परमेश्वर की कृपा का भरपूर आस्वादन मैंने अपने जीवन में किया है। प्रसंग तो बहुत हैं, परन्तु कुछेक का वर्णन यदि न करूँ, और प्रभु का धन्यवाद न करूँ तो यह सरासर कृतघ्नता होगी। ईस्ट ऑफ़ कैलाश आने पर कई समस्याओं खड़ी हो गईं थी। अपने निकटतम पड़ोसी श्री धर्मपाल सरीन (अब स्वर्गीय) के साथ उन्हीं के स्कूटर पर पीछे बैठा जा रहा था। हम दोनों को डी०डी०ए० कार्यालय जाना था। रिंग रोड पर एकाएक म्युनिसिपैलिटी का कचरे से भरा ट्रक बायीं ओर की निचली सतह से मेन सड़क पर आ गया, जिससे स्कूटर बुरी तरह टकरा गया। वे स्कूटर में फंसे गिरे और मैं कुछ दूर पर गिरा। प्रभु ने मुझे फिर बचा दिया। मैं तो गिर कर पुनः खड़ा हो गया, जबकि उन की सीधी टाँग बुरी तरह से हताहत व फ्रेक्चर हो गई थी। मैंने ही किसी प्रकार पीछे आती कारों से प्रार्थना की, कि उनको हस्पताल पहुँचा दें, परन्तु कोई तैयार नहीं हुआ। अंततः प्रभु ने एक ऐसे सहृदय कार वाले सज्जन को भेज दिया, जिन्होंने कार रोकी, सरीन जी को निकालकर हम दोनों ने कार में रखा, मैंने टांग संभाली और उन्होंने सफ़दरजंग अस्पताल पहुँचाया। उन्हीं सज्जन ने मुझ से पते लेकर वापस ईस्ट ऑफ़ कैलाश हमारे घरों को इत्तला दी, क्योंकि फ़ोन उस समय किसी के घर में न थे। कालोनी नई आबाद हुई थी। मैं हड़बड़ाहट में उनका नाम पता भी नहीं पूछ पाया। सरीन जी को तुरन्त चिकित्सा मिल गई और वे उस समय बच गये, यद्यपि कुछ माह प्लास्टर टांग पर रहा। ईश्वर कैसे-कैसे और किन-किन उपायों से मदद करता है, यह उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। मेरे पास शब्द नहीं, सिवाय इसके कि मैं बारम्बार उस प्रभु का धन्यवाद और नमन करूँ।

और यह घटना अगस्त २००० की है। आर्य प्रतिनिधि सभा, आन्ध्र प्रदेश के निमन्त्रण पर मैं निज़ामाबाद ज़िले के बिचकुण्डा नामक स्थान में वेद प्रचार के लिये गया था। प्रातः सायं यज्ञ तथा वेदोपदेश मेरे द्वारा हो रहे थे। १४ अगस्त को कार्यक्रम का समापन था। १३ की रात्रि को मेरा प्रवचन चल रहा था, कि आर्य समाज के

प्रधान डॉ० गंगाधर जी गोजे ने प्रोग्राम को रुकवा कर कहा 'कि आप की तबियत ठीक नहीं है, हम आपको डेगलूर नर्सिंग होम में ले चलते हैं। उन्होंने कैसे मेरे अन्दर का हाल जान लिया यह तो ईश्वर ही जानता है। मैंने कोई तक़लीफ़ व्यक्त नहीं की थी। वहाँ ग्लूकोज़ की बोतलें चढ़ती रहीं। अगले दिन सी०टी० स्कैन के लिये हैदराबाद आये। सी०सी० शराफ़ हस्पताल में भरती करा दिया गया। सी०टी० स्कैन की रिपोर्ट जब मिली, तब पता लगा कि ब्रेन में दायीं आधारीय गैंगलिया में रक्तस्राव हो गया था। यहाँ भी परमेश्वर ने मुझे बचा लिया। शरीर का कोई भी भाग प्रभावित नहीं हुआ। न मुझे किसी प्रकार की तकलीफ़ महसूस हुई। डॉ० गोजे के पूरे परिवार तथा आर्यसमाज बिचकुण्डा के सभासद एवं आन्ध्रप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के सभी व्यक्तियों ने बड़ी आत्मीयता से मेरी सेवा की, जिससे उऋण होना मुश्किल है। परमात्मा उन सब को सुखी रखे, यही बारम्बार दुआ करता हूँ।

इस के पश्चात मेरे मन में तीव्र वैराग्य भावना का उदय हुआ। मेरे हृदय में यह बात बैठ गई कि जिस परमात्मा ने मुझे जन्म से अब तक इतनी बार जीवन-दान दिया है, उसके प्रति भी मेरा कुछ कर्त्तव्य बनता है। अत: संन्यस्थ होकर शेष जीवन ईश्वर और वेद के कार्य को समर्पित करने का निश्चय किया। यह भी कार्य १३ मई २००१ ज्येष्ठ कृ० ६ सं० २०५८ को उदयपुर में श्रीमद् दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश न्यास और स्वामी तत्त्वबोध जी सरस्वती तथा स्वामी संकल्पानन्द जी सरस्वती के संरक्षण में हो गया। 'विदेह' जी के स्थान पर श्री स्वामी निर्मलानन्द जी 'विदेह' ने स्वयं उपस्थित होकर कृतार्थ किया। श्री आचार्य वेद प्रकाश 'श्रोत्रिय' वेद विज्ञान अनुसन्धाता व दर्शन प्रवक्ता ने उसका पौरोहित्य ग्रहण कर संस्कार में चार चान्द लगा दिये। इस कार्य में न्यास के बहुत से लोगों का सहयोग रहा, उन सभी का मैं हृदय से आभारी हूँ।

मैंने सारे जीवन-काल में 'विद्यार्थी' रूप में पुरानी तथा नई पीढ़ी के आर्य विद्वानों, सन्यासियों, महात्माओं से बहुत कुछ पढ़-सुनकर ही ग्रहण किया है। विस्तार भय से सब के नाम न लिख कर सब के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

स्वामी विद्यानन्द जी 'विदेह' का जौहर गान ही अब मेरी एकमात्र कामना और लक्ष्य है। उसकी **कुछ** पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"हमें वरणीय-वर जगदीश, वर-वर दे, यही वर दे।
प्रभो! वैदिक मिशन के, मिशनरी सच्चे हमें कर दे॥
फिरें देशों विदेशों में, ऋचायें वेद की गाते।
हमारे हृदयों में ऐसी, श्रद्धा वेद की भर दे॥
बनायें आर्य सारे विश्व, को, वेदानुयायी हम।
हमें वह जातवेदस, सत्य का प्रकाश प्रखर दे॥
जियें तो धर्म सेवा में, मरें तो धर्म रक्षा में।
हमें ऐसा जिगर दे, और ऐसा ही हमें सर दे॥
रहे 'विदेह' अन्तर कुछ, न करनी और कथनी में।
हमारी वाणीयों में ऐसा ओज दे, तासीर दे, स्वर दे॥"

अंत में मेरा तो उस परमेश प्रभु से स्व० श्री सत्यकाम विद्यालंकार जी के शब्दों में यही निवेदन है—

"मन के संशय छोड़ के सारे,
जग के बंधन तोड़ के सारे,
आया तेरे द्वार, प्रभु जी आया तेरे द्वार।
यह सब कुछ तेरा ही धन है,
वन्दन ही मेरा जीवन है,
अर्पण है तेरे चरणों में, मेरा प्रेम उपहार। प्रभु जी०
और सभी स्वार्थ के संगी,
तू ही केवल सच्चा साथी,
मेरी झोली एक है दाता, तेरे हाथ हज़ार। प्रभु जी०"

आर्य वानप्रस्थाश्रम
आर्यसमाज,
बी-६९, सेक्टर-३३,
नोएडा-२०१३०१

विदुषामनुचरः
म० गोपाल स्वामी सरस्वती

समर्पण



महर्षि दयानन्द की ज्योति से ज्योतिर्मय
पूज्यपाद स्वामी विद्यानन्द जी 'विदेह'
(१८९९-१९७८)
की पावन पुण्य स्मृति में
श्रद्धापूर्वक समर्पित

—म० गोपाल स्वामी सरस्वती

वेद स्वाध्याय प्रदीपिका

(खण्ड १)

विषयानुक्रमणी

विषयानुक्रमणी (जारी)

अकारादि क्रम से व्याख्यात मन्त्रों की सूची

क्रम सं०	मन्त्र	क्रम	वेद का नाम तथा मन्त्र का पता	पृष्ठ
१.	अयमुष्य सुमहाँ अवेदि	१	ऋग्वेद ७।८।२	३१
२.	अयमस्मि जरितः पश्य	३१	ऋग्वेद ८।१००।४	२८७
३.	अस्य देवस्य संसद	२२	ऋग्वेद ७।४।३	२०८
४.	उदत्तमं वरुण पाशम्	२९	ऋग्वेद १।२४।१५ यजुर्वेद १२।१२ सामवेद ५८९ अथर्ववेद ७।८३।३	२६७
५.	एता विश्वा सवना	८	अथर्ववेद १८।४।६९	९३
६.	एधोऽस्ये धिषीमहि	२	यजुर्वेद २०।२३	३९
७.	गर्भे योषाम दधुर्वत्स	१३	ऋग्वेद १०।५३।११	१३५
८.	जातो जायते सुदिनत्वे	१२	ऋग्वेद ३।८।५	१२७
९.	ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो	२४	अथर्ववेद ३।३०।५	२२५
१०.	तृदिला अतृदिलासो	१७	ऋग्वेद १०।९४।११	१६९
११.	त्र्यम्बकं यजामहे	६	ऋग्वेद ७।५९।१२	७३
१२.	दोषो आगाद् वृहद्गाय	५	सामवेद १७७	६५
१३.	दृते दृंह मा मित्रस्य	७	यजुर्वेद ३६।१८	८३
१४.	नाकस्य पृष्ठे अधि	२८	ऋग्वेद १।१२५।५	२६१
१५.	न्यू३षु वाचं प्र महे	२६	ऋग्वेद १।५३।१	२४३
१६.	प्रेह्यमीहि धृष्णुहि	२५	ऋग्वेद १।८०।३	२३५
१७.	भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता....	२१	ऋग्वेद १०।८।६; यजु० १३।१५, १५।२३	२००

अकारादि क्रम से व्याख्यात मन्त्रों की सूची (जारी)

॥ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः॥ *

ओ३म्। शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः शन्नो॑ भवत्वर्य्य॒मा। शन्न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॑ः शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः। नमो॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑स्ते वायो॒ त्वमे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मा॑सि। त्वमे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्म॑ वदिष्यामि ऋ॒तं व॑दिष्यामि स॒त्यं व॑दिष्यामि॒ तन्माम॑वतु तद्व॒क्तार॑मवतु। अव॑तु माम्। अवतु व॒क्तार॑म्॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

—तैत्तिरीयारण्यकोपनिषद् १

हे (**ओ३म्**) विराट्, हिरण्यगर्भ आदित्यरूप परमेश्वर!

आप (**नः**) हमारे (**मित्र**) हितैषी (**वरुण**) सर्वश्रेष्ठ (**अर्यमा**) न्यायाधीश, (**इन्द्र**) ऐश्वर्य प्रदाता (**बृहस्पति**) वेद ज्ञान के अधिपति (**विष्णु**) सर्वव्यापक, सर्वाधार (**उरुक्रमः**) महान् पराक्रमी, सृष्टि के जनिता और विधाता हो। सो आप हमारे लिये कल्याणकारी सुख और शान्ति प्रदाता हूजिए।

हे परमब्रह्म, प्राणों के प्राण परमेश्वर! आपको हमारा बारम्बार नमस्कार हो।

हे प्रभो! आप ही अन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको मैं (**प्रत्यक्ष**) प्रत्यक्ष ब्रह्म ही (**वदिष्यामि**) कहूँगा। (**ऋतं**) सही और (**सत्यं**) सच ही कहूँगा। (**तत् वक्तारम् अवतु**) आप उन सब वक्ताओं की रक्षा करें, जिनको सुनकर मैंने यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया है। पुनः निवेदन है कि आप (**अवतु माम् अवतु वक्तारम्**) मेरे और मेरे उन समस्त महापुरुषों की अवश्य रक्षा करें, जिनके उपदेशामृत का पान मैंने किया है।

हे सुखस्वरूप परमेश्वर! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से निवृत्ति और परमशान्ति प्रत्येक क्षेत्र में मुझ को प्राप्त हो।

---

* यह महर्षि दयानन्द सरस्वती के हस्तलेख की प्रतिकृति है।

१

सुमहान् कौन ?

अयमु ष्य सुमहाँ अवेदि होता मन्द्रो मनुषो यह्वो अग्निः।
वि भा अकः ससृजानः पृथिव्यां कृष्णपविरोषधीभिर्ववक्षे ॥

—ऋग्वेद ७।८।२

ऋषिः—वसिष्ठ। देवताः—अग्नि। छन्दः—त्रिष्टुप्।

पदपाठ—अयम्। उ। स्यः। सु–महान्। अवेदि। होता। मन्द्रः। मनुषः। यह्वः। अग्निः। वि। भाः। अकः। ससृजानः। पृथिव्यम्। कृष्ण–पविः। ओषधीभिः। ववक्षे ॥

स्यः उ सुमहान् अवेदि — वह ही सुमहान जाना जाता है—
अयम् होता, मन्द्रः — यह जो (है) होता, मन्द्रः,
मनुषः, यह्वः, अग्निः — मनुषः, यह्वः, अग्निः।
वि ससृजानः पृथिव्याम् भाः अकः — (जिसने) विविध (रचनात्मक साधनायें करते हुये) पृथिवी पर प्रकाश संसृजित कर दिया,
कृष्ण–पविः, ओषधीभिः ववक्षे — (जो) कृष्ण–पविः (है), (तथा) ओषधियों से धारित [धरा को रोग–रहित] किया करता है ॥

महानता की दृष्टि से उस महानतम् परम–पुरुष परमेश्वर से बढ़ कर कोई नहीं, परन्तु चूँकि मन्त्र में 'मनुषः' शब्द आया हुआ है,

और निराकार, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि परमेश्वर 'मनुषः' हो ही नहीं सकता, अतः मन्त्र केवल देहधारी मनुष्यों के लिये है, जिनके अन्तर में 'आत्मा-रुपी' अग्निः व्याप्त है। किन गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर मनुष्य महान ही नहीं, सुमहान होता है, और किस प्रकार मनुष्य को अपनी महानता का सदुपयोग करना चाहिये यही ऋग्वेद के सातवें मण्डल के इस ससर्च आठवें सूक्त का विषय है।

अंग्रेजी में एक उक्ति है, जिस का भाव है, कि कुछ पैदा ही बड़े होते हैं, कुछ बड़े बन जाते हैं और कुछों पर बड़प्पन थोप दिया जाता है। अंग्रेजी में 'बड़े' और 'महान' के लिये एक ही शब्द है 'ग्रेट'। अंग्रेजीदां इस उक्ति को महानता के संदर्भ में व्यक्त करते हैं, पर वेद की दृष्टि में यह उक्ति सर्वथा ग़लत और निस्सार है। पहली बात यह कि वेद की दृष्टि में न कोई छोटा है, और न कोई बड़ा। (**अ॒ज्ये॒ष्ठासो॒ अकनिष्ठास ए॒ते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय**— ऋग्० ५।६०।५)। और दूसरी बात यह, कि धन-ऐश्वर्य से 'बड़ा' होना और बात है, और 'महान्' होना नितान्त भिन्न बात है। महानता, और वह भी सुमहानता का मनुष्य की धन, सम्पत्ति और वैभव से दूर का भी सम्बन्ध नहीं।

वेद-मन्त्र में मन्त्र-द्रष्टा ऋषि वसिष्ठ ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है (**स्यः उ सुमहान् अवेदि**) वह ही सुमहान जाना जाता है, जिसमें मन्त्र में वर्णित गुण कर्म स्वभाव हों। यहाँ '**अवेदि**' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महत्व यह, कि मात्र किसी की घोषणा, कि वह 'सु-महान' है, कोई मायने नहीं रखती। अन्य लोग जब उसको सुमहान समझें और जानें, तब वह सुमहान जाना जायेगा। सुमहानता अपनी दृष्टि में नहीं, औरों की दृष्टि में आकलन किया जाने वाला गुण है। अन्यों की दृष्टि में मनुष्य कब सुमहान् जाना जाता है, जब यह सिद्ध हो जाय कि वह (**अयम् होता, मन्द्रः, मनुषः, यह्वः, अग्निः**) यह 'होता', 'मन्द्रः' 'मनुषः', 'यह्वः', और 'अग्निः' है। इन पाँचों गुणों के प्रकटीकरण में सु-महानता स्थित है। कहा भी है—"**पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश**" (यजुः० २३।५२) पाँच के भीतर पुरुष (की महानता) प्रविष्ट है। आइये, इन पर थोड़ा विचार करें।

सुमहानता का प्रथम लक्षण बताया '**होता**'। वेद में होता को इस प्रकार परिभाषित किया है—"**अग्निष्टद्धोता क्रतुविद् विजानन् यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति।**" (ऋग्० १० । २ । ५) 'होता' अग्निष्ठ, क्रतुविद्, विजानन, यजिष्ठ, होता हुआ ऋतु (देश, काल, स्थिति) अनुसार देवों का यजन करता है। होता अग्निष्ठ अर्थात ब्रह्म में प्रविष्ट हुआ अग्नि=प्रकाश/ज्योति का प्रादुर्भाव करता है। वह क्रतुविद्, अर्थात, कर्म-कुशल कर्मयोगी होता है। प्रत्येक संस्था और प्रत्येक स्थान में 'होता' वह ख़ामोश कर्म-कुशल कार्यकर्त्ता है, जिसके होने से सब कुछ होता है, और न होने से कुछ नहीं होता। विजानन् से तात्पर्य है, विशिष्ट ज्ञान वाला 'ज्ञानी', जो परमात्मा को अतिशय प्रिय है। यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) में जिसकी अतिशय स्थिति हो, वह यजिष्ठ कहाता है। ऐसा प्रवीण पुरुष ऋत्वनुसार, युगानुसार, या यूं कहिये, समय की आवश्यकताओं के अनुरूप, देवों का, दिव्यताओं का यजन (सृजन, सत्कार, संगतिकरण) करता हुआ जब सर्वस्व समर्पित कर देता है, तब वह "होता"/सर्व-आहुतिकार के रूप में जाना जाता है। 'होता' केवल '**आह्वाता**' (आह्वान करने वाला) ही नहीं है, वह परमपिता परमेश्वर को '**आदाता**' (अंगीकार करने वाला) और समाज, राष्ट्र/विश्व के हितार्थ अपना सब कुछ दान करने वाला '**दाता**' भी है। यज्ञों में पूर्णाहुति '**सर्वं वै पूर्णं स्वाहा**', एक बार नहीं तीन बार, करने वाला 'होता' ही है, तभी वह 'सुमहान' जाना जाता है।

सुमहानता का दूसरा लक्षण है—'**मन्द्रः**' अर्थात आनन्दवृत्ति वाला होना। आनन्दवृत्ति उसी की हो सकती है, जो अपने नियत वा सौंपे गये कार्यों को करने में रस लेता है, तथा जो समत्व योग का पथिक है। जो कर्त्तव्य-पथ पर जय-पराजय, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान की परवाह किये बिना मुस्कान के साथ आगे ही आगे बढ़ता चला जाय, वह मन्द्रः है। प्रत्येक अवस्था में शान्त, सौम्य, गम्भीर, किन्तु पुष्प के समान खिले रहने की वृत्ति का नाम आनन्दवृत्ति है। जो स्वयं अन्दर से प्रसन्नवदन है, वही दूसरों को भी प्रसन्नता दे सकता है। जो स्वयं आनन्दित है, वही दूसरों को आनन्द प्रदान कर सकता है। और जो ऐसा करता है वही मन्द्रः है, वही सुक्रतु है, वही सुमहान है।

सुमहानता का तीसरा लक्षण है—'**मनुषः**' अर्थात मनुष्यता।

मानुषी आकृति वाले तो बहुत हैं, परन्तु मनुष्यता को तो खोजना पड़ता है। मानवता के गुणों से जो ओत-प्रोत हो, वह है, वेद की दृष्टि में '**मनुषः**' अर्थात् मननशील मानव। वेद में '**अमानुषः**' को 'अकर्मा', 'अमन्तु', 'अन्यव्रत' और 'दस्यु' कहा गया है। अर्थापत्ति (उनके उलट) से, 'मनुषः' के गुण होगें, 'सुकर्मा', 'सुमन्तु', 'अनन्यव्रत' और 'आर्य'। सुकर्मा ही सुक्रतु अर्थात कर्म-कुशल है। 'सुमन्तु' मननशील, सहनशील और मर्यादापालक है। 'अनन्यव्रती' अनन्य श्रद्धा, निष्ठा और ऋजुता से व्रतों का पालन करने वाला हैं। 'आर्य' श्रेष्ठ, संयमी, सच्चरित्र और व्यवहारकुशल है। इन सब को मिला कर बनता है 'मनुष्य'। मनुष्य का आराध्यदेव होता है एक— 'परमेश्वर', आस्था होती है एक—'मनुष्यता', धर्म होता है एक— 'परोपकार'। परोपकार ही है, वेद की भाषा में 'यज्ञ' (श्रेष्ठतम कर्म), और गीता की भाषा में 'निष्काम कर्म', वरना सारे कर्म जो स्व-हित के लिये किये जाते हैं, कितने भी शुभ और श्रेष्ठ क्यों न हों, सकाम कर्म ही होते हैं। सकाम कर्मों से एक व्यक्ति सुमानव तो हो सकता है, सुमहान नहीं। सुमहानता तो निष्काम कर्मयोगियों को ही मिलती है।

वेद की दृष्टि में एक सच्चे मनुषः में दो और विशेषतायें होती हैं, वे हैं नृत्य और हास्य। **प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम** (अथर्व० १२। २। २२) समष्टि सृष्टि में सुवीर मनुष्य नाचते, हँसते, मुस्कराते सुमहानता की ओर बढ़ते चले जाते हैं। नृत्य में गति है, ताल है, साधना है। हास में उल्लास है, प्रसन्नता है, आनन्द है (हास से यहाँ उपहास या परिहास से नहीं, निश्चल, निर्मल, मोहक तथा मृदु हास्य से तात्पर्य है) और जिनके जीवन में गति नहीं, सुर नहीं, ताल नहीं, जो हमेशा खिन्न, परेशान, उदास या रोते हुये दीखते हों, वे मनुष्य की आकृति वाले होकर भी मनुषः नहीं, और जो मनुषः नहीं, वह सुमहान तो होने से रहे।

सुमहानता का चौथा लक्षण है—'**यह्वः**' अर्थात महानता; क्षुद्रता, संकीर्णता, हेयता नहीं। महानता के चिन्ह हैं, पवित्र विचार और विशाल हृदय। इसी लिये ब्रह्म यज्ञ में '**ओं भूः पुनातु शिरसि**' और '**ओं महः पुनातु हृदये**' द्वारा साधक तदनुरूप प्रार्थना करता है। वस्तुतः महान वही है, जिसके विचार महान हों, दिल महान हो,

और कर्म महान हों। वेद का निम्न मन्त्र भी महानता के लक्षणों पर अच्छा प्रकाश डालता है—

स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शवः।
येन शुष्णं मायिनमायसो मदे दुध्र आभूषु रामयन्नि दामनि॥

—ऋग्० १.५६.३

(**सः महान्**) वह महान है, जो (**तुर्वणिः**) सद्य–सहायक (**अरेणु**) विकार–रहित (**पौंस्ये**) पुरुषार्थयुक्त, (**तुजा**) दुःखों का नाशक, (**शवः**) उत्तम बल से युक्त (**शुष्णाम्**) निःस्पृह, (**मायिनम्**) बुद्धिमान, (**आयसः**) विज्ञान से युक्त, (**आभूषु**) गुणों से सुभूषित है। (**न**) जैसे (**गिरेः**) पर्वतों के (**भृष्टिः**) ऊचे शिखर (**भ्राजते**) प्रकाशित होते हैं (**तम्**) उसी प्रकार (**मदे**) आनन्द में (**दामनि**) दमकता तथा (**नि रमयत्**) नितरां रमण कराता है। मानव की महानता के कितने अपूर्व लक्षण हैं यह। एक वाक्य में कहा जाय तो सुमहानता ऊचे उठने और मानवों को ऊचा उठाने में है। मानव–प्रजा के दुःखों को दूर करने और मानवता के पोषण में है।

सुमहानता का पाँचवा लक्षण है—‘**अग्निः**’ अर्थात अग्निस्वरूप परमेश्वर की ज्योति से ज्योतिर्मय अन्तरात्मा। सुमहान वह है जिसके अन्तःस्थल में आग है, प्रकाश है, ताप है, और विद्युत जैसा उत्साह है। जो स्वयं रोशन है, वही दूसरों को रोशनी दे सकता है। ‘**अग्निनाग्निः समिध्यते**’ (ऋग्० १।१२।६, साम० ८४४) अग्निः से अग्नि का वर्धन होता है, ज्योति से ज्योति प्रज्वलित होती है। ‘**एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध**’ (ऋग्० ८।५२।२) एक अकेला अग्नि बहुत प्रकार से प्रकाशित होता है। **अग्निर्वै अग्रणीर्भवति** अग्नि ही आगे ले जाने वाला है। **अग्नऽआयूंषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः** (यजुः० १९।३८) अग्नि आयुष्य को पवित्र करता है। हमें जीवनी शक्ति और इच्छा शक्ति प्रदान करता है। वस्तुतः, मनुष्य कार्यों में प्रवृत्त और महान लक्ष्यों के प्रति समर्पित जभी होता है, जब उसके अन्दर आग धधक रही हो, और यही धधक, यही उत्सर्ग, उत्क्रमण और उत्थान की भावना मनुष्य को सुमहान् बनाती है।

सुमहानता के लक्षणों अर्थात गुणों के पश्चात् उचित है कि ‘सु–महान’ के कर्म और स्वभाव को भी समझ कर आत्मसात किया

जाय। मन्त्र में आया (**वि ससृजानः पृथिव्याम् भाः अकः**)। आज तक इस धरा पर जितने भी महापुरुष हुये हैं, सभी ने अपने-अपने ढंग से रचनात्मक साधनाओं द्वारा सृजन करते हुये विविध रूपों में इस पृथिवी को प्रकाशित किया है। इसी लिये मन्त्र का भाव है, कि वह सुमहान है, जिसने विविध/नाना प्रकार की ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में सृजनात्मक साधनाओं द्वारा इस पृथिवी को चमकाया है, कान्तियुक्त किया है। सृष्टि के आदि से, ऋषियों से लेकर (जिन्होंने परमेश्वर की परम कल्याणी वाणी वेद ज्ञान को उजागर किया) आज तक मनीषियों, विचारकों, वैज्ञानिकों आदि द्वारा जो भी उपलब्धियाँ विभिन्न क्षेत्रों में हुई हैं, उस से पृथिवी का गौरव बढ़ा है। पृथिवीवासियों की समस्याओं का समाधान हुआ है। इस पर भी यदि कोई पृथिवी पर आज व्याप्त भ्रष्टाचार, अनैतिकता, लोलुपता, युद्ध-लिप्सा आतंक की ओर ध्यान दिलाना चाहे, तो कारण और उत्तर एक ही है—'महापुरुषों का अभाव'। इसी लिये युग-युग में जितने भी महापुरुष हुये हैं उनकी अप्रतिम देन को नकारा नहीं जा सकता, चाहे वह धर्म की संस्थापना और अधर्म से युद्ध के क्षेत्र में हो, न्याय की रक्षा और अन्याय के विरूद्ध संग्राम के क्षेत्र में हों, ज्ञान, भक्ति व उपासना के क्षेत्र में हो, अथवा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हो। वेद माता की कामना यही है कि हम पूर्ववर्त्ती सुमहान महामानवों के व्यक्तित्व और कर्तृत्व से प्रेरणा लेकर पृथिवी पर इस समय व्याप्त अन्धकार, अविद्या, अज्ञान, अभाव और अन्याय को हटा कर विद्या, ज्ञान, परिपूर्णता और न्याय को प्रतिष्ठित कर इसको पुनः चमका दें, जगमगा दें। **'प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व'** (यजुः० १५।६.) प्रतिधारणा, अर्थात, आत्म-निष्ठा से, पृथिवी पर, पृथिवीवासियों को अनुप्राणित करें। पृथिवी हमारा धर्मक्षेत्र है, पृथिवी ही हमारा कुरुक्षेत्र है। वेद में तो यहाँ तक कहा है **'द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या संभव'** (यजुः० ५।४३) द्यौ पर मत लिख, अन्तरिक्ष में मत उथल-पुथल कर, पृथिवी से संयुक्त हो। हमारा महान सौभाग्य इसी में है कि सु-महानों ने समय-समय पर जिस प्रकार पृथिवी को प्रकाशित किया है, उसी प्रकार सुकर्मों द्वारा हम भी ज्ञान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी को आगे बढ़ावें, वसुन्धरा को विविध रूप से प्रकाशित करें।

कैसे ? कैसे का उत्तर है मन्त्र में, **(कृष्ण पविः)** काली को उजाली में परिवर्तित करके। अन्धकार में प्रकाश करके। अन्धकार को कोसने के बजाय प्रकाश का एक दीप अथवा मोमबत्ती जलाकर। चन्द्रमा कृष्ण-पवि है। सूर्य अन्धकार का मूलोच्छेदन कर देता है, लेकिन अन्धकार जाता नहीं। सूर्यास्त होते ही फिर अन्धकार आ जाता है। किन्तु चन्द्रमा की अन्धकार से कोई लड़ाई नहीं। वह अन्धकार में ही अपने स्व-प्रकाश से मधुर चान्दनी की छटा बिखेर देता है। घोर घनी अंधियारी रात को शीतल चान्दनी रात में परिवर्तित कर देता है। यह है, सुमहानता का प्रतीक। विश्व साहित्य में देख लीजिये, इतना सटीक और सजीव उदाहरण केवल आपको वेद में ही मिलेगा, अन्यत्र नहीं। सुमहान होने के लिये यदि हम सूर्य के समान तेजस्वी वा प्रतापी न भी बन सकें, पर चन्द्रमा के समान शीतल और सौम्य तो हो ही सकते है, बस शर्त एक है, चन्द्रमा में प्रकाश उसका अपना नहीं, उसने लिया हुआ है, हम भी प्रकाश को ले लें परम पिता परमात्मा से, अपने आपको युक्त करके उस परमेश प्रभु से। उसकी महानता से हम भी सुमहान हो जायेंगे।

अंतिम बात है 'सुमहान' का स्वभाव। सुमहान **(ओषधीभिः ववक्षे)** ओषधियों से धारित हुआ करता है। किस लिये ?। दुःखी रोग-ग्रस्त संसार को रोग मुक्त कर सुखी करने के लिये। सुमहान व्यक्ति की टेक होती है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःख-तप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

"न तो मुझे राज्य की कामना है, न स्वर्ग की, न मुक्ति की। मेरी तो एक ही कामना है कि दुःखों से संत्पत प्राणिमात्र की व्यथा को दूर कर सकूँ।" सुमहान पुरुष पाप से घृणा करते हैं, पापियों से नहीं। पतितों और दलितों को वे उठाते हैं। अमानुष को मानुष बनाते हैं। सब से प्रेम करना उनका स्वभाव होता है, पर आसक्ति किसी में नहीं। सब की सेवा करता उनको स्वीकार होता है, पर किसी की अधीनता अथवा बंधन नहीं। औषधीयाँ जैसे शारीरिक व्याधियों का निदान प्रस्तुत करती हैं, उसी प्रकार सुमहान मानव सामाजिक तथा अन्तर्देशीय व्याधियों का निदान प्रस्तुत कर मानवीय मूल्यों और

मानवतावाद की रक्षा करते हैं। समस्याओं का निदान सुमहानों की प्रवृत्ति बन जाती है। इसी लिये मन्त्र में कहा '**ओषधीभिः ववक्षे**' व्याधियों की शमनकारक ओषधीयों से, समस्याओ के निवारणकारक निदानों से वे वहन किये जाते हैं। कुरीतियों और बुराइयों को दूर करके मानव समाज को निर्दोष और निष्पाप बनाना उनकी सुमहान साधना होती है।

इस सम्बन्ध में महान वैज्ञानिक लुई पास्चर के निम्न शब्द बहुत ही प्रासंगिक हैं—

"मैं तुम से यह नहीं पूछना चाहता, कि तुम्हारा धर्म क्या है। मैं यह भी नहीं जानना चाहता कि तुम्हारे विचार क्या हैं। मैं तुमसे केवल यह जानना चाहता हूँ कि तुम्हारी पीड़ा (तकलीफ) क्या है। शायद मैं उसको कुछ दूर कर सकूँ।"

सुमहान कोई पैदा नहीं होता। न सुमहानता किसी पर थोपी जा सकती है। सतत सुमहान साधना से नर और नारायण की सेवा करते हुये जो आगे बढ़ते और ऊंचे उठते चले जाते हैं, वे ही स्त्री पुरुष जाने जाते हैं, महानों में महान, "सुमहान्"।



२

वैश्वानर-ज्योतिः भूयासम्*

एधो॑ऽस्येधिषी॒महि॑ स॒मिद॑सि॒ तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि।
स॒मा॑ववर्ति पृथि॒वी सम॒ुषाः सम॒ु सूर्यः॑। सम॒ु विश्व॑मि॒दं
जग॑त्। वै॒श्वा॒न॒रज्यो॑तिर्भूयासं वि॒भून्कामा॒न्व्य॑श्नवै॒ भूः स्वाहा॑॥

—यजुर्वेद २०।२३

ऋषिः—एधोसीत्यस्य प्रजापतिः। देवता—समिद् अग्नि वैश्वानरः।
छन्दः—स्वराड अतिशक्वरी।

पदपाठ—एधः। असि। एधिषीमहि। सम्-इध्। असि। तेजः। असि। तेजः। मयि। धेहि। सम्। आववर्ति। पृथिवी। सम्। उषाः। सम्। उ। सूर्यः। सम्। उ। विश्वम्। इदम्। जगत्। वैश्वानर। ज्योतिः। भूयासम्। विभून्। कामान्। वि। अश्नवै। भूः। स्वाहा।

(एधः असि) — तू प्रज्वलित/ उद्दीप्त (बढ़ानेवाला) है,

(एधिषीमहि) — हम उद्दीप्त हो जायें (बढ़े)।

(समिध् असि) — तू [अग्नि का] समिध (सम्यक् ईधन) है,

(तेजः असि) — तू [अग्नि का] तेज है,

---

* आर्यजगत् २९ दिसम्बर, १९९६ वर्ष ६१, अक ५२ मे ''मैं वैश्वानर ज्योति हो जाऊँ'' शीर्षक से प्रकाशित।

(मयि तेजः धेहि) — [प्रकाशमान बनाकर] मुझमें तेज भर दे/ तेजोमय बना दे।

(सम् आववर्ति पृथिवी सम् उषाः सम उ सूर्यः) — सम्यक् वर्त रही है पृथिवी, सम्यक् उषा [और] सम्यक् सूर्य भी,

(सम् उ विश्वम् इदम् जगत्) — सम्यक् ही यह सारा जगत।

(वैश्वानर-ज्योतिः भूयासम्) — मैं वैश्वानर-ज्योति हो जाँऊ,

(विभून् कामान् वि-अश्नवै) — मैं व्यापक/ महान कामनाओं को विशिष्टता से सिद्ध/ प्राप्त करूँ,

(भूः स्वाहा) — मेरा अस्तित्व सुहुत हो/ समर्पित हो [महान लक्ष्यों-आदर्शों के प्रति]।

वेद का लक्ष्य है हम मनुष्यों को महान, सुमहान बनाना। जन्म से तो सभी मनुष्य शूद्र होते हैं **(जन्मना जायते शूद्रः)**। किन्तु सुसंस्कारवान होने पर ही उनको द्विज कहा जाता है **(संस्काराद् द्विज उच्यते)**। सु-संस्कारी और द्विज बनने के लिये आवश्यक है, 'जीवन-साधना' की एक ऐसी कार्य-योजना (ऐक्शन-प्लान), जिस पर आचरण कर ससीम देह-धारी मनुष्य 'वैश्वानर-अग्नि' के समान हो जाये।

यजुर्वेद के बीसवें अध्याय में मन्त्र १४ से लेकर मन्त्र २३ तक (शतपथ ब्राह्मण, काँ० १२, अ० ९, ब्रा० २) एक ऐसी ही कार्य योजना है, जिसका लक्ष्य है **(वैश्वानर-ज्योतिः भूयासम्)** मैं वैश्वानर-ज्योति हो जाऊँ। इस कार्य-योजना को छः भागों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(१) सब प्रकार के पापों से छुटकारा तथा अपराधों से मुक्ति (यजुः० अ० २० मं० १४-१८)।

(२) जल और ओषधियों के रस से युक्त होकर बाहर और अन्दर की शुचिता। (यजुः० २०।१९)।

(३) आपः से युक्त होकर मल विक्षेप और आवरण को धो कर दूर करना। (यजुः० २०।२०)।

(४) अन्धकार से ऊपर उठ कर स्व-ज्योति तथा परम ज्योति का साक्षात्कार। (यजुः० २०।२१)।

(५) अग्निस्वरूप परमेश्वर को सम्पूर्ण पवित्रता के साथ समर्पण। (यजुः० २०।२२)।

(६) वैश्वानर-ज्योति की प्राप्ति। (यजुः० २०।२३)।

इससे पूर्व कि वैश्वानर-ज्योति की प्राप्ति की विधा पर हम चर्चा करें, हमें यह भी समझना लक्ष्य-प्राप्ति के लिये ज़रूरी है कि वैश्वानर-ज्योति है क्या? **विश्वान् नरान् नयति वैश्वानरः** (निरुक्त ७।२१) जो विश्व का नयन, वहन, संचालन करने वाला है वह विश्वनायक वैश्वानर कहाता है। विश्व का पूर्णतया—नयन—वहन—संचालन करने वाला होने से परमात्मा वैश्वानर है। वही वैश्वानर 'वसुः' (सबको बसाने वाला, और सबमें बसा हुआ) तथा 'अग्नि' (गति देने वाला और स्वयं गतिशील एवं ज्योतिष्मान्) है। उसी की ज्योति में, उसी के सुनयन से इस अनन्त और असीम विश्व का धारण और संचालन हो रहा है। वैश्वानरः अग्निः ही वैश्वानरः ज्योतिः है, जिसके बारे में कहा है—**वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि** (ऋग्० ६।९।१) वैश्वानरः अग्निः राजा के समान देदीप्यमान होकर अपनी ज्योति से तमाम अन्धकारों को दूर कर देती है। इतना ही नहीं,

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः॥

—ऋग्० ६।९।४

यही अग्नि प्रथम होता है, यही अमृतं ज्योति है। मरणधर्मा जीवों में यही अमर्त्य है। यही सृष्टि को उत्पन्न करने वाली है। यही ध्रुव अर्थात् स्थिर है। सर्वत्र व्यापक है। समस्त ब्रह्माण्ड में यही वर्धमानः है। **वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ** (ऋग्० १।५९।१) वैश्वानर-अग्नि पृथिवी पर निवास करने वाले सभी प्राणियों और तत्वों की नाभि (आश्रय-केन्द्र) है। गृह-मध्य में स्थापित स्तम्भ, जैसे गृह के अवयवों को थामे रहता है, उसी प्रकार वैश्वानर-अग्नि उपमित रूप से सबकी आश्रय होकर समस्त प्राणियों को नियमों में धारण अर्थात् बाँधे रखती है। **आ सूर्ये न रश्मयो**

ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्रा वसूनि (ऋग्० १।५९।३) सूर्य में जिस प्रकार किरणें स्थिर हैं, उसी प्रकार वैश्वानर-अग्नि में समस्त वसूनि (वसने या जीवनयापन के लिये आवश्यक तत्व पदार्थ एवं ऐश्वर्य) स्थापित हैं। **वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्** (ऋग्० १।५९।६) वैश्वानर अग्नि पीड़ा देने वालों की नाशक है। पराकाष्ठा (अति) को कम्पित करने वाली है। शम्बरम् (सुख, शान्ति, ज्ञान को ढक लेने वाले, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अज्ञान आदि) को विदीर्ण अर्थात् छिन्न-भिन्न करने वाली है। वैश्वानर ज्योति की महिमा का तो कहना ही क्या!

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतो विभावा।
शातवनेये शतिनीभिरग्निः पुरुणीथे जरते सूनृतावान्॥

—ऋग्० १।५९।७

वैश्वानर अग्निः अपनी महिमा से विश्व की प्रेरक, संचालक, भरण-पोषण करने वाली, सबकी यष्टत्य और विशिष्ट दीप्ति वाली है। वह असंख्य उत्तम कार्यों को संपन्न करने की शक्तियों से युक्त, गति प्रदान करने वाली, उत्तम ज्ञान तथा सत्य विद्याओं वाली, दिव्य सम्पदाओं से युक्त पालक और पूरक हैं। असंख्य ऐश्वर्यों की स्वामिन तथा असंख्य क्रियाओं से सिद्ध वही अग्नि सर्वत्र स्तुत की जाती है। **तं त्वा देवासोऽजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय॥** (ऋग्० १।५९।२) वैश्वानर ज्योति निश्चय से उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव-वाले-आप्त-पुरुषों के लिये हैं। उस प्रकाशमान ज्योति को ही देव-जन अपने हृदयों में प्रकाशित करते हैं, उसी ज्योति का साक्षात्कार हम सब करें।

स्वभाविक है कि वैश्वानर-ज्योति का साक्षात्कार हर एक के बस की बात नहीं। वैश्वानर-ज्योति, जो प्राणी मात्र के हितकारी, नेतृत्व-प्रदान करने वाले, प्रकाशमान परमात्मा का ही स्वरूप है, वही साक्षात्कार कर सकता है, जो कुछ प्रारम्भिक अनिवार्यताओं की पूर्ति करे। ऋग्वेद में ही कहा गया है—**वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।** (ऋग्० १०।८८।१३) यज्ञयासः (श्रेष्ठतम कर्मों के करने वाले) कवयः (कवि-मनीषी) देवाः (तत्वज्ञानी) अजुर्यम् (कभी नाश न होने वाली) वैश्वानर-

अग्नि का साक्षात्कार करते हैं। इसी प्रकार अगले मन्त्र में कहा गया है **वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः।** (ऋग्० १०। ८८। १४) कविम् (क्रान्तदर्शी) मन्त्रों से, सब दिनों चमकने वाले, दीप्तिमान वैश्वानर-अग्नि की साक्षात स्तुति करते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि जिन चार प्रमुख गुण वाले होना वैश्वानर-ज्योति की प्राप्ति के लिये आवश्यक है, वे हैं—

(१) **आर्य** अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव से श्रेष्ठ सदाचारी होना।

(२) **कविः** अर्थात् क्रान्तदर्शी एवं मन्त्र-सिद्ध होना।

(३) **देवः** दाता, विद्वान (तत्वज्ञानी) एवं दिव्य गुणयुक्त होना।

(४) **यज्ञयासः** यज्ञ, अर्थात् श्रेष्ठतम कर्मों के सम्पादनकर्त्ता होना।

सदाचारी, ज्ञानवान, यज्ञशील देव ही वैश्वनानर-ज्योति को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं।

दूसरी बात जो वैश्वानर-ज्योति के विषय में महत्वपूर्ण है, और जिसका मन्त्र में बड़ा सुन्दर उल्लेख है, वह है प्राकृत देवों का अविचल भाव से परस्पर सहयोगपूर्वक सम्यक् आवर्तन। (**सम् आ ववर्ति पृथिवी, सम् उषाः, सम् उ सूर्यः। सम् उ विश्वम् इदम् जगत्**) सम्यक् वर्त रही है पृथिवी, सम्यक्तया वर्त रही है उषा। सम्यक् वर्त रहा है सूर्य। सम्यक् वर्त रहा है यह सारा जगत्, अखिल ब्रह्माण्ड या सम्पूर्ण सृष्टि। निरन्तर गति, गमन करने से यह सृष्टि जगत् कहाती है। कैसे हो रहा है यह सम्यक् आवर्तन? कैसे पृथिवी सहनशीलता के साथ भूरि भारों को सहारती हुई अखिल प्रजाओं का पालन-पोषण कर रही है? कैसे उषा अखिल विश्व में सौन्दर्यपूर्ण लालिमा का प्रसार शोभनीयता से कर रही है? किस ज्योति से अनुप्राणित होकर उषा अपने सौन्दर्य को निरन्तर उषा-बेला में बिखेर देती है? किस ज्योति से ज्योर्तिमान है सूर्य? कैसे आलोकित कर रहा है वह अपने तेज और प्रकाश से असंख्य लोकों को? किसके नियमन में वर्त्त रहा है सूर्य? किसके न्याय, नियम, नियन्त्रण तथा व्यवस्था में चल रहा है, यह सारा जगत्? इन अनेकों प्रश्नों का उत्तर

कर रहा है, मैं भी विश्व-कल्याण में अपने को अर्पित कर दूँ। 'स्वाहा' का अर्थ ही है—'स्व-आहुति'। 'स्व' और 'स्व-सर्वस्व' से बढ़कर अन्य कोई आहुति नहीं। विश्व-कल्याण से बड़ा कोई यज्ञ नहीं। इस यज्ञ में स्व-आहुति ही सुआहुति है, और जहाँ सु-आहुतियाँ है, वहीं परमानन्द है।

वैश्वानर बन के (**विभून् कामान् वि-अश्नवै**) व्यापक कामनाओं को विशिष्टता से सिद्ध करूँ। विश्व-नायक की कामनायें विश्वव्यापिनी होनी ही चाहियें, संकुचित और सीमित नहीं।

आज विडम्बना यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर जो नेता बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं उनकी कामनायें केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति तक ही सीमित रहती हैं। संसार का भला हो न हो, उनका अपना हित-साधन होना चाहिये। इसी का नाम भ्रष्ट-आचार है। वेद का सारा बल सद्-आचार पर है। वेद में कामनाओं को स्थान है, परन्तु केवल विराट, महान, व्यापक कामनाओं को। वेद का तो आर्शीवाद ही है, **सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः** (यजुः० १२।४४) यजमान की कामनायें सत्य हों। इसी प्रकार वेद में आया **मे कामान् सम्-अर्धयन्तु** (यजुः० २०।१२) मेरी कामनायें सम्यक् वृद्धि को प्राप्त हों। इस दृष्टि से कामनाओं का होना और उन्हें सिद्ध करना बुरा नहीं है, बुरा है कामनाओं का क्षुद्र, संकीर्ण, संकुचित या स्वार्थ-प्रेरित होना। अतः वेद का स्पष्ट निर्देश है, कि मैं व्यापक और महान कामनाओं का सेवन करूं। लोकोक्ति भी है, जो जैसी कामना करता है, वैसा ही बन जाता है। मेरा लक्ष्य है वैश्वानर-ज्योति बनना, तो मेरी कामनायें भी वैश्वानर जैसी ही विश्वव्यापी महान और उदात्त होनी चाहियें। संसार का उपकार करना, विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनाना, प्राणियों में सद्भावना बनाये रखना, विश्व का कल्याण करना, और इन्हीं कामनाओं की सिद्धि में जीवन का उत्सर्ग कर देना, मेरा लक्ष्य होना चाहिये। वैश्वानर-अग्निः तो व्रतों की रक्षक है। आवश्यकता इस बात की है, कि व्रत और श्रद्धा के साथ महान कामनाओं की सिद्धि हेतु मैं उस वैश्वानर-अग्निः से संयुक्त हो जाऊँ, जिससे मैं पूरी सार्थकता से कह सँकू **वैश्वानर-ज्योतिः भूयासम्।**

—:०:—

३

मनुष्य यदि वीर होना चाहे....

यदि वीरो अनु ष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः।
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम्॥

—सामवेद ८२

ऋषिः—वामदेव। देवताः—अग्निः। छन्दः—अनुष्टुप। स्वरः—गान्धार।

१. (मर्त्यः)	— मरणधर्मा [मनुष्य]
२. (यदि वीरो अनुष्यात्)	— अगर वीर होना चाहे [मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिये]
३. (अग्निं इन्धीत)	— अग्निरूप प्रकाशमान परमेश्वर को अपने अन्दर प्रदीप्त करे [अग्न्याध्यान करे]
४. (आजुहवत् हव्यम् आनुषक्)	— समर्पित करे [श्रेष्ठ कर्मों की] हवि निरन्तर,
५. (शर्म भक्षीत दैव्यम्)	— प्राप्त दैवी सम्पदाओं/दिव्यताओं द्वारा सेवन करे अलौकिक सुख-शान्ति का।

सामवेद के इस उदात्त मन्त्र में प्रभु भक्ति का सुन्दर आह्वान है हम मरणधर्मा मनुष्यों के लिये। मन्त्र का दृष्टा ऋषि है—'वामदेव'। 'वाम' कहते हैं सुन्दर, अति शोभनीय को और 'देव' कहते हैं 'दिव्य गुणों से युक्त महान विभूति को'। वामदेव ने यह सुन्दरता और

दिव्यता प्राप्त की है यज्ञाग्नि द्वारा, यज्ञों द्वारा, (**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**—ऋग्० १।१६४।५०) यज्ञों का यज्ञ से यजन कर; इसी लिये परम्परा से बृहद् यज्ञों, संस्कारों आदि में यज्ञोपरान्त 'महा-वामदेव्यगान' की परिपाटी 'वामदेव' ऋषि के नाम से प्रचलित है।

मन्त्र का देवता है 'अग्नि'। जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम 'अग्नि' है। मन्त्र-दृष्टा ऋषि वामदेव ने उस अग्निस्वरूप परमेश्वर को धारण करके जो कुछ मन्त्र में व्यक्त किया है, उसके पीछे उसका अपना अनुभव है, साक्षात्कार है। अब यह हमारे और आपके ऊपर निर्भर करता है कि हम ऋषि के अनुभव से लाभ उठायें या न उठायें।

मन्त्र में हम देहधारियों को सम्बोधित किया गया है (**मर्त्यः**) मरणधर्मा शब्द से। (**जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु**—गीता २।२६) जो पैदा हुआ है, वह मृत्यु को निश्चय ही प्राप्त होगा, इसी लिये हमारी संज्ञा है '**मर्त्यः**'। हम सब यह भी जानते हैं कि लोक में जिसे मृत्यु कहते हैं, वह मृत्यु 'शरीर' की होती है, आत्मा तो नित्य है, वह (**ध्रुवं जन्म मृतस्य च**) एक देह छोड़ कर दूसरी देह को धारण कर लेता है। पर यही भी निर्विवाद है कि हम सब मरणधर्मा देहधारियों के लिये मृत्यु से बड़ा कोई दुःख नहीं, और मृत्यु से बड़ा कोई भय नहीं। मृत्यु तो वस्तुतः एक प्रक्रिया है, एक सच्चाई है, जिससे सब को एक न एक दिन गुज़रना है, परन्तु मृत्यु से बढ़ कर है, मृत्यु से जुड़ा हुआ भय और कष्ट। मृत्यु से जुड़ा हुआ भय और कष्ट उस मृत्यु (देहावसान) की घड़ी से भी अधिक पीड़ा और दुःख पहुँचाता है और आयु-पर्यन्त हम को आक्रान्त एवं आतंकित किये रहता है। गालिब ने इसी लिये कहा है—

मौत का एक दिन मोय्यन है,
नींद फिर रात भर क्यों नहीं आती।

वेदमाता को शायद यह असह्य है कि उसके पुत्र और पुत्रियाँ मृत्यु के भय और दुःख से इतने आक्रान्त रहें, अतः वेद में कितने ही मन्त्र हैं जिनमें मृत्यु के दुःख से छुड़ाने वाली बड़ी उदात्त प्रेरणायें हैं—

"**मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।**" —अथर्व० ८।१।४

मृत्यु की बेड़ियों को छुड़ा।

"**त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः।**" —अथर्व० ८।१।५

मृत्यु तेरी रक्षा करे और तू समय से पूर्व न मरे।

"**उत् त्वां मृत्योरपीपरं।**" —अथर्व० ८।१।१९

मृत्यु से तुझ को ऊपर उठाता हूँ।

"**अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्ति।**" —अथर्व० ८।२।२

मृत्यु के बन्धनों और निन्दनीय गति को दूर करता हूँ।

"**मृत्यो मा पुरुष वधीः।**" —अथर्व० ८।२।५

हे मृत्यु! तू पुरुष को (समय से पूर्व) मत मार।

"**तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपते रु स मा बिभेः।**"

—अथर्व० ८।२।२३

उस मृत्यु से मैं तुझे ऊपर ऊठाता हूँ। वह तू मृत्यु से मत डर।

किन्तु प्रश्न यह है, कि मृत्यु पर विजय प्राप्त करें कैसे? एक बात तो निर्विवाद है कि विजयश्री उनको मिलती है, जो वीर होते हैं, साहसी और निर्भय होते हैं। कायर और डरा हुआ व्यक्ति तो जीते जी मरा हुआ होता है। एक दूसरी सच्चाई यह भी है कि वीर एक ही बार मरता है, जबकि कायर अनेकों बार मरते हैं। Brave dies only once; cowards die many times.

बृहदारण्यक उपनिषद, जो शतपथ ब्राह्मण का ही भाग है, कहा गया है—'**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्यार्माऽमृतं गमयेति**'—शतपथ० १४।४।१।३० इसी की व्याख्या में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि असत् तथा तमसः ही मृत्यु है और 'सत' तथा 'ज्योति' ही अमृत है। अन्यत्र भी शतपथ ब्रह्मण में 'अमरत्व' की व्याख्या करते हुये कहा गया है—

— जिसको उस परम ज्योति के दर्शन हो जाते हैं, वह अमर हो जाता है। (यजुः० ८।५२; शतपथ० ४।६।९।१२)

— जो मर्त्य अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण कर लेता है, वह अमर्त्य हो जाता है। (शतपथ० १४।६।२।९)

— अपनी आयु को जीवन्त भोगना अमृत प्राप्त करना है। सौ वर्षों व उससे अधिक का जीवन प्राप्त करना अमृत है। (शतपथ १०।२।६।७)

स्वाभाविक है, कि अमृत को 'देव' ही प्राप्त कर सकते हैं। देवता बन कर ही मनुष्य अमरता को प्राप्त करता है। पर कैसे? सामवेद का विचाराधीन मन्त्र इसी मूल प्रश्न का उत्तर है।

(यदि वीरो अनुष्यात्) यदि वीर होना चाहे। मन्त्र का आरम्भ 'यदि' से होता है। इस से दो बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) देहधारी के अन्दर जो यह जीवात्मा है, वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। अर्थात हम स्वतन्त्र हैं, चाहे हम वीर बने या न बने। वीर बनेंगे, तो विधाता उसका फल देगा—**वीर भोग्या वसुन्धरा**, पृथिवी पर सुखों को भोगेंगे; नहीं बनेंगे, तो उसका फल अलग होगा, जैसा भी होगा अपने प्रारब्ध और कर्मानुसार होगा। "यदि" शब्द सिद्धान्तः हमारे कर्म स्वातन्त्र्य का सूचक है।

(२) हम जो भी बनना चाहते हैं, उसके लिये हमारे अन्दर उत्कट इच्छा होनी चाहिये। चाहत बहुत ज़रूरी है। वीर बनने से पहिले वीर बनने की चाह होनी चाहिये। जी वही सकता है जो जीना चाहता है। वीर वही बन सकता है, जो वीर बनना चाहता है। मुख्य बात यह है कि हमारा चिन्तन और चाहत सकारात्मक होनी चाहिये; क्योंकि जैसा हम सोचेंगे, वैसे ही बनेंगे।

दूसरा महत्वपूर्ण शब्द है (वीरो) अर्थात वीरोचित गुण। वीरता के लिये शारीरिक बल इतना ज़रूरी नहीं, जितना जितेन्द्रिय, चरित्र और आत्मिक बल का होना महत्वपूर्ण है। सुबुद्धि, श्रद्धा, संकल्प शक्ति, धैर्य, उत्साह, साहस, वचनबद्धता, कर्मठता, कार्य-कुशलता, नीतिज्ञता, दक्षता आदि अनेक गुणों से विभूषित होता है वीर। पर वीरता और शौर्य कोई ऐसी वस्तुयें नहीं हैं, जिन्हें बाजार में ख़रीदा जा सके। इसके लिये इन्द्रिय-बल, चरित्र-बल और आत्मबल (शारीरिक, चारित्रिक और आत्मिक बल) तीनों को प्राप्त करना ज़रूरी है।

चलिये, हमने निश्चय कर लिया, कि वीर बनेंगे। अमृत को प्राप्त करेंगे। संसार में अपना नाम, अपना यश, अपनी कीर्ति अमर कर जायेंगे। अब क्या करें।

मन्त्र कहता है **(अग्निं इन्धीत)** अग्नि को अपने अन्दर धारण करो। अपने अन्दर अग्न्याधान कर अपने अन्दर अग्नि को प्रदीप्त

करो। जब अन्दर आग धधक रही होती है, तब जन्म होता है वीरता का।

कौन धारण कर सकता है अग्नि को अपने अन्दर? कभी आपने अग्नि-होत्र करते समय अग्न्याधान के मन्त्र पर विचार किया है?

ओं भूर्भुवः स्वर् द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥

—यजुः० ३।५

हे (**भूः भुवः स्वः**) सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर। (**द्यौ इव भूम्ना**) द्यौ के समान महानता से (**पृथिवी इव वरिम्णा**) पृथिवी के समान वरणीयता से, युक्त होकर (**देवयजनि पृथिवी**) देव यज्ञ की आधार भूमि पृथिवी के (**तस्या ते पृष्ठे**) उस तेरे पृष्ठ पर (**अन्नादम् अग्निं अन्नाद्याय**) भौतिक अग्नि को अन्न आदि भौतिक पदार्थों के सेवनार्थ (**आ दधे**) धारण करता हूँ।

देखो। भौतिक अग्नि को भौतिक सम्पदाओं की प्राप्ति के हेतु पृथिवी पर धारण करने के लिये अग्निहोत्र करने वाले में न्यूनतम दो योग्यताओं का होना जरूरी है; (१) द्यौ के समान महानता और (2) पृथिवी के समान वरणीयता। सोचो जहाँ यज्ञ वेदि हृदयतल हो, अग्नि अभौतिक अर्थात अग्रणी परमेश्वर हो, और लक्ष्य भी अभौतिक (दैवी) सम्पदा (जैसे वीरता आदि) को प्राप्त करना हो, वहाँ यज्ञकर्ता के अन्दर मात्र अग्निहोत्र की तुलना में कितनी अधिक न्यूनतम योग्यतायें चाहिये होंगी। यह है विचारणीय बात।

एक और बात। अग्नि का गुण है तपाना। (**सो अर्चिषा पृथिवी द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा**—ऋग्० १०.८८.९) अग्निहोत्र में पृथिवी और द्यौ अपनी महित्वा/क्षमता के कारण भौतिक अग्नि की तपन को सह लेते हैं। क्या हमने अपने आप को तैयार किया है कि परमेश्वर हमारे अन्दर प्रदीप्त होकर जब हमें तपाना चाहे, हम तपने को तैयार हैं? इतिहास साक्षी है कि जिन्होंने भी परमेश्वर को अपनाया है, जीवन भर उनको तपना पड़ा है, तब जाके वे कुन्दन बने हैं, और इतिहास में उनका नाम स्वर्ण-अक्षरों में लिखा गया है। प्रभु-भक्तों को जितनी परीक्षा देनी पड़ी है, जितने संघर्षों से झूझना पड़ा है, जितनी आपदायें झेलनी पड़ी हैं, उतनी अन्यों को नहीं।

(अग्निं इन्धीत) अग्निस्वरूप परमेश्वर को अपने अन्दर धारण करने के लिये कदम-कदम पर अग्नि-परीक्षा देने के लिये तैयार रहना पड़ेगा। इसी लिये मन्त्र का आरम्भ 'यदि' से है। जो अग्नि-परीक्षा से हार गया या घबड़ा गया, वह 'वीर' तो होने से रहा। तो यदि वीर होना है, अमरत्व को प्राप्त करना है, तो अग्नि को अपने अन्दर धारण भी करना पड़ेगा और अग्नि-परीक्षा भी, जब भी प्रभु चाहें, देनी पड़ेगी।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'मन', 'वाक', 'प्राण', 'चक्षु' और 'श्रोत्र' वे क्षेत्र हैं जहाँ अग्न्याधान करना है। मन हृत्प्रतिष्ठ है। यही हमारे चिन्तन, मनन, संकल्प, विकल्प का केन्द्र है। मन में परमेश्वर को धारण करने का अर्थ है, दिव्य चिन्तन, शुभ संकल्प तथा शुभ और श्रेष्ठ कार्य। वाणी में अग्न्याधान का अर्थ है, वाणी से निरन्तर प्रभु की स्तुति, उसकी महिमा का गुण-गान और भद्र भाषण। प्राण में अग्न्याधान है प्राणायाम द्वारा परमेश्वर के भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्य स्वरूप की विलक्षणता एवं कार्य-कुशलता का दर्शन। 'श्रोत्र' का अग्न्याधान है परमेश्वर की कल्याणी वाणी का श्रवण और निदिध्यासन।

'**अग्निं इन्धीत**' अर्थात् अग्न्याधान के बाद अगली चीज है **(आजुहवत् हव्यम आनुषुक)** निरन्तर हवि की समर्पण की भावना से आहुति। सामान्य अग्निहोत्र में भी प्रदीप्त अग्नि मन्द हो जाती है, यदि निरन्तर समिधा, घृत तथा हव्य पदार्थों की आहूति न दी जाये। 'समिधा', 'घृत', 'हव्य-पदार्थ तीनों की कुछ विशेषतायें हैं जो अग्निहोत्र की सफ़लता के लिये आवश्यक हैं। वृक्षों की सूखी टहनियाँ, जो स्वतः सूख कर गिर पड़ती हैं, अग्निहोत्र के लिये उपयुक्त समिधा हैं। समिधा के लिये वृक्षों को काटना/चीरना ठीक नहीं। समिधा गीली, दाग़ी, घुनी या मलिन नहीं होनी चाहिये। घृत, गौ-दुग्ध से विधिपूर्वक बना, छना, तपा तथा केशरयुक्त होना चाहिये। हव्य-पदार्थ केवल वही होने चाहिये जो सुगन्धिकारक, पुष्टिकारक, मिष्ट तथा मधुर और रोग/कीटाणु/प्रदूषण-निवारक हों, तथा जिनका चयन ऋतुनुसार शुद्धता एवं पवित्रता के आधार पर किया गया हो। अग्नि-होत्र में जब उपरोक्त प्रकार की हवियाँ दी जाती हैं, तब अग्नि हव्य-वाहन बन कर सम्पूर्ण वातावरण को अत्यन्त शुद्ध, निर्मल, सुखदायक और यज्ञमय बना देती है।

पर मन्त्रानुसार, जो अग्नि हमने अपने अन्दर प्रदीप्त की है, उसमें हम कौन सी हवि डालेंगे? यहाँ हवियाँ हैं, हमारे कर्म, सुन्दर, श्रेष्ठतम कर्म, जिनसे हमने अपने अन्दर की अग्नि को प्रदीप्त रखना है। सुन्दर, श्रेष्ठतम कर्मों के साधन भी समिधा की तरह शुद्ध और पवित्र होने चाहियें। घृत प्रतीक है स्निग्धता का, उत्कट प्रेम निष्ठा और भक्ति का। कर्त्तव्य के प्रति/शुभ और श्रेष्ठ कर्मों के प्रति, हमारी निष्ठा, हमारी भक्ति, हमारी लगन अटूट होनी चाहिये। (**'घृतं तीव्रं'**- यजुः० ३। २) साथ ही साथ यह तीव्र भी होनी चाहिये। शुभ और श्रेष्ठ कर्मों में ढ़िलाई कभी अच्छी नहीं होती। अन्तिम बात यह कि हमारे समस्त कर्म सुगन्धिकारक, पुष्टिदायक, मिष्ट और रोग/ कीटाणु/ प्रदूषण निवारक होने चाहिये। सभी कर्म, चाहे वे व्यक्तिगत हों, पारवारिक हों, सामाजिक हों, राष्ट्रीय या अन्तराष्ट्रीय स्तर पर हों, उपरोक्त कसौटियों पर खरे उतरने चाहिये। अग्नि सात्विकता का प्रतीक है, ऊर्ध्वगामी है, अग्रणी, अर्थात् आगे ले जाने वाला है। विकास-वाहन है। अन्धकार और अपवित्रता को दूर करने वाला है। ज्ञान, प्रकाश और पवित्रता को देने वाला है।

(**अग्नये जातवेदसे**—यजुः० ३। २) अग्नि ही जातवेदस् है। इस अग्नि का जितना-जितना वर्धन होता जाता है, उतना ही हमारा अग्निहोत्र सफ़ल होता जाता है। इसी प्रकार जितनी-जितनी हमारी प्रभु से सामीप्यता बढ़ती जाती है, 'अन्तरात्मा' 'अन्तर्यामी' का साक्षात्कार करता जाता है, वह अन्तर्यामी के गुणों से विभूषित होता जाता है। (**यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत्स राय ऋतेपा ऋतेजाः**— ऋग्० ७। २०। ६) जो यज्ञों (श्रेष्ठतम कर्मों) द्वारा इन्द्र परमेश्वर की सेवा-पूजा समर्पित भाव से अर्पण करता है, वह ऋतेपा और ऋतेजा ऐश्वर्यों को/सम्पदाओं को बसाता है। (**इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वचो बलम्**—अथर्व० १९। ३७। १) और उस अग्निस्वरूप परमेश्वर से प्रदत्त यह वर्चः समर्पण-कर्त्ता को भर्ग (तेज), यश, सह (शत्रुघर्षक बल), ओज, दीर्घ आयु और वीरता के रूप में प्राप्त होता है।

इसी वीरता के फल स्वरूप मरणधर्मा मनुष्य विजय प्राप्त करता है, मृत्यु के भय और दुःखों पर। आयु-पर्यन्त (**शर्म भक्षीत दैव्यं**) अग्नि-देव परमेश्वर से पाये हुये अलौकिक सुख और शान्ति का

सेवन करता है। प्रभु से प्राप्त अलौकिक सुख और शान्ति ही परमानन्द है, मोक्षानन्द है। भौतिक अग्नि जिस प्रकार भक्षण करने योग्य अन्न, व व्यवहार योग्य ऊर्जा को प्राप्त कराती है उसी प्रकार अग्निस्वरूप प्रकाशमान परमेश्वर देव से महान दैवी सम्पादाये प्राप्त होती है, जो वीरता की पहचान होती हैं। श्रीमदभगवदगीता मे ऐसी छब्बीस दैवी सम्पदा गिनाई गई है। यह हैं—अभय, अन्तःकरण की शुद्धता, ज्ञान तथा योग में विशेष स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरल स्वभाव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (चुगली न करना), दया, अलोलुपता (लोभ का त्याग), मृदुता, व्यर्थ की चेष्टाओ में अरूचि, अचपलता (स्थिरता), तेज, क्षमा, धृत्ति, पवित्रता, अद्रोह, और निराभिमानिता। ऐसा नहीं है, कि सच्ची वीरता के यह छब्बीस ही लक्षण हैं, परन्तु इन से अन्य लक्षणों का भी बोध हो सकता है। (**दैवी सम्पद् विमोक्षाय**—गीता १६।५) दैवी सम्पदा ही बंधनो से छुड़ाने वाली तथा मोक्ष-प्रदाता है।

अग्निहोत्र की मूल भावना है, समर्पण; इसी प्रकार मनुष्य जब पूर्णतया अपने आप को उस परमेश प्रभु के अर्पण कर देता है, प्रभु की इच्छा ही उसकी इच्छा हो जाती है, प्रभु का कार्य ही उसके लिये प्रभु की पूजा हो जाता है, वह न केवल भय और दुःखों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वरन प्रभु से प्राप्त दैवी सम्पदाओं सहित उस अलौकिक आनन्द को भी सेवन करता है, जिसको मोक्षानन्द कहते हैं। यही इस मन्त्र का आशय है।

मनुष्य को यदि हो जीतना, दुःखों को, भय को और मृत्यु को।
धारण करे वह दिव्य अग्नि को, कर दे आहुत निज जीवन को।
मनुष्य बने तब वीर साहसी, सेवन करे सुख-आनन्द।
प्रभु सेवा बन जाये परम-धर्म, भोगे दिव्य मोक्षानन्द॥

—:o:—

४

भय और चिन्ता से मुक्ति : क्या, क्यों, कैसे*

मा भेर्मा संविक्थाऽऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः॥

—यजुर्वेद ६। ३५

ऋषिः—मधुच्छन्दा। देवताः—द्यावापृथिवी। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्।

पदपाठ—मा। भेः। मा। सम्। विक्थाः। ऊर्जम्। धत्स्व। धिषणे। वीड्वी। सती। वीडयेथाम्। ऊर्जम्। दधाथाम्। पाप्मा। हतः। न। सोमः।

(मा भेः)	—	मत डर।
(मा सम् विक्था)	—	मत घबरा (मत कांप)।
(ऊर्जम् धत्स्व)	—	ऊर्ज धारण कर।
(धिषणे)	—	द्यौ और पृथिवी के समान–,
(वीड्वी सती वीडयेथाम्)	—	अतिशय बलयुक्त तथा सद्गुण–युक्त होते हुये सुदृढ़ रह।
(ऊर्जम् दधाथाम्)	—	ऊर्ज धारण कर।
(पाप्मा हतः, न सोमः)	—	पाप नष्ट हो, सोम नहीं।

---

* आर्यजगत् १८ मई १९९७, वर्ष ६२, अक २० मे प्रकाशित।

डर का कारण है 'भय' और घबराहट का कारण है 'चिन्ता'। भय हृदय में घर कर जाता है, चिन्ता मस्तिष्क को उद्विग्न तथा निष्क्रिय कर देती है। दोनों के लक्षण हैं—घबराहट, कम्पन, उद्विग्नता, निष्क्रियता, अशक्तता, असंतुलन, और विशेष स्थितियों में मूर्च्छा, बेहोशी, आदि। भय और चिन्ता, चिन्ता और भय आपस में इतने गुंथे हुये हैं, जैसे शरीर में हृदय और मस्तिष्क, दिल और दिमाग़। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, और एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। जहाँ चिन्ता है, वहाँ भय है। जहाँ भय है वहीं चिन्ता है। दोनों ही जीवन को नितान्त अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित कर देते हैं। भय के प्रविष्ट होते ही मस्तिष्क में विचारविमूढ़ता छा जाती है। हृदय की धड़कन तेज़ हो जाती है, इन्द्रियों में शिथिलता आ जाती है, शरीर में कम्पन, श्वास का फूलना, प्राण की गति असामान्य हो जाना, सब भयभीत अवस्था के लक्षण हैं। भयशील मनुष्य किसी काम का नहीं रहता। सर्वथा निरूपाय निष्क्रिय हो जाता है। भय के कारण मनःस्थिति पलायन की हो जाती है, और इस पलायन से मिलती है पराजय। इसी प्रकार चिन्ता से ग्रस्त मानव जीते जी, मानो, सुलगती चिता पर जलता रहता है। चिन्ता से चेतना और चैतन्यता का सर्वथा ह्रास हो जाता है। चिन्ता कितनी ही भावनात्मक और शारीरिक बीमारियों की जननी है। तनाव, विषाद, ग्लानि, चिड़चिड़ापन जैसे भावात्मक रोग, और सिर दर्द, पीठ दर्द, भोजन से अरुचि, उबकाई, कोष्ठबद्धता अनिद्रा और थकान जैसे शारीरिक रोग का पचासी प्रतिशत तक कारण है 'चिन्ता'।

'वेद' विश्व साहित्य में वह पहला आदि और प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसने मनुष्य को भयमुक्त और चिन्तारहित जीवन का पाठ पढ़ाया है। 'भय' के स्थान पर 'अभयता' का और 'चिन्ता' के स्थान पर 'चिन्तन' का सर्वत्र उपदेश करने वाली कोई आदिमूल पुस्तक कोई है, तो वह है 'वेद'। यजुर्वेद के इस मन्त्र का आरम्भ ही **(मा भेः)** मत डर, **(मा संविक्थाः)** मत काँप, इन साहसवर्धक वचनों से हुआ है। वेद के अनेक मन्त्रों में या तो अभय की कामना है या अभयता का संदेश है। देखें यजुर्वेद और अथर्ववेद के यह मन्त्र।

यतो॑यतः स॒मीह॑से ततो॑ नो॒ऽअभ॑यं कुरू।
शं नः॑ कुरू प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑॥ —यजुः० ३६।२२

हे प्रभो ! (**यतः यतः**) जहाँ-जहाँ से, अर्थात् सब ओर से आप (**सम्-ईहसे**) सम्यक् रक्षण प्रदान कर रहे हो (**ततः**) वहाँ-वहाँ से, सर्वत्र (**नः**) हमें (**अभयं**) भयरहित (**कुरु**) कीजिये। (**नः**) हमारी (**प्रजाभ्यः**) प्रजाओं के लिये, (**नः**) हमारे (**पशुभ्य**) पशुओं के लिये (**अभयं**) अभयता और (**शं**) शान्ति प्रदान कीजिये। स्पष्ट है कि शान्ति के लिये अभयता की स्थिति आवश्यक है।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥

—अथर्व० १९।१५।५

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

—अथर्व० १९।१५।६

''जो प्रभु हमारे लिये अन्तरिक्ष तथा इन दोनों द्यौ और पृथिवी को भय-रहित कर रहा है, उसी की कृपा से हमारे लिये पीछे से, सामने से, ऊपर से, नीचे से, मित्रों से, अमित्रों से, ज्ञात से, अज्ञात से, रात्रि में, और दिन में अभय हो। सब दिशायें मेरी मित्र हों।''

देखा जाय, तो दोनों मन्त्रों में भय के कारण, स्थिति तथा निदान उपस्थित हैं। भय के कारण है—(१) हमारा अतीत (पीछे का काल), (२) हमारा वर्तमान (अर्थात् जो सामने है), (३) हमारी दिशा (अर्थात् ऊर्ध्व [उपर] गमन या अधो-[नीचे] गमन, (४) हमारा ज्ञान (जो ज्ञात है) या अज्ञान (जो अज्ञात है), (५) हमारी दिन और रात्रि की चर्या, प्रतिदिन का खोटा कारोबार, व्यवहार, आदि। अतीत में किये गये अकर्म, विकर्म और कुकर्म हमें अपराध-बोध की भावना से ग्रस्त कर हमें भयभीत बनाते हैं। करे हुये खोटे कर्म या दुष्कर्मों के परिणाम अथवा प्रतिक्रिया जब सामने दीखती है, वह भी हमें भयभीत करती है। इसी प्रकार सामने दुष्ट, आतातायी तथा आसुरी वृत्ति के लोगों को पाकर भी भय और आतंक का संचार होता है। इसी प्रकार घटिया और नकारात्मक सोचने, समझने और कार्य करने की दिशा हमें भयभीत और कुण्ठित बनाये रखती हैं। जिनकी मनोवृत्ति सब कुछ तल पर ही सुविधा से यापन की बन गई है, जो किसी प्रकार की जोख़िम उठाना नहीं चाहते, उन्हें ऊपर

चढ़ते और नीचे उतरते भी भय लगता है। देखा जाय तो जीवन के हर क्षेत्र में, हर कार्य में कुछ न कुछ ज्ञात या अज्ञात जोखिमें होती ही है, जो हमारे अन्दर ज्ञात और अज्ञात भय को उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार अच्छे समय में मित्रता का दम भरने वाले किन्तु अधर में छोड़ देने वाले अथवा भितरघात करने वाले तथाकथित मित्र और अमित्र (बैर-विरोध को निरन्तर बनाये रखने वाले) भय के कारण हो सकते हैं। पर सबसे अधिक भय का निर्माण हम स्वयं करते हैं, अपने दिन और रात्रि की खोटी चर्या से, खोटे कारोबार, खोटे व्यवहार और खोटे कर्मों से, इस मान्यता के साथ कि कोई हमें देख नहीं रहा है।

भय मुक्त जीवन के लिये और अभयता की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि 'वेद' प्रतिपादित हम इन नुस्खों को आज़माएँ—

(१) अपने दिन और रात्रि की चर्या को ठीक करें। मन 'शिव-संकल्पों' वाला हो, प्रत्येक रात्रि 'शिवरात्रि' हो, दिन सफ़लता और सार्थकता के साथ 'सुदिनत्व' लिये हो। खोटे विचार और खोटे कर्मों से बचें। सदैव स्मरण रखें, कि कोई हमें देखे, या ना देखे, वह परमात्मा जो **तत् चक्षुः** (यजुः० ३६।२४) है, हमें देख रहा है।

(२) जीव का सच्चा सखा और मित्र केवल परमेश्वर है। उसी की सख्यता और मित्रता प्राप्ति के लिये निरन्तर यत्न करें। '**देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे** (ऋग्० ८।९८।३)' "देव तो इन्द्र-परमेश्वर की सख्यता के लिये ही संयम (ध्यान, धारणा और समाधि धारण) करते हैं।" विश्वास रखें कि सांसारिक मित्र और अमित्र हमारा कुछ भी न बना सकते हैं, न बिगाड़ सकते हैं, यदि हम परमेश्वर की शरण में हैं। '**यस्य छाया अमृतम्** (यजुः० २५।१३)' जिसकी छाया (आश्रय) अमृत है, और वही हमारा बन्धु या सखा है, फिर डर कैसा ? हाँ, परमेश्वर की छत्र-छाया मे अपनी क्षमताओं को ज़रूर बढ़ाते रहें।

(३) भयमुक्त और चिन्तारहित जीवन के लिये संसार में देवों से तो युक्त हों, परन्तु सांसारिक लोगों की न अधिक मित्रता अच्छी, और न शत्रुता। कबीर साहब के शब्दों में

हमारा आदर्श ध्येय कुछ इस प्रकार का होना चाहिये—

कबिरा खड़ा बाज़ार में, सब की मनावे ख़ैर।
न काहु से दोस्ती, न काहु से बैर॥

(४) अज्ञात कारणों से उत्पन्न डर को स्थान न दें। अधिकांश स्थितियों में यह डर आत्म-विश्वास के अभाव के कारण होता है। अतः हर वह उपाय करते रहें, जिससे मनोबल तथा आत्म बल ऊँचा रहे। यह भी ध्यान रहे, कि सतर्कता और जागरूकता हर हाल में अच्छी है, और यह कि आत्म-बल का देने वाला केवल परमात्मा है, अतः उसी की उपासना हर स्थिति में करनी योग्य है।

(५) ज्ञात कारणों से उत्पन्न डर को एक समस्या के रूप में निपटें। ध्यान रहे, कि हर समस्या का समाधान है। आवश्यकता है, केवल प्रखर बुद्धि की और जागृत प्रज्ञा की, जो प्राप्त होती है, उस सविता देव परमेश्वर के 'वरेण्यम् भर्गः' को अपने 'धिय' में धारण करने से। ज्ञात कारणों से उत्पन्न डर से निपटने का उपाय यही है, कि बुद्धिपुर्वक विचार करके तथा यथोचित समाधान के साथ करने योग्य कार्य को कर ही डालें, जिससे हम डरते रहें हैं। फिर डर रहेगा ही नहीं। दुबारा कभी सतायेगा भी नहीं।

हुनर सिखाती है चलने का राह की ठोकर।
यों सोच लोगे तो मुश्किल सफ़र नहीं होगा॥

(६) समस्या के समाधान खोजने का तरीका यह है, कि हम कुछ समय के लिये समस्या में डूबे रहने के बजाय समस्या से अपने-आप को ऊपर कर लें। मानें कि समस्या हमारी न होकर किसी अन्य की है, जिसको हमारे परामर्श की आवश्यकता है। इस स्थिति में हम समस्या के समाधान के लिये विभिन्न विकल्पों को सोचें। और फिर कार्यान्वित करने के लिये, जो सब से अच्छा विकल्प लगे, उसको अपनाने के लिये पुरुषार्थ करें।

(७) अतीत की वे बातें, जो डर का कारण हैं, उनसे सबक़ लेकर भूल जाना ही श्रेयस्कर है। अभयता के लिये यह

ज़रूरी है कि जो वर्तमान है, और सामने हैं, उसे सार्थकता से निपटें, और सफ़लता प्राप्त करें। अतीत को भुलाने और वर्तमान को संवारने में प्रभु के समक्ष 'प्रायश्चित' और 'प्रार्थना' दो अचूक उपाय हैं। कैसी सुन्दर प्रार्थना है—'**तथा तदस्तु सोमपाः सखे वज्रिन्तथा कृणु। यथा त उश्मीसीष्टये।**' (ऋग्० १।३०।१२) हे सोमपाः (शान्ति प्रदाता)। हे सखे। हे वज्रिन। अपनी अभीष्टसिद्धि के लिये जैसी हम तेरी कामना करते हैं, उसे वैसा ही कर दीजिये। हमारे लिये इष्ट तथास्तु हो।

(८) संशयात्मक स्थिति में न रहें। सच को जानें, समझें और जीवन में लायें। परमेश्वर में पूर्ण-आस्था, अटूट-श्रद्धा और दृढ़-विश्वास रखें। '**यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत सत्यमङ्गिर॥** (ऋग्० १।१।६)' ''हे अंग-अंग में बसे हुये आगे ले जाने वाले परमेश प्रभु। अपने समर्पक के लिये जो तू करेगा, भद्र (कल्याणकारी) ही होगा। हे अङ्गिरः जीवन-रस परमेश्वर। तेरा ही यह सत्य तेरे विषय में सत्य ही है।'' प्रभु को पूर्णतया समर्पित प्रभु-आश्रित भक्त को कैसा डर, कहाँ का डर।

(९) अपने आपको कभी अकेला न समझें। '**सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु** (यजुः० ३२।८)' ''वह परमात्मा समस्त विभू में व्यापक तथा उरोया-पिरोया हुआ है।'' वह मेरे आपके सब के साथ है, बशर्ते कि मैं और आप उसकी मौजूदगी अनुभव करते हों। यदि हम और आप उसकी मौजूदगी को अनुभव नहीं कर पाते, तो या तो हम भटक गये हैं, या ग़लत मार्ग पर हैं। सत्य मार्ग पर सत्यस्वरूप परमेश्वर सदैव हमारे साथ है। यदि यह विश्वास है, तो डर किस बात का।

स॒ख्ये त॑ इन्द्र वा॒जिनो॒ मा भे॑म शवसस्पते।
त्वाम॒भि प्र णो॑नुमो॒ जेता॑र॒मप॑राजितम्॥

—ऋग्० १।११।२

हे **(शवसस्पते इन्द्र)** शक्ति और बल के स्वामी परमेश्वर! **(ते सख्ये)** तेरी सख्यता में [हम] **(वाजिन)** बलवान बनें। **(मा भेम)** डरें नहीं। **(त्वाम)** तुझ **(अपराजितम्)** पराजित न होनेवाले, तथा **(जेतारम्)** सदैव जीतने वाले को **(अभि प्र नोनुम्)** सब ओर से हमारा बारम्बार प्रणाम है।

रही बात चिन्ता की। तो एक तो सबसे पहले 'चिन्ता' में और 'परवाह करने' या किसी मामले में 'अत्यधिक दिलचस्पी लेने' में जो भेद है, वह समझें तथा बनाये रखें। दूसरी बात यह, कि हम सबकी अधिकांश चिन्तायें केवल आशंकायें ही होती हैं, जिनका यदि वास्तव में विश्लेषण किया जाय, तो कोई आधार नहीं होता। वे केवल हमारी संशयात्मक मनोवृत्ति अथवा वहम की परिचायक होती है। इस प्रकार की चिन्तायें, जिन्हें व्यर्थ की चिन्ता कहा जा सकता है, हमारी तामसिक वृत्तियों तथा नकारात्मक सोच की उपज होती हैं। इनका निदान है चित्त की वृत्तियों को सात्विक बनाना और अपनी सोच को सकारात्मक और रचनात्मक मोड़ देना। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय,—आप्त पुरुषों का सत्संग और ध्यान-योग (अर्थात् ईश्वर के ध्यान में मग्न रहना व्यर्थ की चिन्ताओं से मुक्ति का और निश्चिन्तता प्राप्ति का अनुभूत उपाय है, उसमें कोई सन्देह नहीं।)

अब रहीं कुछ वास्तविक चिन्तायें, जिनको निराधार नहीं कहा जा सकता। इन्हीं को सुलगती चिता समान कहा जाता है। पर चिता भी आख़िर ठण्डी और शान्त होती ही है। इसी प्रकार इन चिन्ताओं को बढ़ाइये मत। चिन्ता का रोना रोते रहने से चिन्ता दूर होने से रही। पर हो सकता है, कि इन सूत्रों को अपनाने से आपकी चिन्ता दूर ही हो जाय।

(१) सोचिये, कि जिस बात से आप चिन्तित है, उसका अधिक से अधिक दुष्परिणाम क्या हो सकता है। अपने-आप को मानसिक रूप से उसको झेलने के लिये तैयार कर लीजिये। इससे आपकी चिन्ता ठण्डी होने लगेगी।

(२) अब शान्ति से ईश्वर का स्मरण करते हुये सोचिये कि चिन्ता के उस दुष्परिणाम को किस प्रकार हल्का या दूर किया जा सकता है। समस्या का समाधान किस प्रकार और किन उपायों से

सम्भव है, इस पर मन में विचार कीजिये। अपनी आत्मा की आवाज़ को दबाइये मत, उसको सुनने की चेष्टा कीजिये।

(३) यदि किसी परामर्श, सहायता की ज़रूरत है, तो अनुभवी आप्त पुरुषों/ स्त्रीयों से ज़रूर लीजिये। तदुपरान्त अपनी बुद्धि से निर्णय कर समस्या के समाधान में जुट जाइये।

(४) सही परिणाम प्राप्त करने के लिये ग़लत उपायों का सहारा मत लीजिये, बेशक जोखिम कितनी भी अधिक क्यों न हो।

(५) चिन्ता आपकी है, समस्या आपकी है, अतः समाधान या कार्यान्वयन के लिये दूसरों का सहारा मत तकिये। ध्यान रहे, ईश्वर उन्हीं की मदद करता है, जो अपनी मदद आप करते हैं।

यह तो हुई चिन्ताओं के निवारण की बात। परन्तु निवारण की अपेक्षा बचाव हमेशा बेहतर होता है। यदि शान्ति के साथ एकान्त में बैठकर विचार करेगें, तो आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि कोई 'घटना' या 'परिणाम-विशेष' चिन्ता का कारण नहीं, अपितु मनुष्य की अपनी 'आसक्ति' और अपना 'असन्तोष' ही सब चिन्ताओं का मूल कारण है। निरन्तर 'अनासक्त-भाव' से रहने और कर्म करने का स्वभाव बना लीजिये, और शेष सब कुछ न्यायकारी, दयालु, फल-प्रदाता परमात्मा पर छोड़ दीजिये, चिन्ताओं से आप बचे रहेंगे। याद रखिये—'सन्तोषी सदा सुखी, और असन्तोषी सदा दुःखी भी और चिन्तित' भी। अतः चिन्ता छोड़िये, और वेदानुसार चिन्तन कीजिये। चिन्ताग्रस्त नहीं, चिन्तनशील बनिये। चिन्ता से जीवन का ह्रास होता है; सही और सामयिक चिन्तन से जीवन का विकास होता है। और चिन्तन तथा मनन की पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है—'वेद'। इसी लिये वेद ने कहा **(मा भेः)** मत डर **(मा संविक्था)** मत घबरा **(ऊर्जम् धत्स्व)** ऊर्ज धारण कर।

ऊर्ज है, शक्ति, साहस, क्षमता, ओज, तेज, बल, वीर्य। देखा जाता है, कि संशयशील व्यक्ति में विश्वास का अभाव होता है, और भयशील में क्षमता का। मैं आततायी से डरता इसलिये हूँ, कि मुझमें उससे निपटने की क्षमता नहीं है। किन्तु यदि मेरी क्षमता और शक्ति उसकी क्षमता और शक्ति से कहीं अधिक है, तो मेरे डरने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं नदी में उतरने से डरता हूँ, क्योंकि मुझे तैरना नहीं

आता। परन्तु यदि मेरी क्षमता तैर कर इंगलिश चैनल पार करने की है, तो नदी, कैसी भी हो, मुझे डरा नहीं सकती। इसीलिये मन्त्र कह रहा है कि हे मानव, चिन्ता छोड़कर यदि तुझे अपनी, अपने परिवार की, अपने संस्थान की, अपने समाज की, अपने देश की और अपनी पृथिवी की समस्याओं से जूझना है, उनको हल करना है, तो अपनी, अपने परिवार की, अपने संस्थान की, अपने समाज की, अपने देश की क्षमता, शक्ति, ओज, तेज, बल और पराक्रम को बढ़ा तथा उनको धारण करे। निर्भय, निर्भ्रान्त और निश्चिन्त होकर प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना कर। यही सार्थकता है **उर्जम् धत्स्व** की।

आदमीं वह नहीं, हालात बदल दें जिनको।
आदमीं वह हैं, जो हालात बदल देते हैं॥

मन्त्र में आगे आया (**धिषणो वीड्वी सती वीडयथाम्**) द्यौ और पृथिवी के समान दृढ़, अतिशय बलवान/ बलवती तथा सद्गुणयुक्त होते हुये सुदृढ़ रहो। यहाँ 'धिषणे' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। द्यौ और पृथिवी में पारस्परिक जो धिषणायें (ध्वनि तरंगें) उठा करती हैं, उन्हें कहते हैं, 'धिषणे'। अभयता का पाठ 'धिषणे' के माध्यम से वेद क्यों पढ़ा रहा है, यह स्पष्ट हो जाता है इस मन्त्र से।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ —अथर्व० २।१५।१

"जैसे द्यौ और पृथिवी निश्चय से न डरते हैं, न विनष्ट होते हैं, वैसे ही, मेरे प्राण, तू भयभीत मत हो।" द्यौ और पृथिवी के अनेक गुणों में दो प्रधान गुण है—न डरना और न दुःख देना (**न बिभीतः न रिष्यतः**)। इसी प्रकार हमें भी चाहिये कि इन दोनों द्यौ और पृथिवी के समान (**वीडवी**) बलयुक्त और (**सती**) सत्वगुणयुक्त होकर (**वीडयथाम्**) दृढ़तापूर्वक वीडन करें, अर्थात् बरतें और बर्त्तावें। न स्वयं डरें, न दूसरों को डरावें। यह ध्यान रहे कि निर्भय और अदम्य व्यक्ति के ही संकल्प और निर्णय वीड्वी, अर्थात् अतिशय बलवंत होते हैं। कायर और भीरु तो अपना पक्ष घड़ी-घड़ी बदलते रहते हैं। निर्भयता और अदम्यता का आपसी सम्बन्ध अक्षुण्ण है। इसी लिये मन्त्र में पुनः आया (**ऊर्जम् दधाथाम्**) ऊर्जा को धारण करे रह। उर्ज नाम धैर्य, उत्साह, साहस, शक्ति, क्षमता, बल, ओज,

तेज के समुच्च्य का है। ऊर्ज ही मनुष्य को निर्भय और अदम्य बनाता है। यों समझिये कि 'अन्दर की ऊर्जा घटी तो अभयता गई, और ऊर्जा बढी तो भीरुता गई।' ऊर्जा को धारण रखते हुए हम सब प्राणी शरीर और आत्मा से इतने सक्षम, सतोगुणी, वीर और बलवंत हो, कि भय, घबराहट, चिन्ता और उदिग्रता हमारे निकट फटक ही न सके। यह है, वेदमाता का निर्देश।

अंतिम बात। **(पाप्मा हतः, न सोम)** पाप/ अपराध नष्ट हों, सोम (सौम्यता, आनन्द) नहीं। जिस मनुष्य ने पाप/ अपराध किये हैं, वह पाप-बोध और अपराध-बोध से ग्रस्त होने के कारण कभी भय-मुक्त नहीं हो सकता। आख़िर कुकर्मो का फल तो मिलना ही है। इसी प्रकार जिस समाज, राष्ट्र और विश्व में पापों और अपराधों का बोलबाला हो, वहॉ भय और चिन्ता का आतंक छाया ही रहेगा। वह समाज, वह राष्ट्र, वह विश्व कभी भयमुक्त नहीं हो सकता। अतः हर स्तर पर पापों और अपराधों का हनन जरूरी है। अधर्म का नाश नहीं हुआ, तो धर्म कभी पनप नहीं सकेगा। इस लिये निर्भयता और अदम्यता के साथ पापों का हनन हो, ताकि सारा वातावरण भयमुक्त होकर विकास का मार्ग, सुख और शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके। कोई किसी से डरे नहीं, दबे नहीं। कोई किसी को डराये नहीं, दबाये नहीं। सब निर्भ्रान्त, निर्भय, निर्द्वन्द, निःशक और निश्चिंत हों, यही है सोमावस्था। इसी का नाम 'समत्व' है; और 'समत्व' ही सोम है, रस और आनन्द से भरपूर।

शान्ति का हनन न हो, आह्लाद को कोई छीने नहीं, सब सुखी हों, सुख-शान्ति से रहें, और सबको भयमुक्त वातावरण में सुख-शान्ति से रहने दें, यही कामना है वेद माता की, जिसको साक्षात किया है मन्त्र-दृष्टा ऋषिका मधुच्छन्दा ने।

—:o:—

५

अन्धकार से प्रकाश की ओर*

३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण।
३ २ ३ १ २ ३ १२
स्तुहि देवं सवितारम्॥ —सामवेद १७७

ऋषिः—दध्यङ् आथर्वण। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री।
स्वरः—षड्जः॥

पदपाठ—दोषा। उ। आगात। वृहद्। गाय। द्युमद्। गामन। आथर्वण। स्तुहि। देवम्। सवितारम्।

(दोषा उ आगात्) — अंधकार/ रात्रि जब घिर कर आ जाय,
(बृहद् गाय) — बृहद् गान कर [उस प्रभु का],
(द्युमद् गामन् आथर्वण) — जो है दीप्तिमान, पथ-प्रदर्शक और अकम्पित,
(स्तुहि देवं सवितारम्) — स्तुति कर सर्वोत्पादक, प्रेरक प्रकाशमान देव की।

भक्ति-रस से ओत-प्रोत सामवेद के इस मन्त्र का दृष्टा ऋषि है, 'दध्यङ्ङ आथर्वण'। 'दध्यङ्ङ' उसको कहते हैं, जिसने अष्टांग योग को सिद्ध कर लिया है और जो कुछ व्यक्त कर रहा है, उसका उसने प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया है। वस्तुतः उपासना विषय है ही आत्म-साक्षात्कारपूर्वक ईश्वर-स्तुति तथा ईश्वर-प्रणिधान का। और चूंकि

---

* आर्य जगत ९ जून १९९६, वर्ष ६१ अक २३ में प्रकाशित

मन्त्र–दृष्टा ऋषि ने प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया है, उसका अपना अनुभव है, अतः वह 'आथर्वण' है, अपनी बात में दृढ़ है, अडिग है, स्थिर है, आप उसे हिला नहीं सकते।

मन्त्र का देवता अर्थात् विषय है 'इन्द्र'। 'इन्द्र' एक तो वह है जो इस शरीर के अन्तर्गत इन्द्रियों का स्वामी है, अर्थात् देह में विद्यमान जीवात्मा, जो यद्यपि चेतन है, परन्तु सामर्थ्य से अल्पज्ञ और शरीरी होने के नाते क्षेत्रज्ञ है। (**इदं शरीरं क्षेत्रम्**) यह शरीर ही जीवात्मा का क्षेत्र है, इसीलिये वह क्षेत्रज्ञ कहाता है। दूसरा 'इन्द्र' वह है, जो अनन्त सामर्थ्यवान, सर्वज्ञ, प्रकाशमान तथा इस समस्त ब्रह्माण्ड का अधिपति है; उसी को परब्रह्म परमेश्वर कहते हैं। मन्त्र का विषय इस प्रकार 'जीवात्मा' तथा 'परमात्मा' दोनों ही हैं।

आइये, अब मन्त्र पर विचार करें। (**दोषा उ आगात्**) अंधकार/पाप आदि आकर जब घेर लें। किसको ? परमेश्वर तो (**ज्योतिषां ज्योतिः**) स्वयं प्रकाशमान और प्रकाश देने वाला है, वहाँ अंधकार का क्या काम। '**दोषा उ आगात**' की स्थिति हम शरीर–धारी जीवात्माओं की है, जिसका सामना हममें से प्रत्येक को न्यूनाधिक करना ही पड़ता है। अंधकार आकर घेरता है हमको। अँधेरे में भयभीत होते हैं हम, भटकते हैं हम, ठोकर खाते हैं हम, नितान्त अकेले, असहाय हो जाते हैं हम। न कुछ सूझता है, न दिखाई देता है। यह एक स्थिति है। दूसरी स्थिति यह है कि अन्धकार में ही हमारी वासनायें और राक्षसी वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। पर ऐसा हमारे साथ ही क्यों होता है। इस 'क्यों' को समझने के लिये पहले हमें अपने आप को समझना पड़ेगा, और फिर अन्धकार को दूर करने का मार्ग पकड़ना पड़ेगा।

हम क्या हैं ? हम है, 'जीवात्मा'+'शरीर'। जीवात्मा सूक्ष्म तत्व है, जो जब तक शरीर में है, तब तक शरीर जीवित है। जीवात्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार बिना शरीर के जीवात्मा बिल्कुल शून्य, सामर्थ्यहीन। यूँ समझ लीजिये जीवात्मा किसान है, और शरीर खेत है। किसान हो और खेत न हो, तो किसान असमर्थ। और 'खेत' हो, पर 'किसान' न हो, तो कौन, और, किस लिये, 'खेती' करे। 'खेत' और 'किसान' को

श्रीमद्‌भगवदगीता के तेरहवें अध्याय में 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है।

जीवात्मा (या क्षेत्रज्ञ) एक 'नित्य' 'अनादि' सत्ता है, किन्तु सामर्थ्य से 'अल्पज्ञ' है, हाँ, इसके अन्दर 'इच्छा', 'प्रतिस्पर्धा', 'प्रयत्न' और 'गति' करने की क्षमता ज़रूर है। शरीर से युक्त होने पर इसके कुछ और भी लिंग अर्थात् चिन्ह बन जाते हैं, जैसे सुख, दु:ख, वासना, द्वेष, अन्तर्विकार आदि।

'जीवात्मा' को अपने सीमित सामर्थ्य को सार्थक करने के लिये चाहिये 'शरीर'। इसको 'शरीर' दिया है परमात्मा ने। यही उसकी मेहरबानी है। चूंकि देने वाला शरीर का परमात्मा है, अत: वापस लेने का पुन: देने, या न देने, का हक़ भी उसी का बनता है। इस कारण परमेश्वर 'शरीर' का निमित्त कारण है।

'शरीर' का उपादान कारण (अर्थात् जिन तत्वों से शरीर बनाया गया है, वह मूल में है, एक और 'अनादि' सत्ता, जिसका नाम है 'प्रकृति'। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, इसके तीन गुण हैं, 'सत्व', 'रज' 'और' 'तम'। सृष्टि रचना से पूर्व प्रलयावस्था में 'सत्व' व 'रज' का अभाव होता है, केवल 'तम' (अन्धकार) से सारा कुछ आवृत्त रहता है। फिर सर्वोत्पादक परमेश्वर अपने 'ऋत', 'सत्य' व 'तप' से 'सत्व' व 'रज' की पूर्ति कर प्रकृति को प्रलयावस्था से 'सत्व', 'रजस' व 'तमस' की 'साम्यावस्था' में ले आता है। इस अवस्था के पश्चात ही परमेश्वर की सृष्टि-निर्माण प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रकृति के परिणामी पदार्थ, यथा 'महत' (बुद्धि-तत्व) 'अहंकार' (अस्तित्व-तत्व), 'पञ्च तन्मात्रा सूक्ष्मभूत' (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (नासिका, रसना, नेत्र, त्वचा, कान) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, मुख, उपस्थ, गुदा), 'मन', तथा पञ्च तन्मात्राओं से ही 'स्थूल भूत' (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी) उत्पन्न होते हैं। यही सब हमारे शरीर के उपादान कारण हैं। स्वभाविक है, कि यह सब प्रकृति के गुणों से यथा 'सत', 'रज' व 'तम' से प्रादुर्भूत रहते हैं। हमारा सारा चिन्तन, सारा मनन, सारा व्यावहार, सारे क्रिया-कलाप, सारे गुण-दोष इस बात पर निर्भर करते हैं, कि हमारा अन्त:करण 'सात्विक' है, 'राजसिक' है या 'तामसिक'। प्रकृति का

क्षेत्र चूंकि परिवर्तनयुक्त क्षेत्र है (छः परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं यथा 'उत्पन्न होना', 'स्थित होना', 'बढ़ना', 'परिणाम को प्राप्त होना', 'क्षीण होना' और 'नष्ट हो जाना') अतः यह नितान्त सत्य है, कि हमारी वृत्तियों में परिवर्तन होता रहता है। एक व्यक्ति, जिसे हम दुष्ट समझते हैं, सात्विक वृत्ति जाग्रत हो जाने पर महानता का परिचय दे सकता है; इसी प्रकार सन्त स्वभाव का व्यक्ति 'तम' के प्रभाव में पतित हो सकता है। गुण और विकार प्रकृति की देन हैं। गुण हैं, 'सत्व', 'रज' और 'तम' और विकार हैं पंचभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश) में प्रदुषण और अंतःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) में इच्छा, कामना और वासना द्वारा अच्छे-बुरे परिवर्तन। जीवात्मा इनसे प्रभावित अवश्य होता है, पर अपने मूल रूप में वह विकारी नहीं है।

यद्यपि हम शरीरधारियों में तीनों गुण ('सत्व', 'रज' और 'तम') सदा विद्यमान रहते हैं, परन्तु समय-समय पर कोई एक प्रधान हो जाता है। 'सत्वगुण' का बिल्कुल उल्टा 'तमोगुण' है। सत्वगुण यदि उत्साह, कर्त्तव्य-निष्ठा, ज्ञान का द्योतक है, तो तमोगुण आलस्य, अकर्मण्यता, अज्ञान का द्योतक है। मोटे तौर पर हम-आप जिन गुणों को शुभ, श्रेष्ठ और आदर्श समझते हैं, वे सब सत्वगुण में समाविष्ट हैं, और जितने भी गुण अशुभ, निकृष्ट और अधम कोटि के हैं, वे सब तमोगुण की श्रेणी में आते हैं। रजोगुण अपनी चंचल वृत्ति के कारण कभी सत्वगुण की ओर झुका होता है, और कभी तमोगुण की ओर। अतः इसके लक्षण भी इसके झुकाव अथवा इसकी चंचल वृत्ति के अनुरूप होते हैं। एक बात और, 'सत्वगुण' के अभाव में 'तमोगुण' उसी प्रकार स्वतः प्रधान हो जाता है, जैसे प्रकाश के अभाव में अन्धकार।

मन्त्र में **(दोषा उ आगात्)** का भाव यही है, कि तमोगुण का हमारे अन्दर उदय होकर हमें सब ओर से घेर लेना। यह स्थिति हमारे दुःख, क्लेषों तथा अधोगति का भी कारण हो सकती है, साथ ही हमें पापी व दोषी भी बना सकती है। आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर अवसरोचित कर्म का न करना भी उतना ही दोषपूर्ण है जितना 'विकर्म' (उल्टा कर्म) करना।

अब प्रश्न यह है कि अन्धकार रात्रि आकर जब हमें घेर ले हमारी वृत्तियाँ तामसिक हो रही हों, तो हम इस स्थिति से कैसे ऊपर उठें! अंधकार तो इतना सनातन है कि जब सृष्टि का पता भी न था, कुछ न था, तब केवल अन्धकार था, और था एक अकेला परमेश्वर। हमारी कहाँ सामर्थ्य कि इस सनातन अन्धकार को सदैव के लिये ख़त्म कर दें। तो हम क्या करें? हमें चाहिये, कि अन्धकार से न उलझ कर हम अपने अन्दर प्रकाश की व्यवस्था करें। जितना प्रकाश बढ़ता जायेगा, अन्धकार दूर अपने आप होता जायेगा।

ठीक है बाहर के अन्धकार को दूर करने के लिये हमने दीप जला लिये, पर अपने अन्दर कैसे दीप जलायें?

मन्त्र कहता है (**बृहद गाय द्युमद् गामन् आथर्वण**) अन्दर दीप जलाने के लिये, तू गा, ख़ूब ज़ोर से, जितना हो सके, गा। गाना न भी आता हो, तब भी गा। पर गा उस प्रभु की महिमा, जो है (**द्युमद्**) दीप्तिमान (**गामन्**) पथ-प्रदर्शक और (**आथर्वण**) दृढ़, अकम्पित, स्थिर।

यहाँ दो बातें महत्वपूर्ण हैं—एक "गाना", दूसरा "प्रभु की महिमा का गुण-गान गाना" यहाँ शान्त स्थिर भाव से परमेश्वर में ध्यान लगाने की बात नहीं कही गई, गाने की कही गई है, और वह भी ख़ूब ज़ोर से। विचार करेंगे, तो कहेंगे—'**नमो वेदमात्रे**' वेदमाता तुझे नमस्कार है।

देखो तम का प्रभाव है। आलस्य, निद्रा, निष्क्रियता अनिच्छा छाती जा रही है। ऐसी स्थिति में पहले तो साधक को सक्रिय बनाना है, उसके आलस्य, निद्रा, प्रमाद को दूर करना है, यह कार्य केवल मात्र "'उठो', 'जागो' और 'अपने' लक्ष्य को प्राप्त करो" कहने से नहीं हो जायेगा। अतः प्रथम उपचार के रूप में वेद माँ कह रही है, तू गा, ख़ूब ज़ोर से गा, इतनी जोर से गा, कि वह अन्धेरे को चीर कर रख दे। गाना (संगीत) एक ऐसी साधना है जो हमारे सम्पूर्ण अंतःकरण को, हमारी समस्त इन्द्रियों को और आत्मा को झंकृत कर देती है। गाने वाला केवल वाणी से नहीं गाता; समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरण एक जुट होकर वाणी के साथ होते हैं, तब गाना होता है। चित्त की एकाग्रता के लिये गाना अत्यन्त लाभदायक है। प्रभु-स्तवन, चिन्तन,

मनन, निदिध्यासन एवं यज्ञ, प्रवचन आदि में, पहले और बाद में गायन (चाहे वह स्वस्तिगान हो या वामदेव्यगान हो या भजन के रूप में हो) की परम्परा बड़ी प्राचीन है। गायन तम के प्रभाव को प्रभावी होने से रोकता भी है, और यदि तम आकर डेरा डाल ले, तो उसका बिस्तर गोल करने की भी क्षमता रखता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है 'गान की महिमा का'। प्रभु अनन्त नाम व गुण वाला है, परन्तु यहाँ उद्देश्य है अन्धकार को दूर करना। अतः उद्देश्य के अनुरूप ही मन्त्र में प्रभु के गुणों का वर्णन किया गया है। अन्धकार को दूर करने के लिये एक तो प्रकाश की आवश्यकता है, अतः परमेश्वर को (द्युमद्) चमकते हुये दीप्तिमान, प्रकाशपुंज के रूप में स्मरण किया गया है। आलोक की एक ही किरण अंधकार को ख़त्म कर देती है, पर जहाँ परमेश्वर का अनन्त प्रकाश आ जाय, वहाँ अंधकार का क्या काम। दूसरा सम्बोधन है **(गामन्)** प्रकाश को लेकर चलने वाला। घोर घने जंगल में अंधियारी रात में जो व्यक्ति मशाल, लैम्प या लालटेन लेकर मार्ग दिखाता हुआ आगे-आगे चलता है, वेद की भाषा में उसको कहते हैं, 'गामन' (अंग्रेजी में TORCH BEARER) अंधियारा को दूर करने के लिये हम उसको मशालची पथ-प्रदर्शक के रूप में स्मरण करते हैं। तीसरा सम्बोधन है **(आथर्वण)**। आथर्वण वह शिक्षक/ मार्ग-दर्शक है जो अपने ज्ञान में परिपूर्ण है, सुदृढ़ है, सुस्थिर है, अकम्पित है। हमारे अन्दर के अन्धकार का मूल कारण है 'अज्ञान', 'अविद्या', 'अस्मिता'। परमेश्वर ही ऐसा ज्ञानी गुरु है, जो हमारी आत्मा पर पड़े मल, विक्षेप तथा आवरण को हटा कर हमें अपना शुद्ध स्वरूप और आत्म-बल का दर्शन कराता है। स्व-सामर्थ्य और स्व-शक्तियों का एहसास़ हमें सक्रिय बनाकर बड़े से बड़े संग्रामों में विजय-श्री दिलवा देता है।

प्रभु के 'द्युमद्', 'गामन्', 'आथर्वण' स्वरूप को गान करके हमने अन्धकार को भगा दिया है। हम उस स्थिति में पहुँच गये हैं, जहाँ हमारी निष्क्रियता समाप्त हो गई है, मोह नष्ट हो गया है। ज्ञान के प्रकाश से हम आलोकित हो उठे हैं। मन निर्विकार हो गया है। बुद्धि प्रखर हो चुकी है। मन में लगन और चित्त में उत्साह है। अब क्या करें?

मन्त्र कहता है **(स्तुहि देवं सवितारम्)** उस 'सविता-देव' की स्तुति करो। देवं का अर्थ है—सब दिव्य गुणों के भण्डार। सवितारं के अर्थ हैं—सब को सदा उत्तम प्रेरणा देने वाला। यह परमेश प्रभु के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। मालिक तो सबका वही एक है, उसी से पूछो, क्या करें। वही काम बतायेगा, वही प्रेरणा देगा, और वही संकल्पों और व्रतों को पूरा करेगा। देखो, जब कार्य हम अपनी मर्ज़ी से करते हैं, तब वह कर्म हमारे बन्धन का कारण बन जाता है। पर जो कर्म हम परमेश्वर की इच्छा या आज्ञा से करते हैं, और प्रभु को समर्पण करके करते हैं, वे कर्म हमारे बन्धन के कारण नहीं होते।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठिन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

—श्रीमद्भगवदगीता अ० ३।३०-३१

मुझ (ईश्वर) में अध्यात्म-चित्त (कल्याण की भावना) से सब कर्मों का समर्पण करके, आशा-रहित, ममता-रहित और संताप-रहित होकर युद्ध कर। जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त तथा ईर्ष्यारहित हो मेरी इच्छानुसार कर्म करता है, वह सम्पूर्ण कर्म (फलों/ बन्धनों) से मुक्त हो जाता है।

अतः हमें तो यही उचित है, कि हम सब सदा उत्तम प्रेरणा देने वाले, दिव्य गुणों के भण्डार सर्वोत्पादक सविता देव की स्तुति करें। यह स्तुति जितनी प्रातः और सायंकाल में आवश्यक है उतनी ही रात्रि में। निद्रा को यदि 'योग निद्रा' बनाना है, और प्रत्येक रात्रि को 'शिव रात्रि' बनाना है, तो शयन से पूर्व ईश्वर की स्तुति और मन का शिव-संकल्प वाला होना अति आवश्यक है। प्रभु की प्रेरणानुसार कर्मों को, समर्पण की भावना से, प्रभु का आदेश मानते हुये, जब हम करेंगे, तभी हम प्रकृति के गुणों और विकारों में न उलझ कर, गुणातीत बन कर निष्काम भाव से अपने प्रभु-प्रदत्त कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वहन कर सकेंगे। इसी में हमारा कल्याण है।

संकट ने जब घेरा हो,
चारों ओर अंधेरा हो,
गान कर तब उच्च स्वर से,
दीप्तिमान उस प्रभु का,
जो है अकम्पित और गतिशील ॥ १ ॥

स्तुति कर उस परमपिता की,
करता दूर जो अन्धकार को,
प्रेरित करता जन-मानस को,
नहीं महान उस जैसा कोई,
प्रेरक, शिक्षक और न्यायशील ॥ २ ॥



६

मृत्यु के बन्धन से मुक्ति, अमृत से नहीं*

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

—ऋग्वेद ७।५९।१२

ऋषिः—वसिष्ठ। देवताः—रुद्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पदपाठ—त्रि-अम्बकम्। यजामहे। सु-गन्धिम्। पुष्टि-वर्धनम्। उर्वारुकम्। इव। बन्धनात्। मृत्योः। मुक्षीय। मा। अमृतात्॥

(त्र्यम्बकम् यजामहे सुगन्धिम् पुष्टि-वर्धनम्)	—	सुगिन्धयुक्त, पुष्टिवर्धक त्रि-अम्बक परमेश्वर का (हम) यजन करते हैं।
(उर्वारुकम् इव बन्धनात् मृत्योः मुक्षीय)	—	उर्वारुक के समान (मैं) मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो जाऊँ,
(मा अमृतात्)	—	अमृत से नहीं॥

यों तो वेद के सभी मन्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, परन्तु गायत्री मन्त्र के पश्चात जितनी प्रसिद्धि इस 'महामृत्युञ्जय मन्त्र' को मिली है, उतनी अन्यों को नहीं। और शायद यही कारण है कि जितनी

---

* आर्य जगत के ६ अप्रैल १९९७ के वर्ष ६२ अक १४ में ''मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाऊँ, अमृत से नहीं'' शीर्षक से प्रकाशित

मिट्टी पलीद इस मन्त्र की हुई है, उतनी किसी अन्य मन्त्र की नहीं। कोई इस मन्त्र से किसी शारीरिक रोग या कष्ट का शमन चाहता है, ताकि मृत्यु उसके पास न आवे। कोई इस मन्त्र से अपने किसी प्रिय मरणासन्न व्यक्ति का त्राण चाहता है, ताकि मृत्यु को जितना हो सके टाला जा सके। कुछ एक पुरोहितों, पण्डितों और ज्योतिषीयों का यह 'महामृत्युञ्जय मन्त्र' रोज़ी-रोटी का साधन है, जिसका अनुष्ठान वे अपने यजमानों को ग्रहों, उपग्रहों के कोप से बचाने के लिये भरपूर दान दक्षिणा के बदले करते हैं।

तान्त्रिकों में भी 'महामृत्युञ्जय मन्त्र' का अनुष्ठान प्रचलित है सिद्धियों को सिद्ध करने तथा अपने आपको 'मृत्युञ्जयी' प्रदर्शित करने के लिये। अपने भक्तों को भी तन्त्र के मायाजाल में फंसा कर वे इस मन्त्र का अनुष्ठान करवाते हैं, ताकि उनके भक्तों को कोई हानि न पहुँचे, वे निष्कंटक हो जायें।

इससे पूर्व कि हम मन्त्र के अर्थों पर विचार करें, हमें यह अच्छी तरह से समझना होगा, कि 'वेद' कोई जादू-टोने या चमत्कार के ग्रन्थ नहीं। वेद तो जीवन-ग्रन्थ हैं। उनमें है, निर्भ्रान्त सत्य ज्ञान, जो परमात्मा की ओर से मनुष्यों को मिला है, जीवन को सफ़ल और सार्थक बना कर, उस परमानन्द की प्राप्ति के लिये, जिस आनन्द की युगों-युगों से देहधारी आत्माओं को तलाश है। वेद तो उन सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, जिनका जानना समझना और व्यवहृत करना सब मनुष्यों को हितकर है और जिनका आदिमूल परमेश्वर है।

प्रस्तुत मन्त्र में वह 'साधना विज्ञान' भरा पड़ा है, जिसको जीवन-पर्यन्त करने से मनुष्य, जैसा कि मन्त्र के शब्दार्थ से स्पष्ट है, 'मृत्यु के बन्धन से मुक्त और अमृत से युक्त हो जाता है'। मन्त्र में मुक्ति की कामना है, परन्तु 'मृत्यु' से नहीं, अपितु 'मृत्यु के बन्धनों से'। सामान्य रूप से भी, जिसे लोग मृत्यु कहते हैं, उसका परिणाम दुःख नहीं, क्योंकि वह तो चिर-शान्ति है। दुःख, भय, क्लेश, पीड़ा, जो भी मनुष्य भोगता है, वह तो जीते जी भोगता है। मर गया तो कहाँ का दुःख, कैसी पीड़ा, कौन सा भय? तो जीते जी, न चाहते हुये भी, जो दुःख, भय, क्लेश, पीड़ा, कष्ट आदि भोगने पड़ते हैं, वे ही हैं 'मृत्यु के बन्धन'; जिनसे मुक्ति की मन्त्र में बड़ी प्रबल याचना

की गई है।

मन्त्र को यदि सही रूप में समझना है, तो तीन शब्दों को पहले ठीक-ठीक समझना होगा। यह हैं—(१) मृत्यु; (२) मृत्योः बन्धनात (मृत्यु के बन्धन), और (३) अमृत।

मृत्यु का एक दृष्टि से अर्थ है—मृत्+युः अर्थात् 'मिट्टी का खेल'। मिट्टी को आकार देना और फिर उसका मिट्टी में ही मिल जाना। कुम्हार मिट्‌टी से बरतन, खिलौने, मूर्त्तियाँ आदि बनाता है, कुछ कच्चे टूट जाते हैं, कुछ पकने के दौरान टूट जाते हैं, कुछ अधपके टूट जाते हैं, कुछ पकने के बाद कुछ दिनों तक रहते हैं, पर आखिर एक दिन मिट्टी के होने के कारण टूट ही जाते हैं। बनने-बिगड़ने-टूटने का यह सिलसिला चलता रहता है, परन्तु फिर भी कुम्हार का मृत्तिका-शिल्प चलता रहता है, और चलता रहेगा जब तक मिट्टी के बरतन, खिलौने और मूर्त्तियों आदि की माँग (अर्थात् उनकी आवश्यकता) रहेगी। हर एक समझदार व्यक्ति इससे सहमत होगा, कि मिट्टी के बरतन बनते-बिगड़ते-टूटते रहें, तो कोई बात नहीं, परन्तु 'मृत्कला' और 'मृत्तिका-शिल्प' नहीं समाप्त होने चाहिये, इनका बना रहना समय की आवश्यकताओं के अनुसार ज़रूरी है।

अब ज़रा आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें। अपने पर नज़र डालें। 'आत्मा' और 'शरीर' के संयोग पर हमारा वर्तमान रूप में अस्तित्व है। इसमें 'आत्मा' तो अमर है। इसको न कोई मार सकता है, न मिटा सकता है, न काट सकता है, न जला सकता है। परमात्मा की तरह जीवात्मा भी अनादि है। किन्तु परमात्मा जहाँ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और अनन्त सामर्थ्य वाला है, जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति और शून्य-सामर्थ्य वाला है। जीवात्मा को सामर्थ्य प्रदान करता है 'शरीर', जिसका बनाने वाला है परमात्मा, किन्तु उपादान कारण है प्रकृति। जो चीज़ बनी है, अर्थात् जिसका आदि है, उनका अन्त होना ही होना है। इस प्रकार जहाँ शरीर की उत्पत्ति इसका 'जन्म' है, वहाँ शरीर का अन्त इसकी 'मृत्यु' है। जब तक जीवात्मा को शक्ति और सामर्थ्य प्राप्ति हेतु शरीर की आवश्यकता रहेगी; मिट्टी की यह खिलौना—शरीर—बनता भी रहेगा, और टूटता भी रहेगा; जन्मता भी रहेगा, मरता भी रहेगा। मिट्टी के खिलौने की क्या गारंटी।

संभाल के रखो तो वर्षों बना रहे; असावधानी से क्षण भर में टूट जाये। अतः जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु भी है। और जिसकी मृत्यु है, उसका जन्म भी निश्चित है। इस प्रकार हर मौत एक नई ज़िन्दगी का पैग़ाम है। शरीर की मृत्यु आगे-पीछे, समय-असमय, काल, स्थिति और कर्मानुसार होती रही है, होती रहेगी। किसी भी मन्त्र-तन्त्र से इसको टाला या रोका नहीं जा सकता।

मृत्यु को एक अन्य प्रकार से यों परिभाषित किया जा सकता है, कि जो कुछ भी 'अमृत' नहीं है, वह मृत है। अतः 'अमृत' का अभाव या उसका विपरीत मृत्यु है। 'अमृत' शब्द के जितने अर्थ हैं, उतने ही तद्विपरीत अर्थ 'मृत्यु' शब्द के लिये जा सकते हैं। इस दृष्टि से विचार 'अमृत' की व्याख्या में करेंगे।

मृत्यु के विषय में एक तीसरा दृष्टिकोण है 'मार्ग या पथ की दृष्टि से'। इस संसार में दो मार्ग हैं जीवन को चलाने के लिये। एक है 'श्रेय' मार्ग और दूसरा है 'प्रेय' मार्ग। एक है 'सत्य' तथा 'धर्म' का मार्ग, और दूसरा है—'असत्य' तथा 'अधर्म' का मार्ग। एक का नाम है, 'योग-जीवन पद्धति' और दूसरे मार्ग का नाम है 'भोग जीवन-पद्धति'। जिस प्राणी का मार्ग 'श्रेय' है, 'सत्य', 'धर्म' तथा 'योग' पर आधारित है, वह जीते जी 'अमृत' की ओर जा रहा है। और जिस व्यक्ति ने 'प्रेय' मार्ग को अपनाया है, जो केवल 'असत्य' 'अधर्म' और मौज-मज़ा तथा विषय-भोग पर आधारित है, वह जीते जी साक्षात मृत्यु के गर्त में जा रहा है।

मृत्यु के विषय में चौथा दृष्टिकोण यह है, कि मृत्यु जीते जी भी, एक नहीं, अनेकों रूप में हो सकती है, यदि जीवन के व्यवहार में सावधानी नहीं बरती गई। जैसे, जिसका अनैतिक कार्यों से नैतिक पतन हो गया, उसकी नैतिक मृत्यु। जो चरित्र से गिर गया, उसी चारित्रिक मृत्यु। जिसने अपनी आत्मा की आवाज़ को कुचल डाला। उसकी आत्मिक मृत्यु। जो अपने माता-पिता तथा स्वजनों का न हुआ, उनसे विमुख हो गया, उसकी पारिवारिक मृत्यु। जिसने असामाजिक तत्वों के साथ मिलकर समाज का अहित किया, उच्च सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ा उसकी सामाजिक मृत्यु। जिसने अनाचार और भ्रष्टाचार का आश्रय लेकर राष्ट्र के साथ धोखा किया,

राष्ट्र के प्रति निष्ठा की शपथ लेकर राष्ट्र का ही अहित किया, उसकी राष्ट्रीय मृत्यु। इसी प्रकार डरपोक, बलहीन, मानसिक रूप से पराजित अकर्मण्य और कायर व्यक्ति, जीते हुये भी अनेकों बार मरा करते है।

मृत्यु के इस विश्लेषण से 'मृत्यु के बन्धनों' को समझा जा सकता है। एक मृत्यु जिसे देहान्त कहते हैं, वह तो अवस्थान्तर मृत्यु है। यह तो होनी ही है। क्या हम नहीं देखते कि शैशव की मृत्यु पर कुमारावस्था का जन्म होता है। कुमारावस्था की मृत्यु पर युवावस्था का जन्म होता है। युवावस्था की मृत्यु पर वृद्धावस्था का जन्म होता है। वृद्धावस्था की मृत्यु ही देहान्त है, जिसका फल पुनर्जन्म है। '**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च**' (गीता २। २७) जन्मने वाले की मृत्यु निश्चित है, और मरने वाले का जन्म निश्चित है। इस मरण और जन्म में 'कर्मों के बन्धन' तो प्रभावी हो सकते हैं, परन्तु मृत्यु के कोई बन्धन नहीं। यह मृत्यु तो पुराने वस्त्र उतारने के समान है, ताकि नये वस्त्रों को धारण किया जा सके। अब यदि कोई पुराने वस्त्र को नहीं त्यागना चाहता, तो यह पुराने वस्त्र का बन्धन नहीं, कोरा अज्ञान है। तो यहाँ मृत्यु का बन्धन नहीं, अज्ञान का बन्धन है। हाँ, अन्य सब प्रकार की मृत्यों, जिनका विवेचन पहले किया जा चुका है, उनके बन्धन हैं। इन पाशों में जो उलझा, वह उलझता जाता है। अमृत को छोड़कर विषपान करना (अध्यात्म में, परमात्मा को छोड़कर विषयों के सेवन में लिप्त रहना) मृत्यु का बन्धन है। 'श्रेय मार्ग' को छोड़कर 'प्रेय मार्ग' को अपनाना मृत्यु का बन्धन है। जीते जी, नैतिक चारित्रिक, पारिवारिक, सामाजिक मृत्यों का शिकार होना मृत्यु का बन्धन है। कायरता, आसक्ति, प्रमाद, लोलुपता तथा काम-क्रोध, लोभ, मद और मोह के वशीभूत होकर मृत्यु को बुलावा देना मृत्यु के बन्धन हैं। संक्षेप में, जो कुछ भी अन्ततोगत्वा कष्टमय, पीड़ामय, दुःखमय, तथा मृत्युमय है, उनमें फंसना और उलझना मृत्यु के बन्धनों में अपने आप को जकड़ना है। मन्त्र में मृत्यु के जिन बन्धनों से मुक्त होने की बात कही गई है, वे बन्धन यही हैं, जिनके कारण अखिल विश्व में नैतिकता कराह रही है, और मानवता मर रही है।

'अमृत' क्या है ? शरीर के लिये 'प्राण', 'वायु', 'अन्न', 'वीर्य'

अमृत है। मन के लिये 'सुविचार', 'शुभ-संकल्प', 'निर्भयता' आदि अमृत है। बुद्धि के लिये 'सद्ज्ञान', 'सत्यविद्या', 'सद्विवेक' अमृत है। चित्त के लिये 'अनासक्ति', 'निर्लेपता', 'निस्पृहता' तथा 'समत्वता' अमृत है। आत्मा के लिये 'परमात्मा' अमृत है। संक्षेप में, शरीर के लिये जो कुछ भी आयुवर्धक व पुष्टिकारक है, मन, बुद्धि, चित्त को जो कुछ भी प्रबुद्ध तथा समता (शान्ति) प्रदान करने वाला है, आत्मा को जो 'आत्म-ज्ञान', 'आत्मबल' तथा 'आत्मानन्द' प्रदान करने वाला है, वह सब 'अमृत' है। उससे उल्टा जो कुछ है, वह 'मृत्यु' है। और जो 'अमृत' है, वही 'ब्रह्म' है। इसीलिये वेद में आया **'यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः'** (यजुः० २५।१३) जिसकी छाया (आश्रय) अमृत है, [और] जिसकी उपेक्षा (छाया से वंचित स्थिति) मृत्यु है। आध्यात्मिक दृष्टि से इससे सरल, सुन्दर तथा सुस्पष्ट परिभाषा 'अमृत' और 'मृत्यु' की नहीं हो सकती।

कैसे प्राप्त करें, उस 'अमृत' को? तो उत्तर है—उस सुखस्वरूप सकल ज्ञान के देने वाले परमात्मा की आत्मा और अन्तःकरण की हवियों से विशेष भक्ति करें। इसी को महामृत्युञ्जय मन्त्र में यो कहा है—**(त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्)** हम महान यश [कीर्ति] की सुगन्ध से युक्त, पुष्टि का वर्धन करने वाले उस त्र्यम्बक परमेश्वर का निरन्तर यजन करें। परमात्मा को यहाँ 'त्र्यम्बक' कहा है। त्रि-अम्बक का अर्थ है, तीन नेत्रों वाला। परमात्मा अपनी व्यापकता से तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य, अथवा सृष्टि से सम्बद्ध 'उत्पत्ति', 'स्थिति' तथा 'प्रलयकाल') तथा तीनों लोकों (द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी) पर अपनी दृष्टि रखता है। इस प्रकार 'दिव्यद्रष्टा', 'सर्वद्रष्टा' और 'हितद्रष्टा' होने से परमात्मा त्र्यम्बक है। त्र्यम्बक ही 'शिव' है, 'शाश्वत' है, और 'शंकर' है। ऐसे त्र्यम्बक की प्राप्ति के लिये साधक जो 'स्तुति', 'उपासना' तथा 'समर्पण' (अर्थात् पूजा, संगतिकरण, तथा दान) करता है, वही उसका यजन है। इस यज्ञ में हवियाँ होनी चाहिये अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अंह) तथा अन्तरात्मा की। किन्तु यह हवियाँ सुगन्धियुक्त और पुष्टि-वर्धक होनी चाहियें। जिसका अन्तःकरण मलिन है, दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुष्कर्मों की दुर्गन्ध जिसके अन्तःकरण से आ रही हो, वह उस

त्र्यम्बक का यजन नहीं कर पायेगा। जिसका आत्मा न स्वयं आत्म-बल और आत्म-ज्ञान से पुष्ट है,और न मानव समाज में बल और ज्ञान का वर्धन करने वाला है, वह भी उस त्र्यम्बक परमेश्वर से युक्त नहीं हो पायेगा। इस प्रकार साधक जब सुगन्धियुक्त और पुष्टिवर्धक होता है, तब वह उस त्र्यम्बक की संदृष्टि में ठहर पाता है, वरना यजन का मात्र दिखावा करने पर त्र्यम्बक का रुद्र रूप उसको रुला डालता है।

ध्यान रहे, त्र्यम्बक परमेश्वर के अलंकारिक भाषा में जैसे तीन-नेत्र है, वैसे ही दो रूप हैं—'भव' और 'शर्व'। 'भव' कल्याणकारी है, वह सुखी करता है। 'शर्व' संहारकारी है, वह सब ओर से चढ़ाई करता है। **भवा शर्वौ मृडतं माभियातं** (अथर्व० ११।२।१)। चूंकि वह सर्वदृक है, अतः उसकी दृष्टि से कोई बच नहीं पाता। जो जैसा अच्छा बुरा करता है, वैसा ही फल वह उससे पाता है। कीर्त्ति और यश की सुगन्धि से युक्त तथा ज्ञान और बल से पुष्टिवर्धक जन जब उस त्र्यम्बक प्रभु से युक्त होते हैं आत्मना आत्म-समर्पण करके, और करते हैं निरन्तर उसका यजन, तब ही उनको अमृत की प्राप्ति होती है। क्योंकि

'अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्'॥
(अथर्व० १०।८।४४)

वह परमात्मा ही अकामः, धीरः, अमृतः, स्वयंभू, रस से परिपूर्ण और कहीं से भी न्यून नहीं है। उसी धीर, जरा-रहित, युवा परमात्मा को जाननेवाला विद्वान मृत्यु से भयभीत नहीं होता।

मैं भी यदि इच्छुक हूँ, कि (**उर्वारुकम् इव बन्धनात मृत्योः मुक्षीय, मा अमृतात्**) उर्वारुक के समान मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो जाऊँ, [किन्तु] अमृत से नहीं, तो सुगन्धियुक्त और पुष्टिवर्धक बन कर त्र्यम्बक प्रभु का यजन करूँ। इस प्रकार यह महामृत्युञ्जय मन्त्र व्यक्तिगत यौगिक साधना का मन्त्र है, जिसका अनुष्ठान जीते जी हर उस व्यक्ति को करना चाहिये, जो अमरत्व पाना चाहता है। जब सारा जीवन उर्वारुक के समान सुगन्धियुक्त और पुष्टिवर्धक होगा, अर्थात् जीवन भर ऐसे श्रेष्ठतम कर्म किये होंगे, जिनकी ख़ुशबू

दूर-दूर तक फैली होगी, जब ऐसे सुन्दर कर्मों से मानव समाज, स्व-राष्ट्र और सम्पूर्ण वसुधा का पुष्टिवर्धन हुआ होगा, तब वह प्रभु का प्यारा व्यक्ति मृत्यु के बन्धनों से मुक्त होकर अमर-पद को अत्यन्त सहजता से प्राप्त करेगा, इसमे सन्देह नहीं।

मन्त्र में **(उर्वारुकम् इव)** उर्वारुक के समान जो उपमा दी है, वह भी अपने-आप में बड़ी ही महत्वपूर्ण है। 'उरु' का अर्थ है बड़ा। 'आ' का अर्थ है पूर्ण। 'रुक' कहते हैं **'परिपक्वता'** को। मानवों में जो व्यक्ति महान और पूर्णतया परिपक्व है, वह एक प्रकार से 'उर्वारुक' है। इसी प्रकार फलों में जो फल अपने पूर्ण आकार को प्राप्त होकर पूरी तरह पक जाता है, उसकी संज्ञा होती है, उर्वारुक। ऐसे फल हैं आम, ख़रबूजा, तरबूज़ आदि। इन पके हुये फलों का रस मधुर और अमृत के समान गुणकारी होता है। इन फलों की तीन प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं—(१) पकने वाले फल के साथ-साथ अन्य फल भी पकने शुरु हो जाते हैं। ख़रबूज़ों के विषय में तो प्रचलित कहावत ही है, कि 'ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूज़ा रंग पकड़ता है'। (२) पूर्णतया पक जाने के उपरान्त यह फल स्वयमेव ही अपनी शाख़ या बेल से अलग हो जाते हैं, इन्हें तोड़ना नहीं पड़ता। (३) पके हुये यह फल सुगन्धियुक्त और पुष्टिवर्धक होते हैं। तो वेद के अनुसार हमारी जीवन-साधना उर्वारुक समान बनने के लिये होनी चाहिये। हम यदि अपने जीवन में परिपक्व होंगे, तो हमारी देखादेखी अन्यों में भी परिपक्वता आयेगी। हम ही यदि उच्छृंखल हो गये, तो अन्यों में भी उच्छृंखलता को बढ़ावा मिलेगा। आज सम्पूर्ण पृथिवी पर ऐसे श्रेष्ठ नर-नारियों की आवश्यकता है, जिनके अन्दर परिपक्वता हो, जिनका जीवन और जिनके कार्य सुगन्धियुक्त और पुष्टिवर्धक हों, जिन्होंने स्वयं अमृत छका हो, जिससे वे दूसरों को भी अमृत छका सकें। स्वभाविक है कि ऐसे अमृतमय व्यक्ति मर कर (अर्थात् देह त्याग कर) भी नहीं मरते। देह त्याग के समय भी उनके मुख पर ऐसी आभा, ऐसी दीप्ति, ऐसी सन्तुष्टि होती है, जो अन्यों के लिये अविस्मरणीय प्रेरणा का स्रोत बन जाती है। मृत्यु का भय उनको सताता नहीं। मृत्यु के बन्धनों से ऊपर उठकर वे अमर पद को प्राप्त कर लेते हैं, हमेशा-हमेशा के

लिये अमर हो जाते हैं। ऐसे साधकों के प्रति वेद का कथन है—

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्॥

—अथर्व० ८।२।१३

"जातवेदस (सर्वज्ञ) प्रभु तेरे प्राण को अग्निस्वरूप, अमृतमय और उत्तम आयुष्य से सम्पन्न करे। जिससे अमृतमय होकर तू रिसे नहीं (अर्थात् जीवन्त जीवन जीये तेरा ऊर्ध्व-गमन हो, अधोगमन नहीं)। तुझे उस ब्रह्म से युक्त करता हूँ जो अमृत है। निश्चय से तेरा जीवन समृद्धि से भरपूर हो।"

अन्तिम बात। यों तो वेद के अनुसार दीर्घ आयुष्य को प्राप्त करना, शरीर और आत्मा को पुष्ट रखना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये। पर 'अमृत' और 'अमरत्व' की दृष्टि से आयुष्य की अंको में गिनती नहीं, जीवन की गुणवत्ता और गुणात्मकता महत्वपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार '**प्रजापतिर्वा अमृतः**' प्रजापति होना अमृत है।

प्रजापति वही है, जो प्रजा (अर्थात् लोगों) का रक्षण करता है। प्रजा को असत्य से हटा कर सत्य की ओर, अन्धकार से हटा कर प्रकाश की ओर और मृत्यु (दुःखों, क्लेशों, कष्टों) से छुड़ा कर अमृत की ओर सतत प्रेरित करता है, ओर तदानुकूल पुरुषार्थ करता है। '**जीवतां ज्योतिरभ्येवर्ह्याङ्ग**' (अथर्व० ८।२।२) जीवन्त होकर ज्योति को साक्षात प्राप्त करना अमृत है। सत्य विद्या और श्रेष्ठतम कर्मों का श्रम और तप से यजन करना अमृत है। 'भय', 'भ्रान्ति' और 'भोग' ही मृत्यु के बन्धन हैं। उत्तम ज्ञान, कर्म और उपासना द्वारा इन बन्धनों से मुक्त होकर 'निर्भय', 'निर्भ्रान्त' और 'निर्भोग' हो जाना अमृत है। दुर्गुणों और अनिष्टकारक कर्मों से अलग रहकर सुगन्धियुक्त और पुष्टिवर्धक कर्मों का जीवन में सुसम्पादन करना अमृत है। ऐसे अमृत से मैं आत्म साधना द्वारा जीवन भर त्र्यम्बक (दिव्य, शुद्ध और सर्वदृक) परमात्मा का यजन करते हुये युक्त रहूँ, यह है महामृत्युञ्जय मन्त्र का अभिप्राय। अमृत की साध लेकर मैं जीवन में वह साधना और ऐसे श्रेष्ठतम कर्म करूँ, कि युग-युग तक मैं अमर हो जाँऊ, यह है महामृत्युञ्जय मन्त्र का सही अनुष्ठान॥

वेदों में जिस तथ्य को बार-बार दोहराया गया है, वह यही है—

"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

—यजुर्वेद ३१।१८

उस परम-पुरुष परमात्मा को जानकर ही जीवात्मा मृत्यु को पार कर पाता है। अन्य कोई मार्ग मृत्यु से तरने के लिये नहीं है।

—:o:—

७

मानवीय व्यवहार का मूल : पारस्परिक मित्रता की भावना*

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ —*यजुर्वेद ३६ / १८*

ऋषिः—दध्यङ् आथर्वण। देवताः—ईश्वरः। छन्दः—भूरिग् जगती।

पदपाठ—दृते। दृꣳह। मा। मित्रस्य। मा। चक्षुषा। सर्वाणि। भूतानि। सम्–ईक्षन्ताम्। मित्रस्य। अहम्। चक्षुषा। सर्वाणि। भूतानि। सम्–ईक्षे। मित्रस्य। चक्षुषा। सम्–ईक्षामहे।

(दृते) — हे सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्व–शक्तिमान सर्वरसपरिपूर्ण परमेश्वर!

(मा दृꣳह) — मुझे दृढ़ कर।

(सर्वाणि भूतानि मा मित्रस्य चक्षुषा सम्–ईक्षन्ताम्) — समस्त प्राणि–वर्ग मुझको मित्र की दृष्टि से सम्यक् देखें।

(अहम् सर्वाणि भूतानि — मैं (स्वयं) सब प्राणियों को मित्र

---

* आर्यजगत् २८ सितम्बर, १९९७, वर्ष ६२ अंक ३९ में "धर्म का सार समझें : एक–दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें" शीर्षक से प्रकाशित।

मित्रस्य चक्षुषा सम्-ईक्षे) की दृष्टि से सम्यक् देखूँ।
(मित्रस्य चक्षुषा सम्-ईक्षामहे) —[हम सब लोग परस्पर एक-दूसरे को] मित्र की दृष्टि से सम्यक् देखते रहें/ देखा करें॥

यह मन्त्र वेद के उन अनेक मन्त्रों में से एक है, जिनको 'मानव-धर्म' का मूलाधार कहा जा सकता है। प्यार पाना और प्यार देना, हर प्राणी का अधिकार भी है, और कर्त्तव्य भी। मानवाधिकारों का सिलसिला 'मानव-धर्म' के मूलभूत आदर्शों से शुरू होता है।

मन्त्र का पहला भाग प्रत्येक प्राणी की उस आकांक्षा को व्यक्त करता है, जिसमें कामना है—**(सर्वाणि भूतानि मा मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम्)** समस्त प्राणी-वर्ग मुझको मित्र की दृष्टि से सम्यक् देखे। हर कोई चाहता है, कि कोई भी उसको बुरी नज़र से न देखे। प्रत्येक मनुष्य की यह कामना होती है, कि कोई भी उसको टेढ़ी, क्रूर, क्रोधित, लोलुप, आक्रामक, हिंसक, दुष्ट, संदिग्ध, संशकित, कुपित, तथा भयावह आँखों से न देखे। दूसरे के नेत्रों में करुणा, दया, मैत्री और प्रेम छलकता हो, यह सभी चाहते हैं। यहाँ तक कि विषैले जीव-जन्तुओं, हिंसक वन्य पशुओं तथा घोर शत्रुओं से भी इस मनुष्य की अपेक्षा यही रहती है, कि वे उसको न तो लेशमात्र भयभीत करें, न छेड़ें; एकदम उसके प्रति निःस्पृहता का व्यवहार करें।

कितनी बड़ी विडम्बना है, कि अपने प्रति इस प्रकार की चाहतों और अपेक्षाओं को रखते हुये भी, दूसरों के प्रति, यह मनुष्य यह समझता है, कि वह पूर्णतया स्वतन्त्र है। दूसरों को वह जैसे चाहे, वैसी नज़र से देख सकता है। उसकी मरज़ी है, कि जिसको वह चाहे,—लोलुप, कामुक, क्रोधित, हिंसक, दुष्ट, संशकित तथा कुपित नज़रों से देखे; मानो, अच्छी/बुरी नज़र से दूसरों को देखना उसका मौलिक अधिकार हो। और तो और, शान्त और अपने में मस्त पशु-पक्षियों को छेड़ना, उनको डराना, तंग करना, मारना तथा पीड़ित करना यह अपना अधिकार समझता है।

विपक्षी अथवा शत्रु को देख कर इस मनुष्य की आँखें अंगारे बरसाने लगती है। अवसर मिल जाने पर विरोधियों और शत्रुओं को

जैसे चाहे, जब चाहे, पीड़ा देना, मार देना या मिटा देना, यह अपना अधिकार समझता है। अपने के अतिरिक्त दूसरों के लिये इसकी उक्ति है, कि "मुहब्बत और जंग में सब कुछ जायज़ है।" कैसी विचित्र, किन्तु सत्य है यह विडम्बना, जिसका अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता रहता है, सृष्टि का यह अनमोल प्राणी, जिसकी संज्ञा है "मानव"।

हममें से प्रत्येक को प्रस्तुत वेद-मन्त्र के माध्यम से अच्छी तरह से समझ लेना होगा, कि जब तक हम इस प्रकार के दोहरे मापदण्ड (अपने लिये एक प्रकार के, और अन्यों के लिये दूसरे प्रकार के) अपनाते रहेंगे, हम किसी के लिये प्राणी द्वारा मित्र की दृष्टि से कभी नहीं देखे जायेंगे। पृथ्वी के समस्त प्राणी मुझको मित्र की दृष्टि से देखें, इसके लिये यह जरूरी है, कि मुझमें वे सब पात्रतायें हों, जो प्रत्येक प्राणी को मुझसे अपेक्षित हैं। इसके लिये सबसे पहले मुझे अपना आत्मनिरीक्षण स्वयं करना होगा, और उसके पश्चात अपने गुण, कर्म और स्वभाव को ऐसा ढालना होगा, जिससे मैं अन्यों द्वारा मित्र की दृष्टि से देखा जाऊँ। खाली कामना करने से कि '**सर्वाणि भूतानि मा मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम**' से काम नहीं चलने वाला। कामना के अनुरूप साधना एवं पुरुषार्थ दोनों ज़रूरी हैं। यथा कामना तथा साधना।

इससे पूर्व की हम मन्त्र के शब्दों पर आगे विचार करें, दो शब्दों को समझ लेना बहुत ज़रूरी है। एक शब्द है, '**मित्र**'। दूसरा है '**समीक्षा**'।

'**त्रिमिदा स्नेहने**' इस धातु से औणादिक '**क्त्र**' प्रत्यय के होने से '**मित्र**' शब्द सिद्ध होता है। '**मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा सः मित्रः**' जो सबसे स्नेह करने और सबको प्रीति करने योग्य है, उसका नाम मित्र है। इस प्रकार जो सुहृद, स्नेही, हितैषी, उपकारक सखा है, उसका नाम 'मित्र' है। कहते हैं, सख्यता समान ख्याति वाले के साथ होती है। दोस्ती हम-जिन्स के साथ होती है। '***कुनद हम-जिन्स वा हम-जिन्स परवाज़। कबूतर वा कबूतर, बाज़ वा बाज़॥***' अर्थात् सजात पक्षी सजात के साथ उड़ता है; कबूतर कबूतर के साथ, बाज़ बाज़ के साथ। पर मनुष्यों में मित्रता के बारें में मनु महाराज का कथन है—

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते॥ —मनुस्मृति ७।२०९

'धर्म को जानने वाला और किये हुये उपकार को सदा मानने वाला, संतुष्ट-प्रकृति वाला, अनुरागी तथा स्थिरारम्भी (आरम्भ से ही दृढ़व्रती) छोटे मित्र को प्राप्त होकर भी प्रशंसित होता है।' इस प्रकार मित्रता केवल बराबर वालों में ही होती हो, ऐसी बात नहीं। मित्रता बड़े और छोटे, लघु और महान सबमें हो सकती है, बशर्ते कि मित्रता के मूलभूत गुणों से हम युक्त हों।

कौन से वे गुण हैं, जिनके आश्रय से हम दूसरों की मित्रता के पात्र हो सकते हैं, अर्थात् हम यह अपेक्षा कर सकते हैं, कि संसार के समस्त प्राणी हमें मित्र की दृष्टि से देखें? संक्षेप में इनको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(१) **धर्मज्ञता**—अर्थात् धृति, क्षमा, दम, अस्तेय शुचिता, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, तथा अक्रोध यह जो धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं, उनसे युक्त होना। इन लक्षणों के विपरीत, अर्थात् अधर्मज्ञ होने से हम मित्रता के योग्य ही नहीं रहते।

(२) **कृतज्ञता**—अर्थात् दूसरों के किये गये उपकारों के प्रति सदैव कृतज्ञता मन, वचन, कर्म से प्रगट करना। कृतघ्नता मित्रता की सबसे बड़ी कैंची है।

(३) **सेवा तथा सहायता के लिये तत्परता**—मित्र वही है, जो आवश्यकता पड़ने पर सेवा तथा सहायता द्वारा दूसरों के काम आये। दूसरे तभी हमें मित्र की दृष्टि से देखेंगे जब हम ज़रूरत के वक्त उनके काम आयें।

(४) **होठों पर मुस्कान, दृष्टि में प्यार, और हृदय में सद्भावना**—अपने अधरों पर यदि मुस्कान बनी रहती हो, आँखों से प्यार टपकता हो और हृदय में सबके लिये सद्भावना हो, तो बरबस दूसरे भी हमारी और मित्रता की दृष्टि से आकर्षित होंगे ही।

(५) **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**—अर्थात् जो कुछ भी हमारी अपनी आत्मा के अनुकूल न हो, वह

सब कुछ मन, वचन, कर्म से दूसरों के प्रति भी व्यवहृत हम न करें। जो व्यवहार हम अपने लिये पसन्द नहीं करते, वही व्यवहार दूसरों के प्रति भी हम न करें। तभी हम दूसरों की मित्रता के पात्र बन सकेंगे।

दूसरा महत्वपूर्ण शब्द है—'**समीक्षा**'। मन्त्र में यह तीन रूपों में आया है—'**समीक्षन्ताम**', '**समीक्षे**', '**समीक्षामहे**'। समीक्षा का अर्थ केवल सम्यक् देखना ही नहीं है, वरन मीमांसा करना भी है। मित्र की हाँ में हाँ भरे जाना सच्ची मित्रता की कसौटी नहीं है; कसौटी है मित्रता की रक्षा हेतु देख-भाल कर मित्र को भले-बुरे का ज्ञान कराना; मित्र का सही मार्ग-दर्शन करना; मित्र के अच्छे कार्यों के लिये उसकी भरपूर प्रशंसा कर उसको उत्साहित बनाये रखना, तथा मित्र की त्रुटियों या कमियों को देखकर उसको उचित परामर्श के द्वारा सही रास्ते पर इस प्रकार ले आना, कि वह किंचित भी लज्जित या अपमानित महसूस न करे। अच्छे साहित्य के सृजन तथा प्रसार में जो भूमिका एक समीक्षक की होती है, मानवीय व्यवहार के क्षेत्र में वही भूमिका एक मित्र की होनी चाहिये। लक्ष्य बस एक ही होना चाहिये, कि मित्र का हित हो, अहित न हो। इसी में मित्रता की लाज है।

इस दृष्टि से विचार करें, तो अनुभव होता है कि कितनी उदात्त भावना है मन्त्र के इस भाग में **सर्वाणि भूतानि मा मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम्** भूतल के समस्त प्राणी मुझे मित्र (हितेच्छु, पथ-प्रदर्शक एवं सुहृद-समीक्षक) की दृष्टि से मेरे हित-सम्पादन हेतु देखें, जांच-पड़ताल करें, मेरे क्रिया-कलापों का अध्ययन करें, मेरा मार्ग-दर्शन करें। मेरे लिये इससे बढ़कर और सौभाग्य की बात क्या हो सकती है, कि संसार के समस्त प्राणियों की रूचि मुझमें हो, मेरी आत्मोन्नति या आत्म विकास में हो। इसी भाव को अथर्ववेद में यों व्यक्त किया गया है—'**यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते**' (अथर्व० १९।३२।८) जिसके लिये हमारी कामना है, हम चाहते हैं, उसके तथा समस्त देखने वाले प्राणियों के लिये हमें प्रिय कर। '**प्रियं सर्वस्य पश्यत**' (अथर्व० १९।६२।१) समस्त देखने वालों का [मुझे] प्रिय कर।

समस्त प्राणियों का मैं प्रिय बनूँ, सब मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, तो मुझे स्वयं क्या करना होगा? इसका भी उत्तर मन्त्र ने दिया— **(अहम् सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा समीक्षे)** मैं [स्वयं भी] समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। यह तभी सम्भव है, जब हम निम्न विधाओं को अपनायें।

(१) अकारण ही किसी के बारे में पहले से ही कोई ग़लत धारणा न बनायें। सुनी-सुनायी बातों पर बिना समीक्षा किये यदि हम विश्वास कर लेंगे, तो किसी को भी मित्र की दृष्टि से नहीं देख पायेंगे।

(२) किसी से मिलें तो मधुरता से। बिछुड़ें तो मधुरता से। बोलें तो मधुरता से। कटुता से मित्रता नहीं प्राप्त की जा सकती। वेद का निर्देश है—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥

—अथर्व० १।३४।३

मधुर हो मेरा मिलन। मधुर हो मेरा परायण।
वाणी से बोलूँ मधुर। हो जाऊँ मधु-सम मधुर॥

मित्र की दृष्टि के लिये मधुरता परम आवश्यक है।

(३) दूसरों में रुचि लें; बनावटी नहीं, वास्तविक। अपने आपको योग्य सेवा के लिये प्रस्तुत करने में संकोच न करें।

(४) कोई कितनी भी क्षुद्र, अकिंचन, छोटा और बैभवहीन क्यों न हो, हम उसको मानवीय आधार पर यही अनुभव करायें कि हमारे लिये उसका अपना महत्त्व है। प्रत्येक को अपनी इज़्ज़त प्यारी होती है। मित्र की दृष्टि से देखने के लिये हमें प्रत्येक व्यक्ति को वह इज़्ज़त देनी ही चाहिये, जिसका वह हकदार है।

(५) मित्र की दृष्टि से देखने के लिये यह ज़रूरी है कि हम एक अच्छे सुनने वाले हों। दूसरों को अधिक से अधिक उनके अपने बारे में कहने तथा बोलने का मौका दें, और जो कुछ अन्य अपने विषय में कहें, उसको हम ध्यान से सुनें। ठीक से सुन लेने से हम दूसरों का दुःख-दर्द

काफ़ी हद तक बाँट कर मित्रता का आधार सुदृढ़ कर लेते हैं।

(६) मर्यादित तथा अवसरोचित सलाह, सहायता तथा सेवा प्रदान करने को तत्पर रहें। ज़रूरत के वक़्त यदि हम किसी के काम किसी अच्छे उद्देश्य के लिये आ सकते हैं, तो ज़रूर आवें। मित्रता की परख इसी में है।

(७) अच्छे कार्यों तथा उनके कुशलता के सम्पादन के लिये दूसरों की निष्कपटता तथा पूर्ण सद्भाव से खुलकर प्रशंसा करें। दूसरों में कमियाँ नहीं, गुणों को देखने की आदत डालें और यह एहसास दूसरों को पूरी इमानदारी और नेकनीयती से करायें कि हम उनके इन गुणों की हार्दिक क़द्र करते हैं।

(८) चाटुकारिता, तेल-मालिश तथा चिकनी-चुपड़ी बातें एवं अतिरंजित अथवा अतिशयोक्तिक प्रशंसा करने से बचें। सच्ची मित्रता की दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं। हमें मित्र की दृष्टि से प्रत्येक को देखना है; एक खुशामदी, चापलूस, चाटुकार तथा पराश्रयी की दृष्टि से नहीं।

(९) जो व्यवहार हम अपने लिये पसन्द नहीं करते हैं, वैसा ही व्यवहार हम दूसरों के प्रति न करें।

यह कुछ बाते हैं, जिनको अपनाने से प्रत्यके को मित्र की दृष्टि से देखने की हमारी प्रवृत्ति हो जाती है।

अगली बात जो मन्त्र में आयी, और जो समस्त मानवीय व्यवहार का मूल है, वह है **(वयं) मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** हम सब लोग एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें। हमारा सामान्य पारस्परिक व्यवहार मित्रता का हो। हम सब मनुष्य होने के नाते सामाजिक प्राणी हैं। प्रत्येक प्राणी अपनी सामान्य सी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों पर निर्भर है और दूसरे हम पर। सारा सृष्टि-क्रम परस्परतन्त्रता (INTERDEPENDENCE) के सिद्धान्त पर आधारित है। हमारी अल्पज्ञता और अपूर्णता ही हमें बाधित करती हैं, कि हम अन्य प्राणियों तथा शक्तियों का आश्रय लें। हमारी स्वतन्त्रता केवल कर्म करने की है; परन्तु हममें से कोई भी यह दावा

नहीं कर सकता कि वह सारे के सारे कर्म अकेले बिना किसी की सहायता के कर सकता है। इसी प्रकार व्यक्तिगत नियमों तथा उनके पालन में हम स्वाधीन हो सकते हैं, परन्तु सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालन में पराधीन होना ही पड़ता है। इस प्रकार समूचे मानव समाज का तन्त्र न तो पूर्णतया स्वतन्त्र है, और न ही परतन्त्र होने के लिये है। यह है ही परस्परतन्त्रता पर आधारित। यह बात पिण्ड में भी है, और ब्रह्माण्ड में भी। हम अपने शरीर को ही लें। हमारे शरीर के सब अंग एक दूसरे पर आधारित हैं। मैं हाथ से लिख रहा हूँ, परन्तु यह लेखन तभी सम्भव है, जब मेरी आँखें, मेरा मन तथा मस्तिष्क सहयोग करें। यही स्थिति मानव समाज की है। जब तक परस्पर सह-अस्तित्व की भावना नहीं होगी, कोई भी कार्य का निष्पादन सम्भव नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के बिना न रह सकता है, न जीवन-यापन कर सकता है। अतः पारस्परिक मित्रता के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। यदि हम परस्पर एक दूसरे के मित्र नहीं होंगे, तो क्या एक दूसरे के शत्रु होकर रह सकेंगे? शत्रुता से तो अशान्ति ही अशान्ति होगी। दुःख ही दुःख उपजेंगे। यदि सुख और शान्ति चाहिये तो परस्पर हम सबको एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखना ही होगा। इस विषय में महात्मा विदुर ने क्या ख़ूब कहा है—

एव मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम्।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम्॥
अन्योऽन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च।
ज्ञातयं सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत॥

—विदुर नीति ४।६४-६५

"अनेक गुणों से युक्त होने पर भी अकेले मनुष्य को द्वेषी उसी प्रकार नष्ट करने योग्य समझते हैं, जैसे अकेले खड़े हुये दृढ़मूल वृक्ष को वायु का तेज़ झोंका गिरा देता है; परन्तु एक-दूसरे के आश्रय और सहयोग से सम्बन्धी-जन ऐसे वृद्धि को प्राप्त होते हैं जैसे सरोवर में कमल"।

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्र भावेन वर्तते।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं स गतिस्तत्परायणम्॥

—विदुर नीति ४।३८

"किसी प्रकार का रिश्ता न होते हुये भी जो व्यक्ति मित्र भाव से वर्तता है, वही वास्तव में बन्धु है, मित्र है, वही आश्रय और वही सहारा होता है।"

पारस्परिक मित्रता को कैसे विकसित किया जाये, कैसे अधिकाधिक लोगों को प्रभावित कर उनको मित्रता प्राप्त की जाय इसके भी कुछ विशेषक हैं, जैसे—

(१) पारस्परिक एक दूसरे पर विश्वास।

(२) परस्पर एक दूसरे की भावनाओं का आदर एवं सम्मान।

(३) अपनी ग़लती को, यदि वह ग़लती है, बिना झिझक एवं संकोच के साथ शीघ्र ही स्वीकार कर लेना।

(४) व्यर्थ की शिकायतों, छिद्रान्वेषण, निन्दा, उलाहना तथा व्यगों का यथा-सम्भव आश्रय न लेना।

(५) अपने कथन से मुकरना नहीं, किन्तु कहे हुये को सत्य करके दिखा देना।

(६) परस्पर एक दूसरे को उत्साहित एवं प्रेरित करना, उदात्त भावनाओं को बढ़ावा देना तथा संकट में एक दूसरे की सहृदयता से सहायता करना।

(७) सैद्धान्तिक आलोचना करते समय (जो प्रायः ज़रूरी हो जाती है) यह सुनिश्चित कर लेना कि जिन सिद्धान्तों और नियमों को हम मनवाना चाहते हैं, उनका हम स्वयं भी पालन करने वाले हों। सैद्धान्तिक विषयों में, वाणी की तुलना में, जिसका जीवन स्वयं बोलता हो, वह दूसरों पर अधिक प्रभावी होता है।

(८) पारस्परिक मित्रता में स्वार्थ और अहङ्कार का कोई स्थान नहीं। पारस्परिक सहयोग, सह-अस्तित्व और एक दूसरे के हित के ध्यान रखने की भावना ही मित्रता में सर्वोपरि है।

मनुष्य जब स्वार्थी हो जाता है, तभी आपस का स्नेह, स्निग्धता, सौहाद्रता और प्यार ख़त्म हो जाता है इससे बचने के लिये आवश्यकता होती है, स्थिरता और दृढ़ता की। इसीलिये मन्त्र के आरम्भ में ही प्रार्थना है—(**दृते, मां दृꣳह**) हे सर्वाधार परमेश्वर! मुझे दृढ़ कर।

दृति, जिससे 'दृते' बना है, चमड़े का वह थैला होता है, जिसको आधार बनाकर नये तैराक तैरने का अभ्यास करते हैं। तरल पदार्थ, जैसे तैल आदि रखने के लिये भी कहीं-कहीं इस प्रकार के थैलों का प्रयोग होता है। अतः 'दृते' में मूल भावना है आधार की, जिससे तरल पदार्थ सुरक्षित रहे, अथवा जो प्रयोगी को सुरक्षा प्रदान कर सके। प्रेम के मामले में वह प्रेममय प्रभु ही सबका आधार है। व्यापक और नित्य भी वही प्रभु है। अत्यन्त श्रेष्ठ और वरणीय एवं इस आत्मा का युज्य सखा होने के कारण वही प्रभु 'वरुण' और 'मित्र' है। सर्व-व्यापक होने के कारण वही प्रभु मुझमें, तुझमें और सबमें समाया हुआ है। जब यह एहसास मनुष्य को होता है, तो समस्त प्राणी मित्र दीखते हैं, कोई भी पराया नहीं रह जाता। इसीलिये मन्त्र में कहा कि हे सर्वव्यापक सर्वाधार, सर्वरक्षक परमेश्वर! मुझको दृढ़ बना। मेरी मित्र-भावना और मित्रता में स्थिरता एवं दृढ़ता ला।

वस्तुतः संसार में उससे बढ़कर सुखी कोई नहीं, जिसके सब मित्र हों, शत्रु कोई नहीं; परमात्मा जिसका परम सखा हो, और जीवन में (**सर्वा आशा मर्म मित्रं भर्वन्तु** अथर्व० ९।१५।६) समस्त आशायें जिसकी मित्र हों। सर्वाणि भूतानि, अर्थात् प्राणीमात्र के साथ जिसकी मित्रता हो। मैं सबको मित्र की दृष्टि से देखता होऊं, और सब मुझे मित्र की दृष्टि से सम्यक् देखते हों। हमारा आपस का व्यवहार समान मित्रता पर आधारित हो, जिसमें ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, स्पृश्य और अस्पृश्य जैसी कोई बात न हो। ठीक ही कहा गया है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवाव धार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्म का सर्वस्व (सार) सुनो। सुनकर धारण करो। अपनी आत्मा के प्रतिकूल व्यवहार किसी से न करो।' मित्रता की दृष्टि से देखने और देखे जाने का सार इसी में है।

—:o:—

८

अधर्म का निवारण : धर्म का विस्तार*

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे। वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः ॥

—ऋग्वेद १०। ५०। ६

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः। देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः। छन्दः—पाद निचृज्जगती।

पदपाठ—एता। विश्वा। सवना। तूतुमा। कृषे। स्वयं। सूनो। सहसः। यानि। दधिषे। वराय। ते। पात्रं। धर्मणे। तना। यज्ञः। मन्त्रः। ब्रह्म। उत्-यतम्। वचः ॥

(एता विश्वा सवना तूतुमा) — यह समस्त शीघ्र-घटित सवन/प्रसंग,

(यानि दधिषे) — जिनसे तू अधिग्रस्त है,

(स्वयं कृषे) — तूने स्वयं कृषे हैं (जोते-बोये हैं)।

(सहसः सूनो) — हे, अतिशय सहनशीलता के पुञ्ज!

(वराय उत्-यतम्) — [अधर्म के] निवारण के लिये उद्यत हो।

---

* आर्य जगत ८ सितबर १९९६ वर्ष ६१ अक ३६ मे प्रकाशित

(ते पात्रं, यज्ञः, मन्त्रः, ब्रह्म, वचः धर्मणो तना) — तेरा पात्र, यज्ञ, मन्त्र, ब्रह्म, वाणी धर्म के विस्तार के लिये हो।

ऋग्वेद के दशम मंडल के पचासवें सूक्त की एक विशिष्टता यह है कि, इस सप्तर्च सूक्त का मन्त्रदृष्टा ऋषि और देवता (अर्थात् विषय) एक ही हैं, मानों ऋषि कोई और विषय न लेकर 'अपनों से अपनी बात' कर रहा हो। प्रत्येक मन्त्र में अकाट्य सत्य है, अनुभूत सच्चाई है, जिसको ऋषि ने साक्षात करके रखा है। हम सब देख रहे हैं कि समस्त विश्व में बड़ी तेजी से घटनायें घट रही हैं, परिवर्तन हो रहे हैं। यह कोई नई बात नहीं। सृष्टि के आदिकाल से लेकर सृष्टि-पर्यन्त घटनाचक्रों को, परिवर्तनों को, परिवर्तनों की गति को न कोई रोक पाया है, न कोई रोक पायेगा। सारा संसार ही परिवर्तनशील है। सब कुछ गतिमान है। हो भी क्यों न। एक चेतन सत्ता परमेश्वर है, जो इस अखिल ब्रह्माण्ड को धारण किये हुये हैं, और सृष्टि नियमों के अनुसार इसको गति प्रदान कर रहा है। दूसरी चेतन सत्ता वे समस्त जीवात्मायें है, जिनको ईश्वर की कर्मफल व्यवस्था के अनुसार शरीर मिला हुआ है। भूतल पर समस्त मानव देह धारी कर्म करने में स्वतन्त्र है, परमेश्वर की ओर से कहीं कोई बाधा नहीं। अलबत्ता, जैसे मानव समुदाय के अच्छे-बुरे कर्म होंगे, उसके फलों से, परिणामों से ईश्वरीय व्यवस्था अनुसार वे बच नहीं सकते।

उपरोक्त सत्य को हृदयंगम करने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि संसार में प्रतिदिन जो भी अच्छा-बुरा तेज़ी से घट रहा है, उसके लिये मानव-समुदाय ही उत्तरदायी है। ईश्वर तो निस्पृह, निर्लेप, निष्काम, निर्मोही, नित्य, पवित्र, सृष्टि का कर्त्ता, धारणकर्त्ता और विधाता है। ईश्वर यदि महान और ज्येष्ठ है तो अपनी सामर्थ्य, शक्तिमत्ता और सर्वज्ञता से है; जिसकी तुलना में मानव निश्चय ही अल्पज्ञ है। फिर भी विचारशील मानव की उपलब्धियाँ उसके चिन्तन, मनन, तप और प्रभु-कृपा के फल स्वरूप कम नहीं। साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उपलब्धियाँ अनादि काल से मानव मस्तिष्क की ही देन हैं। परन्तु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता, कि अनादि काल से अनाचार, अत्याचार, हिंसा, शोषण, अन्याय, आतंक और अन्य नाना प्रकार के अपराध, पाप कर्म भी

मानव मस्तिष्क की ही उपज हैं। देव और असुर, आर्य और दस्यु, अच्छे और बुरे धर्मात्मा और पापी मनुष्य हर काल में, हर समय में रहे हैं, और रहेंगें। इसी प्रकार नेकी और बदी, सत्य और असत्य, पुण्य और पाप संसार में हमेशा से था, है, और रहेगा; हाँ, मात्रा या अनुपात का अन्तर विभिन्न कालों में हो सकता है।

वेद यह बताता है, कि संसार में अच्छा या बुरा परमात्मा की मरज़ी से नहीं होता। इन्सान ही इसके लिये ज़िम्मेवार है। मुश्किल यह है, कि वेद को छोड़ कर बाकी जितनी भी आस्तिक समाज की पुस्तकें हैं, सब यही प्रचार करती हैं, कि जो होता है, ईश्वर की मरज़ी से होता है। मिसाल के तौर पर देखें यह दोहा, "जाको प्रभु दारुण दुःख देही, वाकी मति पहले हर लेही।" और क़ुरान शरीफ़ की यह आयत। "**मय्यँशा अल्लाहु युज़लिलहु व मय्यंशा यज़्अलहु अला सरातिं मुस्तकीम्।** (सूरत अनआम आयत ३९) अल्लाह जिसको चाहता है, ज़िल्लत देता है, जिसको चाहता है, इज़्ज़त देकर ठीक रास्ते पर लगा देता है।" व्यवहार में भी यही देखने को मिलता है कि इन्सान सफ़लता का श्रेय अपनी बुद्धि, अपने पुरषार्थ, अपने परिश्रम को देता है, किन्तु असफ़लता के लिये 'भगवान की मरज़ी' कहकर अपने आप को साफ बचा जाने का प्रयास करता है। वेद का दृष्टिकोण यह है, कि संसार में प्रत्येक घटना तथा अपने प्रत्येक कार्य के लिये, और कार्य-परिणाम के लिये मनुष्य ही ज़िम्मेवार है। संसार में यदि धर्म है, सत्य है, दान है, दया है, परोपकार की भावना है, तो वह भी मानव समाज (श्रेष्ठ मानव समाज) की बदौलत है, और यदि संसार में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, अक्रोष, हिंसा, अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार आदि दूषित वृत्तियाँ व्याप्त है, तो वह भी मावन समाज (पतित मानव समाज) की बदौलत हैं।

संसार में सर्वत्र रोज़ ही कुछ न कुछ घट रहा है, अच्छा भी बुरा भी, उचित भी अनुचित भी। और संसार ही क्यों हम देह-धारियों के अन्दर भी घट रहा है, और बाहर भी, घर में भी, समाज में भी, देश में, राष्ट्र में, पृथिवी पर, सर्वत्र, सब जगह। कुछ घटनायें तो इतनी तेज़ी से घटती हैं कि उस तूफ़ानी तेज़ी की हम कल्पना भी नहीं कर पाते।

प्रस्तुत मन्त्र कहता है—(**एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं यानि दधिषे**) यह समस्त शीघ्र घटित सवन (प्रसंग, घटनायें, ऐपिसोड, कार्य-परिणाम) जिनसे तू अधिग्रस्त है, प्रभावित है, जिन्हें तू धारण करता है, तूने स्वयं कृषे हैं (जोते-बाये हैं)। अच्छी कल्याणकारी घटनायें घटी हैं, वे भी तेरी खेती हैं; और जो बुरी, दुखद, अशुभ, दर्दनाक घटनायें हुई हैं, वे भी तेरी ही खेती हैं। मनुष्य यदि इस सत्य, सनातन वैदिक सत्य को हृदयगंम कर ले, तो एक बात निश्चित है, कि मनुष्य और ईश्वर के बीच में कभी दरार नहीं आयेगी। कुछ भी अप्रिय हो जाय, वह परमात्मा को बुरा-भला नहीं कहेगा; और जब मनुष्य को ईश्वर से कोई शिकवा-शिकायत न होगी, तो वह परमात्मा से विभक्त नहीं होगा, भक्त ही बना रहेगा। ईश्वर की अटूट भक्ति में ही आनन्द है, मुमुक्षत्व है।

यहाँ दो शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, एक '**तूतुमा**' और दूसरा '**कृषे**'। तूतुमा के अर्थ है शीघ्र-गामी, वेग से घटने वाला। संसार परिवर्तनशील है। परिवर्तन में गति स्वभाविक है। परिवर्तन का मतलब है, जो एक अवस्था में न रहे, और एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने के लिये गति ज़रूरी हो जाती है। मनुष्य स्वयं परिवर्तन चाहता है, अतः गति करता है। हर परिवर्तन—अनुकूल होगा या प्रतिकूल, अच्छा होगा या बुरा—यह तो परिर्वतन के बाद ही सामने आता है। पर परिवर्तन के लिये गति, और गति के लिये चेष्टा आवश्यक है। यह चेष्टा ही '**कृषे**' शब्द से सिद्ध होती है। ख़ाली पड़ी धरती पर यदि लहलहाती फ़सल उगानी है, तो चेष्टा करनी ही पड़ेगी। यह चेष्टा ही कृषि-कार्य है। और कृषि के बारे में तो यह प्रसिद्ध ही है, '**जैसा बोओगे, वैसा काटोगे**'। यदि '**बोया पेड़ बबूल का**' तो '**आम कहाँ से आयेंगे**'।

परिवर्तन सुखद हो, इसके लिये आगे मन्त्र में बड़ी सुन्दर बात कही है, पर उससे पूर्व मनुष्य-मात्र के लिये एक सम्बोधन है—(**सहसः सूनो**) हे अतिशय सहनशीलता के पुञ्ज! मानव की सहनशीलता ही उसकी शक्ति है। इस सहनशक्ति की बदौलत वह हर परिवर्तन को, चाहे वह सुखद हो, या दुःखद, सह पाता है। उसी सहनशील मानव को मन्त्र-द्रष्टा ऋषि बता रहा है पते की दो बातें।

एक—(**वराय उत-यतम्**) दुःखद स्थिति के निवारण के लिये

उठ, यत्न कर, उद्यत हो। दुःखद, कष्टदायक, पीड़ाजनक स्थिति **'अधर्माचरण'** का ही परिणाम है, चाहे वह आचरण इस जन्म का हो, या पूर्व जन्मों का। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में और मानव-समुदाय के व्यवहारिक जीवन में जितना अधर्म होगा, जीना उतना ही बद से बदतर हो जायेगा। आज ही क्या, कई शताब्दियों से संसार में स्थिति यह हो रही है, कि सर्वत्र अधर्म का ही बोलबाला है। अनेकों स्थान पर तो 'धर्म' के नाम पर निरन्तर अधर्म हो रहा है। हरे-भरे वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी, यहाँ तक कि नर-बलि भी धर्म के नाम पर कितने ही देशों में दी जा रही हैं। मत-मतान्तर बढ़े हैं, किन्तु धर्म कहीं नहीं है। पाप, अनाचार, अत्याचार, घृणा, द्वेष, हिंसा, आतंक, अन्याय, दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुष्टतायें, समस्त विश्व में अधर्म के प्रसार और व्याप्ति की देन हैं। समस्यायें अनेक हैं, उपाय एक है, जो मन्त्रदृष्टा ऋषि कहता है—"अधर्म का विनाश"। धर्म की संस्थापना और विस्तार से पहले "अधर्म का निवारण" अर्थात् विनाश ज़रूरी है। भवन बनाने से पहले जैसे भुमि से झाड़-झंकाड़ पूर्णतया साफ़ कर उसको समतल करना आवश्यक है, उसी प्रकार धर्म का विस्तार करने से पहले 'अधर्म' का सफ़ाया करना आवश्यक है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये, कि हर चीज़ के दो पहलू होते हैं, एक सकारात्मक (पाज़िटिव) और दूसरा निषेधात्मक (निगेटिव)। विद्युत का लाभ उठाना है, तो मात्र पाज़िटिव करेन्ट को प्रवाहित करने से काम नहीं चलेगा। निगेटिव और पाज़िटिव दोनों धारायें जब संयुक्त होगीं, तभी विद्युत का उपयोग हो सकेगा। यही बात 'धर्म' के विषय में लागू होती है। उदाहरणार्थ, धर्म का एक अंग "सत्य" है। 'मैं सत्य ही बोलूंगा', यह धर्म का सकारात्मक (पाज़िटिव) रूप है। पर यह अधूरा है। यह पूरा जब होगा, जब मैं इसके निषेधात्मक (निगेटिव) स्वरूप को भी साथ लूँ। यहाँ सत्य के सम्बन्ध में निषेधात्मक रूप यह है, कि मैं यह प्रण करुं 'कि अन्यों को भी असत्य नहीं बोलने दूँगा, उनसे भी सत्य बुलवा कर ही रहूँगा।' यदि मैं निषेधात्मक स्वरूप को साथ लेकर नहीं चलूँगा, तो यकीन मानिये, मेरे एक अकेले के सत्याचरण का कोई प्रभाव नहीं होगा, उस समाज में जहाँ शेष ९९ प्रतिशत का आचरण सर्वथा

असत्य पर आधारित हो। इस ९९ प्रतिशत में से कम से कम ७५ प्रतिशत लोगों को यदि में अपने सत्य का अनुयायी बना लूँ, तभी "सत्यमेव जयते", सत्य का वर्चस्व, बढ़ेगा। पर वेद में कोई प्रतिशत नहीं चलता। वेद का तो आदेश है—"अधर्म का पूर्णतया निवारण", जिसके लिये हमें उद्यत होना है। धर्म को यदि बचाना है, धर्म को यदि जीवित रखना है, धर्म की यदि रक्षा करनी है, तो अधर्म का नाश व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में अत्यन्त ज़रूरी है। पर यह सम्भव तभी है, जब मनुष्य पहले धर्म और अधर्म को ऋत और अनृत को, सत्य और असत्य को, पुण्य और पाप को, ठीक से समझता हो। इसके लिये वेद, स्मृतियाँ, सदाचार और जो अपनी आत्मा को प्रिय [सही] लगे, इनसे बढ़ कर कोई और कसौटी नहीं हो सकती। मनु महाराज के शब्दों में—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

—मनुस्मृति २।१२

अगली बात जो मन्त्र में कही गई है, वह भूमि को तैयार कर लेने के पश्चात बीजारोपण की है, जिससे धर्म का विस्तार हो सके। '**धर्मो रक्षति रक्षितः**' (मनुस्मृति ८।१५) रक्षा किया हुआ धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है। धर्म की रक्षा होती है, धर्माचरण और धर्म-प्रचार से। पहली बात यह, कि धर्म मनुष्य के जीवन में आना चाहिये और दूसरी बात यह, कि धर्म को दूसरों के जीवन में भी उतारना चाहिये। इसके लिये मन्त्र में पांच साधन बताये हैं।

(ते पात्रं, यज्ञ, मन्त्रः, ब्रह्म, वचः धर्मणो तना) तेरा पात्र, यज्ञ, मन्त्र, ब्रह्म और वाणी धर्म के विस्तार के लिये हैं।

यह जो शरीर है न मनुष्य का, जिसको धर्म का प्रथम साधन माना जाता है, यह धर्म-वेदि है। इसमें उल्टे कलश के समान जो यह 'शिर' है, यही पात्र है। सारी ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि-तन्त्र इसी पात्र में है। यह पात्र यदि शुद्ध और पवित्र है, तो धर्म जीवन में आयेगा, और फैलेगा। ब्रह्म-यज्ञ (सन्ध्या) में इसीलिये मार्जन क्रिया में दो बार शिर की पवित्रता के लिये प्रार्थना और तदनुरूप कार्य है—"ओ३म् भू पुनातु शिरसि" और फिर दोबारा "ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि"। 'शिर' पवित्र तो 'विचार' पवित्र; 'विचार पवित्र'

तो 'आचार पवित्र'; 'आचार पवित्र' तो 'व्यवहार पवित्र'। व्यवहार वह प्रथम कसौटी है, जिससे धर्म जाना और पहचाना जाता है।

धर्म की दूसरी कसौटी है "**यज्ञ**" (**श्रेष्ठतमं कर्म**)। सबसे बड़ा यज्ञ "जीवन यज्ञ" है, जिसमें आत्मा यज्ञ-कर्त्ता है, शरीर समिधा है, ब्रह्म घृत है, और सुगन्धित, पुष्टिकारक, मिष्ट और रोगनाशक कर्म वे हवियाँ है, जिनसे यजमान आहुति देता है। जहाँ यज्ञ है, वहाँ धर्म है, और जहाँ धर्म है, वहाँ यज्ञ है। (**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**— ऋग्० १।१६४।५०) विद्वान यज्ञ का यज्ञ से ही यजन करते हैं। तब होता है, धर्म का विस्तार।

धर्म की तीसरी कसौटी है "**मन्त्र**"। मनुष्य वही कहाता है, जो मननशील हो। और जिसका मनन किया जाता है, उसे कहते हैं 'मन्त्र'। 'मन्त्र' नाम है 'विचार' का, अर्थात् सत्य-असत्य का विचार। विचार से ही प्रत्येक समस्या का समाधान निकल सकता है। विचार ही मनुष्य को, समाज को, राष्ट्र को बनाते हैं। सही विचारधारा कल्याणकारिणी होती है, जबकि ग़लत विचारधारा से अनिष्ट ही अनिष्ट होता है। वेद में इसीलिये कहा '**समानो मन्त्रः**' (ऋग्० १०।१९१।३) विचार समान हों। समान विचार के लिये समान मन और समान हृदय वाला होना भी ज़रूरी है। यह तभी सम्भव है, जब हममें से प्रत्येक यह समझ ले, कि 'धर्म' एक होता है, अनेक नहीं। **मानव का धर्म मानवता है,** मनुष्य का धर्म मनुष्यता; दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। एक "**मानव-धर्म**" और एक समान विचारधारा से ही '**अभ्युदय**' और '**निःश्रेयसः**' की सिद्धि निश्चय है। मानव धर्म की व्याप्ति के लिये हम सब मिलकर वेद द्वारा प्रतिपादित '**मनुर्भव**' की महान आदर्श विचारधारा की ओर अग्रसर हों, और इसका प्रचार-प्रसार करें।

चौथी चीज़ धर्म के विस्तार के लिये हैं "**ब्रह्म**"। ब्रह्म से परमेश्वर का तो ग्रहण होता ही है, परन्तु ब्रह्म 'वेदज्ञान' और 'विवेक' को भी कहते हैं, जिसका प्रदाता भी वह परमेश्वर ही है। आज स्थिति यह है कि 'होशियारी' (INTELLIGENCE) का स्तर तो बढ़ा है, परन्तु ज्ञान (KNOWLEDGE) और विवेक (WISDOM) में बड़ी ज़बरदस्त कमी आई है। धर्म के विस्तार के लिये 'होशियारी' नहीं **सत्य-ज्ञान** और **विवेक** चाहिये। ज्ञान और विवेक आता है

'ब्रह्म विद्या' या 'परा विद्या' से, जो अनुभव और साक्षात्कार पर आधारित होता है। 'ज्ञान', 'विवेक' और साक्षात्कार के लिये जरूरी है, **'स्वाध्याय', 'सत्संग' और 'साधना'। धर्म का विस्तार इन्हीं से होना है।**

पांचवी चीज़ है **'वच'** अर्थात् वाणी। धर्म का विस्तार जितना जीवित शब्दों से हो सकता है, उतना लिखित से नहीं। पर इसके लिये 'वाणी की साधना' ज़रूरी है। वाणी सत्य हो, मधुर हो, हित, मित और प्रांसगिक हो, शिष्ट और समाधान-कारक हो। धीर और बुद्धिमान लोग मन से वाणी को शुद्ध करके ही प्रयोग करते हैं। "**भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि**" (ऋग्० १०।७१।२) ऐसे लोगों की वाणी में कल्याणकारी लक्ष्मी विराजती है।

संसार मे अन्य देहधारियों से मनुष्य को उच्चस्तर पर बैठाने वाली यह पाँच चीजे हैं, 'मस्तिष्क' , 'कर्म', 'विचार', 'विवेक' और वाणी। मन्त्र का स्पष्ट निर्देश है, कि इनका प्रयोग 'धर्म' के विस्तार के लिये हो। जो सत्य है, उसको मानना-मनवाना, और जो असत्य है, उसको छोड़ना-छुड़वाना अधर्म के निवारण और धर्म के विस्तार के लिये अभीष्ट है। सहनशीलता मनुष्य का गुण है, पर अधर्म को सहते रहना मनुष्य का धर्म नहीं। मनुष्य अपना सर्वस्व अधर्म और अन्याय के निवारण और धर्म के विस्तार के लिये अर्पित करे, जिससे सुखद कल्याणकारी सवनों की शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि हो, यही इस मन्त्र का आशय है।

स्वामी दयानन्द जी का भी कथन यही है कि "मनुष्य उसी को कहना, जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे. . .. .जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।"

—:०:—

२

जीवन-विज्ञान*

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रा तीव्रेणामृतामृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳसोमेन। सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व॥ —यजुर्वेद १९। १

ऋषिः—प्रजापति। देवताः—सोम। छन्दः—निचृत् शक्वरी।
स्वरः—धैवतः।

पदपाठ—स्वाद्वीम्। त्वा। स्वादुना। तीव्राम्। तीव्रेण। अमृताम्। अमृतेन। मधुमतीम्। मधुमता। सृजामि। सम्। सोमेन। सोमः। असि। अश्विभ्याम्। पच्यस्व। सरस्वत्यै। पचयस्व। इन्द्राय। सुत्राम्णो। पच्यस्व॥

(१) (मेरे जीवन!)

(सं सोमेन सृजामि) — संयुक्त होकर सोम से, बनाता हूँ—
(स्वाद्वीं त्वा स्वादुना) — तुझे, स्वादयुक्त सुस्वाद से,
(तीव्रां तीव्रेणा) — तीव्रगामी तीव्रता से,
(अमृतां अमृतेन) — अमृतमय अमृत से,
(मधुमतीं मधुमता) — मधुमय मधुरता से।

(२) (मेरे जीवन!)

(सोमः असि) — सोम है [तेरे साथ]; [मेरे]—

* आर्यजगत् के १६ जून १९९६ के वर्ष ६१, अक २४ मे सोमयुक्त होकर सोम का सृजन शीर्षक से प्रकाशित

(अश्विभ्यां पच्यस्व) — अश्वियों के लिये परिपक्वता ला,
(सरस्वत्यै पच्यस्व) — वाणियों के लिये परिपक्वता ला,
(इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व) — सु-तारक इन्द्र (आत्मा) के लिये परिपक्वता ला।

वेद जीवन-ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद में जहाँ गुण-गुणी का ज्ञान है, वहाँ यजुर्वेद में क्रिया-विज्ञान है; सृजन की विधा है। जिस परमात्मा ने जीवात्मा को शरीर प्रदान कर जीवन दिया, तो उसको यह भी ज़रूरी था कि वह हमें जीने की कला भी सिखाता। वेदों में सर्वत्र यही जीवन विज्ञान विविध रूपों में भरा पड़ा है, आवश्यकता इस बात की है, कि हम उससे लाभ उठायें।

आज संसार में एक अजीब स्थिति है। जीना सब चाहते हैं, पर शिकायत यही रहती है 'कि जीने का मज़ा नहीं रहा'। किसी को शिकायत है कि 'इस भरी दुनियाँ में कोई भी हमारा न हुआ'। किसी को शिकायत है कि 'हमारी तो सारी उम्र रोते ही कटी'। किसी को शिकायत है कि 'हम तो खुशियों को तरसते ही रहे'। चाहे आम आदमी हो, या महात्मा बुद्ध या गुरु नानक; दुःखों के विषय में सबका अनुभव एक ही जैसा रहा है। 'नानक दुखिया सब संसार'। दर्शन-शास्त्र के प्रणोताओं से लेकर आज तक ऋषियों का, महात्माओं का, सन्तों का चिन्तन का प्रमुख विषय यह रहा है, कि दुःखों से निवृत्ति कैसे हो।

वेद का दृष्टिकोण अनादि काल से ही यह रहा है कि संसार न दुःखमय है, न सुखमय, यह तो वैसा ही है जैसी हमारी दृष्टि है। **'जैसी' दृष्टि' 'वैसी सृष्टि'**। हमारी दृष्टि कैसी है, यह निर्भर करता है, कि हमारा जीवन कैसा है। यदि हमारा जीवन 'भोग' का जीवन है, तो सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होगें; परन्तु यदि हमारा जीवन 'योग' का जीवन है, तो सुख में, दुख में, हानि में, लाभ में, मान में, अपमान में, यश में, अपयश में हम 'सम' अर्थात् सन्तुलित ही रहेंगें, वास्तव में **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८) समता अर्थात् 'सम' भाव ही योग है।

जीवन में यह समता, स्थितप्रज्ञता कैसे आये, यजुर्वेद के उन्नीसवें अध्याय का यह प्रथम मन्त्र बहुत ही सुन्दर क्रिया-विज्ञान बताता है।

मन्त्र का दृष्टा ऋषि है, 'प्रजापति' और 'देवता' यानी विषय है "सोम"। 'सोम' का सामान्य अर्थ है—

'सौम्यता', 'शालीनता', 'स्निग्धता'। इसीलिये यजुर्वेद के उन्नीसवें अध्याय के दूसरे ही मन्त्र में आया—**'सोमो यऽउत्तमꣳहविः'** (जीवन-यज्ञ में) सोम श्रेष्ठतम हवि है। यूं सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में 'सोम' शब्द अनेकार्थी है। 'षुञ्-अभिषवे' और 'षू-प्रेरणो' और 'षु-प्रसवैश्वर्ययोः' इन सभी धातुओं से 'मन' प्रत्यय के योग से 'सोम' पद सिद्ध होता है। जिसकी उपासना की जाती है, जो सबको सन्मार्ग की प्रेरणा देने वाला है, जो सबका उत्पादक और सबको आनन्द तथा ऐश्वर्य प्रदान करने वाला है, ऐसे गुण वाले परमात्मा का एक प्रिय नाम 'सोम' है। वेद के अनेक मन्त्रों में 'सोम' परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है।

'सोमो वा इन्द्रः' (शतपथ २।२।३।२३) सोम 'इन्द्र' है। **'सोमो हि प्रजापतिः'** (शतपथ ५।१।५।२६) सोम ही प्रजापति है। **'चन्द्रमा वै सोम'** (कौ० १६।५) आह्लाद, शीतलता व शान्ति से युक्त चन्द्रमा सोम है। **'औषधिराजा या सोमः'** सोम औषधि है **'गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः'**—ऋग्० १।९१।१२ प्राण-वर्धक, रोग-नाशक, ऐश्वर्यदायक और पुष्टिकारक, यह चार विशेष गुण 'सोम' औषधि के हैं। 'सोम' पीयूष है—**इदं पयोऽमृतं मधु**—यजुः० १९।७२ यह अमृत पेय है। **'सोमं सूर्यस्य दुहिता'**—यजुः० १९।४ सोम सूर्य की दुहिता, अर्थात् 'उषा' है। 'सोम' प्रेम है। **सोम रारन्धि नो हृदि**—ऋग्० १।९१।१३ सोम=प्रेम हमारे हृदय में रम रहा है। **सोम नि पाह्यंहसः**—ऋग्० १।९१।२१ सोम पापादि से रक्षा करने वाला है। सोम भक्ति-रस की वह धारा है, जिसको पान कर भक्त अमरता का अनुभव करने लगता है। **अपाम सोमममृता अभूम**—ऋग्० ८।४८।३।

किसी लाईलाज मर्ज़ के मरीज़ को यदि कोई कहे, कि तेरे मर्ज़ की औषधि मिल गई है, तो उसके लिये इससे बढ़कर ख़ुशी की बात क्या होगी। इसी प्रकार जिनको ज़िन्दगी बेमज़ा लग रही है, नीरस हो चुकी है, दुःखों से टूट चुकी है, उनके लिये मन्त्र में वेदमाता प्रस्तुत कर रही है, औषधिराज 'सोम'।

देखो, जन्म देने वाले माता-पिता हैं, पर जीवन देने वाला परमेश्वर है। जन्म की मृत्यु है, जीवन की नहीं। जीवन तो सृष्टि-पर्यन्त सतत प्रवाहित होने वाली धारा के समान है। इस शाश्वत जीवन को सत्यं, शिवं, सुन्दर बनाने के लिये उस 'शाश्वत', 'नित्य' और 'पवित्र' सत्ता का आश्रय लेना ही पड़ेगा, जो स्वयं भी सत्य हो, शिव हो, सुन्दर हो। वह है, एक मात्र परमेश्वर, जिसको मन्त्र में 'सोम' से ग्रहण किया गया है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक को अपने जीवन को स्वयं बनाना है। कोई दूसरा व्यक्ति किसी के जीवन को बना नहीं सकता। 'बताना' बात और है, और 'बनाना' बात और है। आप मुझे बता तो सकते हैं, कि मुझे क्या करना चाहिये, पर बनाना तो मुझको हो पड़ेगा। जैसा जीवन मैं बनाऊगा, वैसा बनेगा। जीवन को जीवन्त बनाने की क्रिया तो मैंने ही करनी है। अतः यह निश्चय भी मैंने ही करना है कि मैं अपने जीवन को बनाऊँ, जीवन-साधना की ओर अग्रसर होऊँ।

मन्त्र में इसीलिये 'आत्म-साधक' वेद-माँ के द्वारा कहता है— **(सं सोमेन सृजामि)** [मैं] सोम से संयुक्त होकर जीवन को सृजित करता हूँ/ बनाता हूँ। यह मेरे जीवन-विधान के उपक्रम का शुभारम्भ है; इसमें 'साधन' और 'साध्य' दोनों का समावेश है। मेरा लक्ष्य भी निश्चित हो गया है। निश्चय ही मुझे अपने जीवन को बनाना है। मैंने 'सोम' परमेश्वर का आश्रय लिया है। बहुत ही प्यारा है यह 'सोम'। मैं तो यों ही परेशान था, भटक रहा था। सोम से युक्त होते ही मुझे कितनी तसकीन मिली है, कितनी राहत मिली है, मेरे संतप्त हृदय को कितनी शान्ति मिली है, मैं क्या बताऊँ। वेद तो स्वयं ही कह रहा है—

त्वꣳसोम प्रचिकितो मनीषा त्वꣳरजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो नऽइन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥

—यजुः० १९।५२

''सोम! तू उत्कृष्ट मनीषा (प्रज्ञा) से चेताने वाला है। तू सरलतम पथ पर प्रकृष्टतया से ले जाता है। तेरे प्रणय में, हे चन्द्रमा के समान दयार्द्र शीतल-स्वभाव सोम, हमारे पितर (बुज़ुर्ग) तथा धीर पुरुष

देवों में रत्नों (रमणीयता) से प्रतिष्ठित होते रहे हैं।''

इसीलिये आत्म-साधक कहता है, कि मैंने अब सोम का आश्रय नहीं छोड़ना। लागी नांहि छूटे राम। मैं सोम से भली प्रकार संयुक्त होकर—अब अपने जीवन में सोम का ही सृजन करता हूँ।

(स्वाद्वीं त्वा स्वादुना) जीवन! मैं तुझे स्वादयुक्त करता हूँ सुस्वाद से। जिन्दगी को न बेज़ायका (tasteless) रहने दूँगा, न बदज़ायका (bad in taste) मैं इसको स्वादयुक्त (tasteful) बनाऊँगा। भोजन में ज़ायका आता है, अच्छे भोज्य पदार्थ को लेकर, उचित मात्रा में मसालों को डाल कर विधिपूर्वक अग्नि पर बनाने से। इसी प्रकार शरीर+आत्मा को सुन्दर व स्वस्थ रूप में लेकर, उचित गुणों का समिश्रण करके मैं विधिपूर्वक जीवन को 'अग्नि' (जो परमेश्वर का ही स्वरूप है) तपाऊँगा। जीवन तप कर स्वादिष्ट हो जायेगा। भद्र चिन्तन, भद्र दृष्टि, भद्र श्रवण, भद्र वाणी, भद्र संकल्प, भद्र भावना, भद्र आहार, भद्र व्यवहार, भद्र कर्म से मेरे जीवन में सर्वत्र भद्रता होगी। अभद्रता रहेगी नहीं। दुनियां चाहे बहुत अच्छी हो, या बहुत बुरी, मुझे क्या; मैं तो वह फूल बनूँगा, जो काटों में भी मुस्कराता है। मैं तो परिष्कृत स्वादों से युक्त इन्सान बनूँगा (I shall be a man of refined taste) मेरी रुचियाँ परिष्कृत होंगी। वे 'सत्संग', 'स्वाध्याय', 'सदाचार', 'सेवा' और 'साधना' में प्रवृत्त होंगी, इन्द्रियों-गत विषय-वासनाओं में नहीं। मैं भी स्वादयुक्त, और मेरा जीवन भी सुस्वाद से भरपूर। क्यो न होगा, अवश्य होगा, क्योंकि मैंने 'सोम' का स्वाद ले लिया है, इससे बढ़कर दूसरा स्वाद कहाँ!

(तीव्रां तीव्रेण) तीव्रगामी बनकर मैं जीवन में अब तीव्रता लाता हूँ। जब जीवन नीरस और स्वादहीन लगता था, तो अकर्मणयता और शिथिलता आ गई थी। किसी कार्य में चित्त लगता ही न था। प्रत्येक कार्य एक बोझ लगता था। अब जीवन में मैंने रस का, स्वाद का, उत्साह का सृजन कर दिया है, अब शिथिलता तथा निष्क्रियता का मेरे जीवन में क्या काम! अब तो हर काम में तेज़ी, फ़ुर्ती और चुस्ती का बोलबाला है। मैं तीव्रगामी बन गया हूँ। अपने मन के शुभ-संकल्पों को शीघ्र से शीघ्र पूरे करने में लग गया हूँ। जीवन में चारों पुरुषार्थों को जल्द से जल्द प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं जान गया

हूँ, **कि गति जितनी तेज़ होगी, मन्जिल उतनी ही जल्दी मिल जायेगी**। मेरा विश्वास अब कार्यों को निपटाने में है, टरकाने में नहीं। मुझे अब देरी, ढ़ीलढ़ाल बिल्कुल नहीं सुहाती। तीव्रता, गतिशीलता और अनथक परिश्रम मेरे जीवन के अंग बन गये हैं। यह स्वभाविक ही है, क्योंकि मैंने 'सोम' का आश्रय लिया है, जिसको ऋचा कहती है—"**वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमोऽअतिद्रुतः**"—यजुः० १९।३ वायु से प्रतिष्ठित सोम पवित्रता के साथ अत्यन्त द्रुत-गति से धावन करने वाला है। सोम से संयुक्त होकर मेरे जीवन में मानो पंख लग गये है। मैं ऊँचाइयों पर तीव्रता से पहुँच जाना चाहता हूँ।

(अमृताम् अमृतेन) 'सोम' अमृत है। इसी अमृत का अपने जीवन में सृजन कर मैं जीवन को अमृतमय बनाता हूँ। मैं समझ गया हूँ, आनन्द जीवन की सफ़लता में है। यह जीवन मुझे मिला ही इसलिये है कि मैं अपने कार्य-क्षेत्र में जो (जो मेरा धर्मक्षेत्र भी है)—सफलता के नित्य नये कीर्तिमान स्थापित करूँ। मेरा लक्ष्य अब शारीरिक सुखों की प्राप्ति नहीं है, मेरा लक्ष्य अब आत्मिक आनन्द है। 'सोम' तो स्वयं आनन्द प्रदाता है। "**सुरया सोमः सुतऽआसुतो मदाय**"—यजुः० १९।५ शुद्ध और नितान्त शुद्ध सोम सुरमणीयता के साथ अपूर्व आनन्द प्रदान करने वाला है, यह मेरे ब्रह्म-बल और क्षत्र-बल दोनों को पवित्र करता है। मेरे जीवन मे तो अब आनन्द ही आनन्द है। आनन्द तो अनुभूति का विषय है, मैं वाणी से इसका बखान कर ही नहीं सकता। मेरे चारों ओर मस्ती ही मस्ती है। सोम से युक्त होकर मैं, जिधर देखता हूँ, उधर सोमामृत ही पाता हूँ।

(मधुमतीं मधुमता) मधुमय बना जीवन मेरा सम्पूर्ण माधुर्य से। जीवन जब संत्पत था, दुःखों और क्लेवों से घिरा था, मेरी मधुरता समाप्त हो गई थी। कटुता ने घर कर लिया था। सब कुछ कड़वा लगता था। सोम से युक्त होकर मेरी कड़वाहट जा चुकी है। अब तो स्थिति यह है—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसंदृशः॥

—अथर्व० १।३४।३

मैं मिलता हूँ तो मधुरता से। बिछुड़ता हूँ तो मधुरता से वाणी में मेरे मिठास है। मधु के समान मधुरता मेरे सारे जीवन में व्याप गई है।

कोई शै मेरी फ़ितरत को अब बदल नहीं सकती।
मेरी आदत जो पड़ गई है अब मुस्कराने की॥

(सोम असि) सोम मेरे जीवन में समा गया है। मैंने समताओं को प्राप्त कर लिया है। मैं सोम के सदृश हो गया हूँ। मेरी साधना रंग ले आई है। मेरा जीवन अब सोम ही सोम है। क्या अब भी कुछ करना शेष है ?

वेदमाता का उत्तर है, हाँ, अभी तुझे जीवन में स्थायित्व लाना है, परिपक्वता प्राप्त करनी है।

देखो! ऊँचाइयों पर पहुँच जाना एक बात है। ऊँचाइयों पर बने रहना, जीवन में गिरावट न आने देना, यह दूसरी बात है, और यही महत्वपूर्ण है। जीवन की सारी साधना व्यर्थ हो जाती है, यदि व्यक्ति ऊँचा उठ कर भी पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। पतन ही व्यक्ति को पतित बना देता है। एक दृष्टि से पतन ही मृत्यु है। वैसे भी समतल धरातल पर कोई गिरे, तो शायद चोट खाकर पुनः खड़ा हो सकता है, परन्तु यदि ऊँचाइयों से गिरे, तो मृत्यु निश्चित है।

मन्त्र में जीवन का सम्पूर्ण विज्ञान है। अतः वेदमाता कहती है कि 'सोम' के समान बनकर जीवन भर सोम बने रहो। इसके लिये भी तीन क्रियाओं का निर्देश है।

(अश्भ्यिां पच्यस्व) अश्वियों के लिये परिपक्वता ला।

(सरस्वत्यै पच्यस्व) वाणियों के लिये परिपक्वता ला।

(इन्द्राय सु-त्रामणो पच्यस्व) सु-तारक इन्द्र (आत्मा) के लिये परिपक्वता ला।

तीनों ही निर्देशों में जो शब्द समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, वह है, **पच्यस्व**। जो पका हुआ है, परिपक्व है, वही पच्यस्व है, वही पाचक है। स्थायित्व के लिये परिपक्वता अत्यन्त आवश्यक है। दृढ़ और स्थितप्रज्ञ वही हो सकता है जो परिपक्व (matured) है। जो कच्चा या अपरिपक्व (immature) है, वह जल्दी ही मात खा जायेगा। जीवन में परिपक्वता और दृढ़ता (maurity & steadfastness) का अपना ही महत्व है, अतः मन्त्र में उस पर विशेष बल दिया गया है।

लोक में कहावत है—"नीम-हकीम, ख़तरा-ऐ-जान, नीम-मुल्ला, ख़तरा-ए-ईमान।" तो वेद में कहीं भी आधे-अधूरेपन की बात नहीं है। यहाँ तो पूर्णता (perfection) की बात है। परिपक्वता होने की बात है।

तो पहला निर्देश है '**अश्विभ्यां पच्यस्व**'। वेद में अश्विभ्यां शब्द उन अश्वियों के लिये आया है, जिनको जोड़े (pairs) के रूप लिया जाता है, जैसे 'द्यौ-पृथिवी', 'प्राण-अपान', 'दिन-रात्रि', 'स्त्री-पुरुष', 'नर-नारी', 'माता-पिता', 'पति-पत्नि', 'दिल-दिमाग़' आदि। विस्तार से पृथक्-पृथक् न कहकर एक ही शब्द में कहना हो, तो 'अश्विभ्यां' कह दीजिये। एक दूसरा चिन्तन, और वह यह कि 'अश्व' कहते हैं घोड़े को। अश्विभ्यां हुआ—'आशुगामी घोड़ों' के लिये। हर मनुष्य के पास दो आशुगामी अश्व हैं, वे हैं—मस्तिष्क और हृदय/ दिमाग़ और दिल (Mind and heart)। मस्तिष्क की विचार-तरंगो की गति एक सेकेन्ड में सड़सठ लाख बाईस हज़ार मील बताई जाती है। हृदय की भाव-तरंगो (संकल्पों) की गति एक सेकेन्ड में इक्यासी लाख मील आँकी गई है। गति कुछ भी हो, जो बात निर्विवाद है, वह यह कि मस्तिष्क और हृदय की उड़ान बहुत आशुगामी, दूरगामी और ऊर्ध्वगामी है। वेद-माँ अश्वियों के माध्यम से जो संकेत दे रही है, वह संक्षेप में यदि कहा जाय, तो है 'मस्तिष्क और हृदय की परिपक्कता' (maturity of mind and maturity of heart)। दिल और दिमाग़ के कच्चे हम नहीं होने चाहिये। दिल भी पक्का, और दिमाग़ भी पक्का, तभी तो हम दृढ़-व्रती और स्थितप्रज्ञ होंगे। निश्चयात्मकता हृदय से और स्थिरता मस्तिष्क में स्थित स्थिर-बुद्धि से ही तो आती है, अतः परिपक्कता के विषय में जो पहला निर्देश है मन्त्र में, वह है मस्तिष्क और हृदय की परिपक्कता। यह परिपक्कता कौन लायेगा जीवन में—उत्तर है "सोम से युक्त जीवन"। 'सोम' का आश्रय केवल आगे बढ़ने और ऊँचे उठने के लिये ही नहीं लेना है, वरन परिपक्कता जीवन में लाने के लिये 'सोम' से जीवन-पर्यन्त युक्त रहना ज़रुरी है।

दूसरा निर्देश—'**सरस्वत्यै पच्यस्व**' सरस्वती (वाणी) के लिये परिपक्कता ला। स-रसवती वाणी ही सरस्वती है। मोटे तौर से वेद माँ का निर्देश है कि ज़बान का कच्चा न बन; ज़ुबान का पक्का बन। वाणी

साधन है, संप्रेषण (communication) का। संप्रेषण सही हो, सरस हो, सुबोधक हो, सीधा और सत्यार्थ हो, इसके लिये वाणी की परिपक्वता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद में सरस्वती को वाग् देवी कहा गया है—

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥

—अथर्व० १९।९।३

यह जो परम-प्रतिष्ठित वाग्देवी (वाणी रूपी दिव्य शक्ति) है, घोर अशान्ति का कारण भी हो सकती है, परन्तु यही वाणी जब ब्रह्मसंशिता (ब्रह्म-ज्ञान से मँज कर परिपक्व) हो जाती है तो हमारे लिये शान्ति-प्रदाता हो जाती है। वाणी के परिपक्वता में वाणी की मधुरता भी शामिल है, जो 'सोम' से जीवन-पर्यन्त संयुक्त रहने से ही सिद्ध हो सकती है।

अंतिम बात—**'इन्द्राय सु-त्रामणे पच्यस्व'** सु-तारक इन्द्र के लिये परिपक्वता ला। मनुष्य शरीर में आत्मा ही इन्द्र है, यही सु-तारक=तारने वाला है। आत्मा ही आत्मा का शत्रु, और आत्मा ही आत्मा का परम मित्र तथा रक्षक है। आनन्द आत्मा का विषय है। आत्म-ज्ञान और आत्मबल इसके आधार हैं। आत्म-ज्ञान और आत्म-बल की परिपक्वता जीवन-पर्यन्त आनन्द में विचरण करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय॥

—गीता ७।१७

"जो ज्ञानी नित्य ही एक परमेश्वर से युक्त रहकर उसी की भक्ति, अर्थात् उसी की आज्ञानुसार जीवन यापन करता है, वही परमात्मा का प्रिय है।" मुख्य बात, आत्मा की परिपक्वता के लिये भी वही सोम परमेश्वर से युक्त रहना है। ऐसा सु-तारक (सबको दुःखों से तारने वाला) ऐश्वर्यशाली इन्द्र (महान-आत्मा) ही अपने जीवन-यज्ञ में सफ़ल होता है। शतपथ ब्राह्मण (१२।९।१।११) में भी कहा गया है, कि 'सौत्रामणी' शरीर है। यजमान मन है, धड़ वेदी है, प्रज्ञा उत्तर-वेदि, अंग ऋत्विज, हड्डियाँ ईंधन, मज्जा घी,

अग्नि मुख, आहुतियाँ अन्न, आयु संस्था है। इसीलिये जो सौत्रामणी यज्ञ करता है (जो कि इन्द्र का ही यज्ञ है—शत० १२।८।२।२४) वह सबको जीत लेता है, सबको प्राप्त कर लेता है—(शत० १२।८।२।३६) शतपथ ब्राह्मण के अलंकारिक वर्णन से भी यह स्पष्ट है, कि जीवन-यज्ञ में इन्द्र (आत्मा) की ज्ञान और बल से परिपक्वता चारों पुरुषार्थों की सिद्धि कराने वाली है।

आइये, हम और आप अपने-अपने जीवन को बनायें। 'सोम' परमेश्वर से युक्त होकर संसार में सोम का सृजन करें। वह सोम परमेश्वर मन, बुद्धि (दिल-दिमाग), वाणी तथा हमारी आत्मा में परिपक्वता लाये, जिससे हम एक जीवन्त और सफ़ल जीवन जी कर परम-पद और परमानन्द को प्राप्त हो सकें और कह सकें—

क्या मिटायेगी मुझको यह गर्दिशे दौरां।
कि मैं यकीन हॅू, इक अज़्म, इक इरादा हूँ॥

—:०:—

१०

जागरण विज्ञान*

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

—ऋग्वेद ५। ४४। १४; सामवेद १८२६

ऋषिः—अवत्सारः। देवताः—विश्वेदेवाः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुपः।
स्वरः—धैवत।

पदपाठ—यः। जागार। तम्। ऋचः। कामयन्ते। यः। जागार। तम्। उ। सामानि। यन्ति। यः। जागार। तम्। अयम्। सोमः। आह। तव्। अहम्। अस्मि। सख्ये। नि-ओकाः॥

(यः जागार)	—	जो जाग गया/ जागा हुआ है,
(तम् ऋचः कामयन्ते)	—	ऋचायें उसकी कामना करती हैं,
(यः जागार)	—	जो जाग गया/ जागा हुआ है,
(तम् उ सामानि यन्ति)	—	समतायें उसे ही प्राप्त होती हैं।
(यः जागार)	—	जो जाग गया/ जागा रहता है,
(तम् अयम सोम आह)	—	उसके प्रति यह सोम (प्रभु) कहता है,
(अहम तव सख्ये)	—	मैं तेरी सख्यता में
(न्योकाः अस्मि)	—	नियुक्त हूँ (निश्चित निवास करता हूँ)॥

---

* आर्य जगत् २ फरवरी, १९९७ वर्ष ६२ अंक ५ में ''हम सब आत्मता जागृत् और जीवन्त हो'' शीर्षक से प्रकाशित।

यों तो वेद के सभी मन्त्र मनुष्यों को जगाने वाले हैं, पर इस, तथा इसी के साथ वाले मन्त्र में, मन्त्र-दृष्टा 'ऋषि अवत्सार' ने साक्षात्कार करके 'जागरण' विषयक सम्पूर्ण विज्ञान को विश्व के समस्त देव-देवियों के हितार्थ शाश्वत सत्य के रूप में रख दिया है। मन्त्र-दृष्टा ऋषि के नाम से ही स्पष्ट है, कि 'सार' (तत्व) को जानकर वह उसकी रक्षा में अवस्थित रहने वाला है, अतः मानव जीवन की सफ़लता का सार उसने सार रूप में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत कर दिया है।

सामान्यतया यह समझा जाता है, कि जो सोया हुआ नहीं है, वह जागा हुआ है, या जो सो नहीं रहा है, वह जाग रहा है। पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। जागृत अवस्था में भी व्यक्ति सोये हुये के समान है, यदि उसे यह ज्ञान नहीं, कि जो कुछ वह कर रहा है, वह क्या और क्यों कर रहा है। दरअसल हर वह व्यक्ति सोया हुआ है, जिसको यह पता नहीं कि वह जो कुछ—

कर रहा है, पर क्या कर रहा है?
बोल रहा है, पर क्या बोल रहा है?
सुन रहा है, पर क्या सुन रहा है?
पढ़ रहा है, पर क्या पढ़ रहा है?
लिख रहा है, पर क्या लिख रहा है?
जा रहा है, पर कहाँ जा रहा है?
जी रहा हैं, पर क्यों जी रहा है?

इस सिलसिले को जितना चाहे लम्बा करते जाइये, लगेगा कि हममें से अधिकांश की आँखे बेशक खुली हों, पर हैं हम सोये हुये ही। इस संसार में हमारी स्थिति की तुलना अस्पताल में कोमा में पड़े उस रोगी से की जा सकती है, जो जीवित तो है (यानी मरा नहीं है) परन्तु उसे पता नहीं कि कौन उसके पास है, कौन उसकी चिकित्सा व देख-भाल कर रहा है, उसके घर-परिवार, समाज, संसार में क्या घट रहा है, और क्या हो चुका है।

इस संसार में हम हैं, पर क्यों हैं, किस लिये हैं, क्या है हमारे जीवन का उद्देश्य, क्या हमें करना चाहिये, क्या नहीं, हम क्या साथ लेकर आये थे, क्या साथ लेकर जायेंगे, हमारी सम्पदा क्या है,

हमारी संस्कृति क्या है, हममें से अधिकांश इन प्रश्नों से ग़ाफ़िल ही हैं, और ग़ाफ़िल ही एक दिन चले जायेंगें। यह भी स्थिति सोये होने की सी ही है।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति को मनीषा, अपनी क्षमता और अपनी शक्तियों का एहसास नहीं है, जिसने अपने आप को ही नहीं समझा है, जो अपने ही विषय में बेख़बर है, वह भी मानो सोया पड़ा है। जिसको आत्म-बोध नहीं, उसको परमेश्वर का बोध क्या होगा। जिसने खुद को ही नहीं जाना है, वह खुदा को क्या जान पायेगा। इसीलिये उपनिषदों के ऋषियों ने कहा—'**उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत**' (कठो० १।३।१४) उठो, जागो और वरणीय ज्ञान से बोध को प्राप्त करो, और वेद ने तो आदि काल से ही कहा था '**उतिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्**' (ऋग्० १०।१७९।१, अथर्व० ७।७२।१) उठो, इन्द्र के ऐश्वर्य के व्यवस्थित भाग को पैनी दृष्टि (गहरी नज़र से) देखो। इन्द्र (आत्मा) का ऐश्वर्य इस शरीर से है, जो उस परमेश प्रभु की प्रकृति के तत्वों से बनी अनुपम रचना है। इस रचना पर गौर करो। यह शरीर केवल तुम्हारी आत्मा (इन्द्र) का निवास स्थल ही नहीं है, इसमें एक दिल है, एक दिमाग है, जिसका सानी कोई और नहीं। दिल को चाहो, तो इतना संकुचित कर लो कि इसमें सगे भाई के लिये भी स्थान न रहे, और चाहो तो इतना विशाल और महान बना लो कि सारी दुनियाँ का दर्द इस छोटे से दिल में समा जाय। छोटा सा दिल जब उदार हो जाय, तो हर एक के लिये स्थान बना देता है। इसी प्रकार दिमाग़ है, जिसके मुकाबले में नवीनतम कम्प्यूटर भी मात खा का जाय। मस्तिष्क के अन्दर लगभग बारह करोड़ से ऊपर कोशिकायें (सेल) हैं, जोकि असंख्य विचारों की श्रंखला को व्यवस्थित करने में समर्थ है। कम्प्यूटर सोच नहीं सकता, दिमाग़, यदि उसका प्रयोग किया जाय, तो सोच भी सकता है, समझ भी सकता है। प्रत्येक के पास पाँच ऐसी शक्तियाँ है, जो अन्य सब शक्तियों की जननी हैं। यह पाँच शक्तियाँ हैं—(१) हाथ-पैरों की शक्ति या शारीरिक बल; (२) इच्छा-शक्ति या मनोबल; (३) विवेक-शक्ति या बुद्धि-बल; (४) संप्रेषण शक्ति या वाक्बल; और (५) अंत:करण की शक्ति या आत्मबल। इस संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो खाली हाथ आया हो, सब ही मुट्ठी बाँधे आये

हैं और सभी में अपार क्षमता है अपने-अपने क्षेत्र में पुरुषार्थ करने की, अपने सामर्थ्य और अपनी शक्तियों के प्रयोग करने की। फिर भी यदि कोई अपने को दीन, हीन, निर्बल और असहाय कहे, तो निस्सन्देह उसने अपने आपको जाना भी नहीं और देखा भी नहीं। सन्त भीखा साहेब ने क्या खूब कहा है—

'भीखा' भूखा कोई नहीं, सब के गुदड़ी लाल।
गांठ खोल देखें नहीं, तासों फिरें कङ्गाल॥

हमारे जीवन की गुदड़ी में तो लाल छिपे पड़े है, पर हमें पता ही नहीं। कभी गुदड़ी की गांठे खोल कर देखने की चेष्टा ही नहीं की। सोते से आये, सोते से रहे, और सोते ही चले गये। जागने की चेष्टा ही नहीं की।

इसीलिये मन्त्र में कहा गया (**यः जागार**) जो जाग गया या जो जागता है। जागने का मतलब है अपने आप को जानना, अपनी शक्तियों को पहचानना, अपनी स्थिति को सूक्ष्मता से परखना तथा सोच समझ कर अपनी स्थिति को बेहतर बनाने के लिये श्रेष्ठतम कर्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त होना। कर्त्तव्यनिष्ठ, कर्म-कुशल और कार्यशील व्यक्ति को ही जागा हुआ कहा जायगा। जो कुछ कर ही नहीं रहा है, या जो कुछ वह कर रहा है, उसको पता ही नहीं कि वह क्या कर रहा है, तो उसको सोया हुआ ही कहा जायगा; सतर्क, जागरूक, सचेत तो कहा नहीं जा सकता।

कौन जागता है? अगले ही मन्त्र में आया—

अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तमृचः॑ कामयन्ते॒ऽग्निर्जा॑गार॒ तमु॒ सामा॑नि यन्ति।
अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तम॒यं सोम॑ आह॒ तवा॒हम॑स्मि स॒ख्ये न्यो॑काः॥

—ऋग्वेद ५।४४।१५; सामवेद १८२७

सब जगह आया **अग्निः जागार** अग्नि जागता है। जो सोया पड़ा है वह तो ठन्डा है। जिसके अन्दर अग्नि की ज्वाला धधक रही है, जिसमें आग है, वह जागता है, जिसमें ताप (गरमी) है, वह जागता है, जिसमें विद्युत की भाँति गति तथा गमन करने की तीव्र इच्छा है, वह जागता है। '**अंगति जानाति इति अग्निः**' जो ज्ञान प्राप्त करता है, जानता है, वह अग्निः है। निरुक्त में अग्नि की निरुक्ति इस प्रकार दी है—'**अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते**' (निरुक्त ७।१४) जो

अग्रणी है, ऊँचा उठने और आगे ही आगे बढ़ने वाला है, यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) में जिसका प्रणयन सर्व-प्रथम होता है, वह अग्निः है। **'अग-अगि-गतौ'** धातुओं से अग्नि पद सिद्ध होता है। गति के तीन अर्थ होते हैं, ज्ञान, गमन, प्राप्ति। इस प्रकार जो ज्ञानवान है, गतिशील है, तथा जिसमें कुछ प्राप्त करने की, उपलब्धि अर्जित करने की, बलवती कामना है, वही अग्निः है, और वही जागता है, वही सतर्क, सचेत और जागरुक है।

ऐसे जागे हुये व्यक्ति के लिये, जिसको अपनी क्षमताओं का, सामर्थ्य का, शक्तियों का एहसास है **(तम् ऋचः कामयन्ते)** ऋचायें कामना करती हैं। ऋचा नाम है वेद-ज्ञान का, ऋद्धि-सिद्धि का, प्रशस्तियों का, उपलब्धियों का। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्धियाँ, कार्य-क्षेत्र में प्रशस्तियाँ और साधना के क्षेत्र में सिद्धियाँ ऐसे जागे हुये व्यक्ति की बाट जोहती हैं, कि वो आये और उनको सफ़ल और सार्थक करे। पत्र, पत्रिकायें, पुस्तकें जैसे मन-ही-मन पढ़ने वाले पाठकों की कामनायें करती हैं, भवनों की कामना होती है कि उनमें आकर कोई रहे, बसे; उपवन की कामना होती है कि उसमें रंग-बिरंगे फूल खिले, इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान से पूरित वेद की ऋचायें कामना करती हैं, कि अग्नि के समान कोई जागा हुआ व्यक्ति आये और उनके रहस्यों को उजागर करे। ज्ञानी को ऋचाओं की और ऋचाओं को ज्ञानियों की कामना (चाहत) सदैव बनी रहती है, और बनी रहनी चाहिये, इसी में दोनों की सार्थकता और साफ़ल्य है।

(यः जागार) जो जागा हुआ है **(तम् उ सामानि यन्ति)** उसे ही समतायें चाहती हैं, तथा प्राप्त होती हैं। सब में और सब स्थितियों सम-भाव का होना 'समता' है 'समता' का उल्टा है 'विषमता'। जहाँ ज्ञान होगा, प्रकाश होगा, चेतनता होगी, सतर्कता और जागरुकता होगी, वहीं 'समता' होगी। इसी प्रकार जहाँ अज्ञान होगा, अन्धकार होगा, लापरवाही होगी, आलस्य और प्रमाद होगा, वहाँ विषमता होगी। वेद की समस्त मानव जाति को देन है 'समता', जो व्यवहारिक है; 'समानता' नहीं, जो सिद्धान्तः अव्यवहारिक है। साम्यवादियों ने कार्लमार्क्स के दर्शन के आधार पर 'समानता' का नारा लगाया ज़रूर, पर 'समानता' न आ सकती थी, न आई। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में शान्ति यदि स्थापित तथा स्थायी हो सकती

है, तो केवल 'समता' के आधार पर। समता ही वास्तविक योग है समता ही जीवन-पद्धति की सही दिशा है। महाभारत में योगीराज कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुये स्पष्ट कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(श्रीमद्भगवद् गीता २।४८)

"धनञ्जय (अर्जुन)! योग में स्थित होकर, आसक्ति को त्याग कर सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्मों को कर। समत्व (समभाव) ही योग कहाता है।" आसक्ति का कारण तो ममत्व है; जहाँ समत्व हो वहाँ आसक्ति कैसी। सम-भाव में ही अनासक्त भाव निहित है। अनासक्ति ही बुद्धि, मन एवं चित्त को सम-अवस्था में लाने में सहायक होती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य को आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। जागा हुआ ज्ञानवान व्यक्ति हर स्थिति में अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखने में समर्थ होता है, अतः वह सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, मान-अपमान, जय-पराजय आदि में सम (सन्तुलित) ही रहता है। चूँकि वह अशान्त, अधीर और अविवेकी नहीं होता, अतः स्वयं भी शान्तात्मा होता है, कि ऐसे प्रशान्त शान्तात्माओं की स्वयं शान्ति भी कामना करती है, और उन्हीं को प्राप्त भी होती है। ऐसे धीर-वीर सन्तुलित महापुरुष परिवार, समाज और विश्व में भी पारस्परिक सन्तुलन और मानवीय मूल्यों की गरिमा बनाये रखने में समर्थ होते हैं, अतः विभिन्न क्षेत्रों में वे 'सामानि' (समतायें) प्राप्त करने में सफ़ल होते हैं। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

बाअमल ने चाँद पर रखे क़दम।
बेअमल बस सोचते ही रह गये॥

इन जागे हुये ज्ञानवान, प्रबुद्ध, धीर-वीर, योग-युक्त शान्तात्माओं के साथ उस परमेश-प्रभु की आशीषें निरन्तर साथ रहती हैं, क्योंकि **(यः जागार)** जो जाग गया/ जागा रहता है **(तम् अयम सोम आह)** उसके प्रति यह सोम (प्रभु) कहता है **(अहम तव सख्ये न्योकाः अस्मि)** मैं तेरी सख्यता (मित्रता) में ही निश्चित निवास करता हूँ। प्रभु जिसकी सख्यता में निरन्तर नियुक्त रहता हो, उससे बढ़कर बड़भागी कौन हो सकता है। निरन्तर जागृत, जागरूक और

कर्मशील, अग्रणी और उपलब्धियों के प्राप्तकर्त्ता बने रहने के लिये इससे महान प्रेरणा और क्या हो सकती है, कि सर्वव्यापक, सर्वान्तरयामी घट-घट वासी परमेश प्रभु स्वयं साधक के अन्तर में प्रतिध्वनित होकर कहे, कि 'मैं तेरे साथ ही हूँ', तू बस निर्द्वन्द, निर्भ्रान्त, निर्भोग और निर्भय होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चल।

लोक में भी यह देखने में आता है कि जब भी किसी को थोड़े से लोग भी यह आश्वस्त करते हैं कि हम सब तुम्हारे साथ है, तो उस व्यक्ति का हौसला कई गुणा बढ़ जाता है। यहाँ तो स्वयं परमात्मा ही हौसला बढ़ा रहा है और यह तो निश्चित है, कि जिसके साथ परमात्मा हो, वह न कभी दबाया जा सकता है और न हिंसित होता है। पर यह होता तभी है, जब साधक ज्ञानवान होकर परमात्मा की सख्यता के लिये साधना करता है। "सख्यता होती है समान ख्याति वालों में।" देवपुरुष साधक की ख्याति जब परमात्मा की ख्याति के समकक्ष हो जाती है, तभी यह स्थिति होती है **'त्वमस्माकं तव स्मसि'** (ऋग्० ८।९२।३२) तू हमारा है, हम तेरे हैं।

एक बात और। मन्त्र में जहाँ देह में स्थित 'आत्मा' को 'अग्निः' से सम्बोधित किया गया है, वहाँ 'परमात्मा' को 'सोम' कहा गया है। गुणों की दृष्टि से 'अग्नि' और 'सोम' विपरीत गुणवाले हैं। 'अग्निः' यदि सूर्य है, तो 'सोम' चन्द्रमा है। अग्नि में यदि उष्णता है, तो सोम में शीतलता है। अग्नि यदि शुष्क है, तो सोम रस है। अग्नि यदि दाहक है, तो सोम औषधि है। अग्नि यदि उग्र है, तो सोम सौम्य है। अग्नि यदि आदाता (लेने वाला) है, तो सोम दाता (देने वाला) है। अग्निः में यदि तेज और गरिमा है, तो सोम में आह्लाद है, आनन्द है। इसमें रहस्य की बात यह है, कि अर्थ की दृष्टि से अग्निः और सोम बेशक एक दूसरे के उलट हों, परन्तु गुणों की दृष्टि से वे एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे विद्युत भी तभी उपयोग में आती है जब पाज़िटिव करन्ट के साथ उसकी पूरक निगेटिव करन्ट भी हो और दोनों का उचित ताल-मेल बैठाया गया हो, इसी प्रकार की सख्यता और तालमेल 'आत्मा' (अग्निः) और परमात्मा (सोम) में ज़रूरी है। जीवन के उत्थान और उपलब्धियों की प्राप्ति में प्रमुख सक्रिय क्रियाशील भूमिका में तो शरीर के साथ आत्मा ने ही, अग्निः के समान बन कर, कर्मों में प्रवृत्त होना है। परमात्मा (सोम) की

भूमिका तो मात्र अनुपूरक सहायक और प्रेरक की ही भूमिका है। संसार के रंगमंच पर अहम भूमिका तो कलाकारों ने ही निभानी है, परमात्मा तो परदे की पीछे अधिक-से-अधिक आवश्यकतानुसार अनुबोधक (प्राँम्प्ट्रर) की भूमिका में उद्यत रह सकता है। आत्मा (अग्निः) का रोल 'ऐक्टिव' है, और परमात्मा (सोम) का रोल 'पैसिव' है। 'ऐक्टिव' ने 'एक्ट' करना है, और 'पैसिव' ने सूक्ष्मता से निरीक्षण करना और ज़रूरत पड़ने पर सहायता करना है, बशर्ते कि 'एक्टर' सहायता का पात्र हो। आखिर ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते हैं। तो यह है 'अग्निः' और 'सोम' से सम्बोधनों का रहस्य। वेद में जितने भी सम्बोधन है, सब बोध कराने वाले हैं।

आइये। हम सब भी उठें, जागें और बोध को प्राप्त करें। ध्यान रहे, देव कोटि के जन कभी सोते नहीं। **न वै देवाः स्वपन्ति** (शतपथ ३।२।२।२२) देव सोते नहीं हैं, वरन् **जाग्रति देवाः** (शतपथ २।१।४।७) देव जागते हैं। पर कभी-कभार रात-रात भर जाग कर रतजगा करना, गाना और नाचना 'जागरण' नहीं है। देवी भगवती या जगत-जननी माता के नाम पर सुरा-पान कर मस्ती में गाना 'जागरण' नहीं है। इस प्रकार के 'जागरण' या 'माता की चौकी' से सिवाय शोर-शराबे के कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं। 'जागरण' का अभिप्राय वस्तुतः 'आत्म-जागरण' से है। इष्टपूर्ति का सम्यक् सृजन करने के लिये आत्मा का उद्-बुद्ध होना (अर्थात् उत्कृष्ट बोध को प्राप्त करना) ही 'आत्म-जागरण' है। आत्म-निरीक्षण, आत्म-बोध और आत्म-साक्षात्कार कर आत्म-अग्नि को ब्रह्माग्नि से प्रज्वलित कर **उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि** (यजुः० १५।५४) के अनुसार प्रदीप्त रखते हुये श्रेष्ठतम कर्मों के सम्पादन में क्रियाशील तथा कर्त्तव्यनिष्ठ रहना ही 'जागरण' है। समाहित और स्थितप्रज्ञ रहते हुये आत्म-सन्तुष्टि और आत्मानन्द की प्राप्ति ही आत्म जागरण का लक्ष्य है। जागरण के इस विज्ञान को समझ कर आत्मना हम सब जागृत और जीवन्त हों, समस्त स्तुतियों से स्तुत्य और प्रशस्तियों से परमेश प्रभु की सख्यता में प्रशस्त हों, इसी में ज़ागरण की सार्थकता है। और यही है वास्तविक जागरण विज्ञान॥

—:०:—

११

विवेकी जनों के लिये सुविज्ञान

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

—ऋग्० ७।१०४।१२, अथर्व० ८।४।१२

ऋषिः—वसिष्ठः। देवताः—सोमः। छन्दः—निचृत त्रिष्टुप्।

पदपाठ—सुविज्ञानम्। चिकितुषे। जनाय। सत्। च। असत्। च। वचसी। पस्पृधाते। तयोः। यत्। सत्यम्। यतरत्। ऋजीयः। तत्। इत्। सोमः। अवति। हन्ति। असत्॥

(चिकितुषे जनाय सुविज्ञानम्)	—	विवेकी जनों के लिये [यह] सुविज्ञान है;
(सत् च असत् च वचसी)	—	जो सत्य तथा असत्य वचन [हैं];
(पस्पृधाते)	—	[उनमें] परस्पर स्पृधा है;
(तयोः यत् सत्यम्)	—	उन दोनों में जो सत्य है,
(यतरत् ऋजीयः)	—	[तथा] जो ऋजीय है,
(तत् इत् सोमः अवति)	—	उसी की सोम रक्षा करता है,
(असत् हन्ति)	—	असत्य का हनन [कर देता] है।

बात बहुत छोटी है, परन्तु है बहुत बड़ी, बहुत ऊँची, बहुत

महान। इसी लिये वेद माता ने इसको मात्र विज्ञान (अर्थात् विशिष्ट ज्ञान) नहीं, **'सुविज्ञान'** कहा है। पर यह 'सुविज्ञान' है किस के लिये? कौन लोग इसको ठीक-ठीक समझ कर इससे लाभान्वित हो सकते हैं? तो वेद-माता ने कहा—**'चिकितुषे जनाय'** विवेकी जनों के लिये ही यह सुविज्ञान है। वही इसकी महत्ता को समझ सकते हैं। **'चिकितुषे'** से ही 'चिकित्सक' शब्द बना है। चिकित्सक सफ़ल वही होता है, जो ज्ञानवान होने के साथ-साथ विवेकी हो। रोगी की स्थिति के अनुसार किन स्थितियों में कौन सी औषधि, अथवा किस प्रकार का उपचार ठीक रहेगा, इसका सही निर्णय अपने विवेक से कर सके। मन्त्र में 'चिकितुषे' शब्द आया विद्वान, ज्ञानी, मेधावी, विवेचकों के लिये, जो सत्यस्वरूप **'ब्रह्म'** को 'परमेश्वर' को जानने-समझने की सूझबूझ तथा पैनी अंतर्दृष्टि रखते हैं। ऐसे **'जनाय'**, जनों के लिये, लोगों के लिये, यह 'सुविज्ञान' है।

इस सुविज्ञान की पहली कड़ी है—**(सत् च असत् च वचसी पस्पृधाते)** सत्य तथा असत्य जो वचन हैं, वे पारस्परिक स्पृधा से युक्त हैं। स्पृधा का कारण है, 'सत्य' और 'असत्य' का एक दूसरे का विरोधी होना। जो 'असत्य' है वह कभी 'सत्य' नहीं हो सकता; और जो 'सत्य' है, वह 'असत्य' नहीं हो सकता।

प्रायः अज्ञानवश लोग 'सत्य' तथा 'असत्य' को काल अथवा युग से जोड़ देते हैं। कहते हैं कि जब सतयुग था तो सत्य का बोलबाला था, अब कलियुग है, तो अब सत्य कहाँ। किन्तु वेद का दृष्टिकोण यह है, कि जब से मानव-सृष्टि है, तब से ही 'सत्य' और 'असत्य' दोनों विद्यमान हैं। यजुर्वेद में आया कि सृष्टि के आरम्भ में ही प्रजापति ने 'सत्य' और 'असत्य' दोनों के रूपों को देखा, अतः 'असत्य' में 'अश्रुद्धा' को धारण किया, और 'सत्य' में 'श्रद्धा' को, ताकि 'श्रद्धा', अर्थात् सत्य के धारण से, मनुष्य सत्य ऐश्वर्य को प्राप्त कर सके।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽ इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥ —यजुः० १९।७७

''प्रजापति ने सत्य और असत्य के रूपों को देखकर विशिष्ट

निश्चय किया। प्रजापति ने असत्य में अश्रद्धा को धारण किया, (और) सत्य में श्रद्धा को। ऋत अर्थात् सत्य विज्ञान से, अधर्माचरण के निवर्त्तक शुद्ध शुक्र (बीज-रूपी वेद-ज्ञान) से मनुष्यों के रक्षार्थ सत्य ऐश्वर्य की प्राप्ति हेतु इस अमृत-रूपी मधुर पेय को प्रदान किया।'' 'सत्य' और 'असत्य' के वे कौन से रूप थे जिनको देखकर मनुष्यों के हितार्थ प्रजापति ने 'सत्य' में 'श्रद्धा' को और 'असत्य' में 'अश्रद्धा' को धारण किया? इसके लिये अथर्ववेद में आया—

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः।

—अथर्व० २.१५.५

यथापूर्व 'सत्य' और 'असत्य' न डरते हैं न नष्ट होते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि 'सत्य' और 'असत्य' के जिन दो रूपों का प्रजापति ने अवलोकन किया, वे थे, इनकी शाश्वत पारस्परिक 'निडर-स्पृधा' और 'अमरता'। दोनों ही मनुष्यों के ऊपर प्रभुत्व जमाना चाहते थे और आज भी यह मनुष्यों के ऊपर हावी होने से बाज़ नहीं आते। यही इनकी कमी न ख़त्म होने वाली स्पृधा है, कशमकश है, जद्दोजहद है, हमेशा से है और हमेशा तक रहेगी। ऐसा समय कभी न था, जब सत्य न हो। और न ही कभी ऐसा समय था, जब असत्य न हो। और न ही कभी ऐसा समय आयेगा जब कि सत्य और असत्य दोनों में से कोई एक न होगा। सत्य और असत्य दोनों ही सदा से हैं, और सदा रहेंगें। दोनों ही शाश्वत हैं, और शाश्वत है इनका संग्राम भी। शाश्वता की दृष्टि से दोनों समान हैं। पर अन्तर दोनों में यह है कि 'सत्य' ही 'शिव' है, और 'सत्य' ही 'सुन्दर' है; जबकि 'असत्य' शाश्वत होते हुये भी 'अशिव' है, और 'असुन्दर' है। 'सत्य' मनुष्य को 'देवता' बनाता है; 'असत्य' मनुष्य को 'दानव' बनाता है। सत्य से जो सम्पदा प्राप्त होती है वह 'दैवी' (दिव्य) होती है; असत्य से कहीं अधिक सम्पदा प्राप्त की जा सकती है, परन्तु वह 'आसुरी' होती है, जो अंततः विनाश का कारण बनती है। 'सत्य' निवास करता है, आशा और विश्वास में, आस्था और श्रद्धा में, सदाचार और सद्व्यवहार में। 'असत्य' निवास करता है निराशा और अविश्वास में, अनास्था और अश्रद्धा में, भ्रष्टाचार और दुराचार

में। 'सत्य' सौभाग्य का सूचक है, और असत्य 'दुर्भाग्य' का।

'सत्य' और 'असत्य' से ही जुड़े हुये हैं, सच और झूठ, अच्छाई और बुराई, नेकी और बदी, धर्म और अधर्म, तथा वैदिक वाङ्मय में बहुप्रयुक्त शब्द 'ऋत' और 'अनृत'। सत्य जब तक वाणी या वचनों तक रहता है, वह 'सत्य' कहाता है। सत्य जब आचरण और व्यवहार में आ जाता है, तब 'धर्म' कहाता है। वही सत्य जब अकाट्य, अभेय, अछेद्य, अखण्ड, अटल व्रतों, नियमों, व्यवस्थाओं और उच्चतम जीवन-मूल्यों तथा श्रेष्ठतम कर्मों में विस्तरित हो जाता है, तो 'ऋत' कहाता है। जो ठीक है, उचित है, स्वभाविक है, अखंडनीय है, वह सब 'ऋत' है। सत्य-विद्या, सत्य-ज्ञान, सत्य-नियम, सत्य-आचार, सत्य-व्यवहार, सत्य-कर्म, सत्यधर्म, सद्भाव, सद्विवेक, सद्न्याय तथा जीवन में शुद्धता, पवित्रता तथा यज्ञीयता मनुष्य को ऋताचारी बनाते हैं। मनुष्यों में देव/ देवियां वही कहाते हैं, जो 'ऋत' के अनुव्रती होते हैं। **'ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः'** (ऋग्० १।६५।२) 'ऋत' ही मनुष्य को विवेकी बनाता है। इसीलिये वेद ने कहा **'ऋतं चिकित्वः' 'ऋतमिच्चिकिद्धि' 'ऋतस्य धारा अनुतृन्धि पूर्वीः'** (ऋग्० ५।१२।२) ऋत से विवेकी बन, ऋत को बार-बार जान, ऋत की सनातन धाराओं को अनुकूलता से विस्फोटित कर, जिससे तू उनके मर्म को समझ सके।

यह पृथिवी, यह वसुन्धरा जिन महान शक्तियों के आश्रय से टिकी हुई है, उनमें अथर्ववेद १२।१।१ के अनुसार अग्रणी हैं— **'बृहत् सत्य'**, और **'उग्र ऋत'**। इनके स्थान पर 'क्षुद्र-असत्य' और 'क्षुब्ध-अनृत' को बिठा दीजिये, और फिर देखिये अराजकता, दुराचार, भ्रष्टाचार, अनाचार, अत्याचार, अन्याय और पतन का नंगा नाच। नित् नये अपराध, शोषण, बलात्कार के नमूने आते रहेंगे। इसलिये विवेकी जनों को सोचना है कि उन्होंने 'सत्य' और 'असत्य', 'ऋत' और 'अनृत' के बीच चले आ रहे संग्राम में किसका साथ देना है, किसको प्रतिष्ठित करना है। अज्ञानी और अविवेकी मनुष्य तो असत्य और अनृत के माया जाल में फंसते जाते रहे हैं, और जाते रहेंगे। केवल ज्ञानी और विवेकी ही सत्य और ऋत से जुड़े रहने में समर्थ रहे हैं, और समर्थ रहेंगे। इसीलिये वेदमाता ने कहा कि यह

सुविज्ञान विवेकीजनों के लिये हैं।

इस सुविज्ञान की दूसरी कड़ी है—(**तयोः यत् सत्यम्, यतरत् ऋजीयः**) उन दोनों में (अर्थात सत्य और असत्य में) जो सत्य है, और जो भी ऋजीय है, (**तत् इत् सोमः अवति**) उसी की सोम-प्रभू रक्षा करता है। सत्य और असत्य में जो 'सत्य' है, उसको परखने की एक बड़ी सुन्दर कसौटी यहाँ वेदमाता ने दी है। वाणी का सत्य बनावटी और दिखावटी भी हो सकता है। हाथी के दाँत होते हैं, यह सत्य है। पर कौन से दाँत खाने के और कौन से दिखाने के हैं, इसका भी निर्णय करना ज़रूरी है। अतः वेदमाता ने कहा, सत्य में जो भी 'ऋजीय' है, वही वास्तविक सत्य है। 'ऋजीय' शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। 'ऋजीय' के अर्थ हैं, सीधा, सरल, सहज, स्वभावकि, सही, स्थिर, सुस्पष्ट, खरा, तथा ऋत से ओत-प्रोत, एकदम अकाट्य। वास्तविक सत्य सदैव सीधा, सरल, सहज, स्वभाविक और सही होता है। इस सत्य में कोई अंतर्द्वंद्व या विरोधाभास नहीं होता। यह सत्य एकदम निर्मल, निर्विकार और निर्भ्रान्त होता है। इस सत्य के लिये कुछ सिखाना नहीं पड़ता, इतना सहज और स्वभाविक यह होता है। इसके विपरीत झूठ बोलने के लिये पहले झूठ सिखाना पड़ता है। एक झूठ बोलने के लिये सौ झूठ घड़ने पड़ते हैं। झूठे वचनों में बहुधा परस्पर विरोध भी पाया जाता है। वस्तुतः इस विरोधाभास के कारण ही झूठ पकड़ा जाता है। सत्य में ऐसा कुछ नहीं होता, इसीलिये वेद ने उसको ऋजीय कहा।

यह मनुष्य का अविवेक और बुद्धिभ्रंश ही है, कि वह सत्य जैसी सरल चीज को परे रखकर जटिल असत्य का आश्रय लेना चाहता है। यह सोच बिल्कुल ग़लत है, कि झूठ का आश्रय लिये बिना कोई काम नहीं बनता। काम तो सच बोलने से ही बनता है। झूठ के आश्रय से तो इन्सान केवल धोखा देता है, और धोखा ही खाता है। आप अपने घर, परिवार, दफ़तर, व्यापार में, मात्र एक दिन के लिये ही सत्य के विपरीत केवल झूठ बोल कर देखें, तब आपको पता लग जायेगा, कि झूठ से आपने आपना कितना नुक़सान कर लिया। वेद ने इसीलिये कहा, कि जीवन में यदि कोई व्रत लेना चाहते हो, तो सत्यव्रती बनो। तुम्हारा आदर्श-वाक्य होना चाहिये—

'इ॒दम॒हमनृ॑तात् स॒त्यमुपैमि' (यजुः० १।५) यह मैं अनृत/ असत्य को न ग्रहण कर सत्य के निकट होऊँ। सत्य के निकट होकर सत्य को धारण करना ही 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा' से ही उस परम सत्य की प्राप्ति होती है, जिसको ईश्वर कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं। ईश्वर सत्य है, आत्मा सत्य है, प्रकृति सत्य है, ब्रह्माण्ड सत्य है। इनकी सत्यता को सत्य से ही जाना जा सकता है; असत्य तो केवल पथभ्रष्ट ही कर सकता है, सत्य का साक्षात्कार नहीं करा सकता।

कोई-कोई कहते हैं, कि आत्मसाक्षात्कार तथा ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग तो अत्यन्त कठिन है। कठिन है; किन्तु उनके लिये, जो 'सत्य' से कोसों दूर हैं, मन, वचन, कर्म में जिनके सत्यता नहीं। धर्म के सत्य-स्वरूप को जिन्होंने समझा नहीं, अपनाया नहीं। मत-मतान्तरों के भ्रम-जाल में जो उलझे हुयें हैं, वे ब्रह्म साक्षात्कार कभी नहीं कर सकते। लेकिन जिनके जीवन में सत्य है, ऋजुता और सरलता है, उनके लिये सत्यस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करना स्वमेव सरल है। जब परमेश्वर स्वयं ही सत्य है, तो वह स्वयं ही सरल हो गया, जटिल कहाँ रहा। मन्त्र यही तो दर्शा रहा है कि सरल को सरलता से, सहजता से, निष्ठा से जानने का पुरुषार्थ करो, ऋजीय बनो, ऋत स्वतः आत्मसात हो जावेगा। इसी तथ्य को ऋग्वेद में यो कहा है—**'सु॒गः पन्था॑ अनृक्ष॒र आदि॑त्यास ऋ॒तं य॒ते। नात्राव॑खा॒दो अ॑स्ति वः'** (ऋग्० १।४१।४) ''ऋत अर्थात् ऋजीय पर चलने वालों के लिये मार्ग सुगम और कण्टकरहित होता है। हे आदित्यासः (ब्रह्म में चिचरण करने वाले ब्रह्मचारियों) इस पथ पर तुम्हारा अनिष्ट कदापि नहीं है।'' अनिष्ट या विनाश इसलिये नहीं है, क्योंकि **(तत् इत् सोमः अवति)** उसकी वह सोम प्रभु पत रखता है, रक्षा करता है।

परमात्मा के जो अनेक नाम हैं, उनमें एक अत्यन्त प्रिय नाम है—'सोम'। **'यो वै विष्णुः सोमः सः'** (शतपथ ब्राह्मण ३।३।४।२१) जो सर्वव्यापक विष्णु है, वही सोम है। शान्ति, आह्लाद तथा आनन्द का दाता 'सोम' है। **'सोमो वै प्रजापति'** (शतपथ ब्राह्मण ५।१।३।७) सोम ही प्रजापति परमेश्वर है। प्रजापति परमेश्वर दयालु भी है, और न्यायकारी भी। दयालुता यह है, कि वह सत्यव्रती और

सदाचारी की रक्षा करता है। सत्यानुशासन में रहने वालों की वह लाज रखता है। और न्याय यह है, कि (**असत् हन्ति**) असत्य का अंततः हनन कर देता है।

सोम के न्यायकारी स्वरूप का वर्णन कुछ विस्तार से इसी मन्त्र से अगले मन्त्र में किया गया है, जो ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में है।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥

—ऋग्० ७।१०४।१३; अथर्व० ८।४।१३

"सोम प्रभु न तो कभी त्याज्य (पापी) का समर्थन करता है, और न ही मिथ्या (झूठ) को धारण करने वाले क्षत्रिय (बलशाली रक्षक) का। दुष्ट राक्षस और असत्य वचन बोलने वालों का [वह] हनन कर देता है। दोनों ही इन्द्र के बन्धनों में पड़े रहते हैं।" वस्तुतः झूठ से बढ़ कर कोई पाप नहीं। मनुष्य कर्म करने में बेशक स्वतन्त्र है, झूठ बोलने में भी स्वतन्त्र है, परन्तु परमेश्वर के दण्ड विधान से अंततः बच नहीं सकता।

अतः सुविज्ञान यही है कि हम सत्य का आश्रय लें। '**सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्**'—ऋग्० ४।३३।६ "ऋभवः नर सत्य ही उच्चरित करते हैं, और वैसा ही अनुकूल आचरण करते हैं। अपनी इस आत्म-धारण को वे प्राप्त रहते हैं", उससे विचलित नहीं होते।

'**सत्यमेव जयते नानृतम्**'। यह मुण्डकोपनिषद् (३।१।६) का वचन है। इसका अर्थ यही है कि सत्य ही का विजय होती है, असत्य की नहीं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि जहाँ सत्य और असत्य में स्पर्धा हो, वहाँ सत्य स्वयमेव जीत जायगा। संघर्ष से विरक्त और निष्क्रिय सत्य न कभी विजयी हुआ है, न कभी होगा। संघर्षशून्य और निष्क्रिय सत्य पर संघर्षयुक्त और सक्रिय असत्य विजयी हो सकता है। इसी प्रकार यदि सत्य अल्पमत में है, और असत्य बहुमत में है, तो विजय असत्य की हो सकती है। अतः आवश्यक है, कि सत्य को एक तो बहुमत में लाया जाय, अनेकानेक लोगों को सत्यनिष्ठ बनाया जाय। वेद के अनुसार '**रश्मिना सत्याय**

सत्यं जिन्व' (यजुः० १५।६) सत्य की रक्षा के लिये सत्य की रश्मियों द्वारा सत्य की ओर लोगों को सुप्रेरित किया जाय। और दूसरे सत्य और असत्य का परस्पर संघर्ष होने पर, सत्य असत्य के मुक़ाबले पर डट जाय, और निरन्तर डटा रहे, तब सत्य की विजय होती है, असत्य की नहीं। वेद के अनुसार सत्यवान और सत्यनिष्ठ की कसौटी यही है कि—**'ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः'** (ऋग्० ९।७३।८) ऋत का रक्षक सुकर्मा दबता नहीं; डटा रहता है। वह जानता है कि सोम प्रभु उसकी रक्षार्थ उसके साथ है। विवेकी जनों के लिये यही वेद का सुविज्ञान है। हम सब विवेकी बनें। **'त्री पवित्रा हृद्यन्तरा दधे'** (ऋग्० ९।७३।८) [मन, वचन और कर्म की] तीन पवित्रताओं को हृदय के अन्दर धारण करें। अनृत और असत्य से संघर्ष करते हुये सदाचारी एवं ऋताचारी बन कर सत्य पर आरूढ़ रहें। सत्य के आश्रय से जीवन में विजयश्री को प्राप्त करें। सत्यस्वरूप सोम परमेश्वर हमारे सत्य की रक्षा करे। **तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु॥**

—:०:—

१२

दिनों का सुदिनत्व*

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥

—ऋग्वेद ३।८।५

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवताः—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्।

पदपाठ—जातः। जायते। सुऽदिनत्वे। अह्नाम। सऽमर्य्ये। आ। विदथे। वर्द्धमानः। पुनन्ति। धीराः। अपसः। मनीषा। देवया। विप्र। उत्। इयर्ति। वाचम्।

(जातः जायते) — जन्मा का जन्म हुआ है—

(सुदिनत्वे आह्नाम) — (I) दिनों को सुदिन करने के लिये,

(समर्य्थ आ विदथे वर्धमानः)— (II) जीवन-संग्राम में भली-भाँति ज्ञान-विज्ञान द्वारा सर्वत्र आगे बढ़ने के लिये।

(पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा) — धीर ज्ञानीजन पवित्र करते हैं कर्मो को बुद्धि से (प्रज्ञा से),

(देवया विप्रः उत् इयर्ति वाचम्)— देवों का यजन करने वाला,

---

* आर्यजगत् के ११ अगस्त, १९९६ के वर्ष ६१ अंक ३२ मे 'दिनों को सुदिनत्व मे परिवर्तन करें' शीर्षक से प्रकाशित

दिव्यताओं का उपासक, श्रेष्ठ मेधावी, ज्ञानवान शुद्ध कल्याणी वाणी को उत्कृष्टता से प्राप्त होता व उच्चारता है।

ऋग्वेद के तीसरे मण्डल का आठँवा सूक्त जीवन में साधना का सूक्त है। विद्या और ब्रह्मचर्य के अनुष्टान का लक्ष्य क्या होना चाहिये, किन गुणों का ग्रहण मनुष्य को यज्ञवाहक (श्रेष्ठतम कर्मों को आगे ले जाने वाले) बनने के लिये करना चाहिये, इसका बहुत ही सुन्दर काव्यमय वर्णन इस सूक्त में उपलब्ध है।

वेद की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि इसकी शिक्षायें हर उस व्यक्ति के लिये हैं, जो इस धरती पर जन्मा है, जो इस संसार में आया है। प्रभु की कृपा से जिस भी आत्मा को यह मनुष्य का चोला (शरीर) मिला है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह अपना आत्म-विश्लेषण करे, कि वह क्या है, वह आयुपर्यन्त क्या करे, कैसे इस संसार में, अपनी उन्नति, अपना आत्म विकास करे? प्रस्तुत मन्त्र में इसी प्रकार की **जीवन-साधना** मन्त्रदृष्टा ऋषि '**विश्वामित्र**' ने विश्व के समस्त देव और देवियों के लिये बड़े ही व्यवहारिक ढ़ंग से प्रस्तुत की है। यह इसी से स्पष्ट है कि मन्त्र का देवता, अर्थात् विषय है "विश्वेदेवाः"।

(जातः जायते) जातः का अर्थ है—'जन्मा'। 'जायते'= 'जिसका जन्म होता रहता है'। "जातः जायते" से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) मनुष्य 'जन्मा' है, परन्तु उसका यह प्रथम और अन्तिम जन्म नहीं है। इस जन्म से पहले भी जन्म होते रहें हैं, इस जन्म के बाद भी होते रहने हैं। यदि मुक्ति हो भी गई, तो परान्त काले मुक्ति का आनन्द लेने के बाद फिर जन्म लेना है।

(२) मनुष्य 'जन्मा' है। जन्मदाता परमात्मा है। परमात्मा की यह महती अनुकम्पा है, कि वह सूक्षम चेतन तत्व 'जीवात्मा' को कर्मानुसार शरीर प्रदान करता रहता है। यह जन्म प्रभु की देन है।

(३) प्रत्येक 'जन्म' की एक सीमा–रेखा है, जिसे कहते हैं, 'आयु'। आयु का प्रदाता, मनुष्य स्वयं नहीं, माता–पिता नहीं, परमात्मा है। वेद के अनेक मन्त्रों में इसीलिये साधक "आयुः", "प्राण", या "दीर्घायु" की प्रार्थना करता है।

(४) 'आत्मा' अमर है, किन्तु 'शरीर' नश्वर है। जितने दिन 'आत्मा' और 'शरीर' संयुक्त है, वे ही दिन हमारी आयु हैं। यही दिन हमारी पूंजी है, हर जन्म की दौलत हैं। यह हमारे ऊपर हैं कि चाहे इस दौलत का हम वर्धन करें, या चाहे इसको बर्बाद कर दें।

वेद कहता है कि यह दिन मिले हैं, हमें दिनों को सुदिन बनाने के लिये (**सुदिनत्व अह्नाम**) दिनों के सुदिनत्व के लिये।

दिनों के सुदिनत्व में भी तीन साधनायें निहित हैं

— आत्मोन्नति
— देशोन्नति
— विश्वोन्नति

यह जन्म हमें मिला है आत्मोन्नति के लिये, अर्थात् शारीरिक और आत्मिक उन्नति के लिये। मनुष्य तन में ही यह सम्भव है, कि हम '**पुरुषार्थ**' और '**परमार्थ**' कर सकें। कर्म करने में चूंकि मनुष्य जन्म में स्वतन्त्रता है, अतः 'पुरषार्थ' और 'परमार्थ' की कोई सीमा नहीं। जितना चाहें, करें,। पुरुषार्थ और परमार्थ ही हमारे जन्मों को सफल और सार्थक करने वाले हैं। आत्मोन्नति के लिये आयुपर्यन्त यदि हम दो बातों का ध्यान रखेंगें, तो दिन सु दिन हो जायेंगें। एक '**नित्य कर्म**' और दूसरे '**नियत कर्म**'। प्रातः जागरण से लेकर शयनकाल तक, जिसमें उदबोधन, प्रातः स्तवन, शौच, व्यायाम प्राणायाम, स्नान, सूर्य–दर्शन, पंचमहायज्ञ, योगाभ्यास, स्वाध्याय, सत्संग सब कुछ दैनिक साधना की बातें, भोजन से भजन तक, आ जाती हैं, सब 'नित्य कर्म' कहाते हैं। मनु महाराज ने कहा है—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम॥

—मनुस्मृति ४।१४

अर्थात् जो मनुष्य प्रतिदिन आलस्यरहित होकर यथाशक्ति वेदोक्त, 'नित्यकर्मों' को करता है, वह परम-गति (मोक्षानन्द) को प्राप्त होता है।

दूसरे हैं 'नियत कर्म' जो जीविकोपार्जन/ व्यवसाय, के दायित्वों से लेकर, परिवार, समाज, राष्ट्र और वसुधा के प्रति दायित्वों से सम्बद्ध हैं। नियत कर्मों के प्रति गीता में कहा है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि चते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरः।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३/८।१९

"तू नियत कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने (अकर्म) की अपेक्षा कर्म करना निस्सन्देह श्रेष्ठ है। अकर्म से तो शरीर-यात्रा भी न हो सकेगी। अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्य-कर्म करता रह। असक्त होकर ही कर्म करता हुआ पुरुष परम-पद को प्राप्त होता है"। यहाँ यह समझ लेना चाहिये, कि जो जहाँ नियत (नियुक्त) है, वहीं उसका नियत कर्म है। नियत कर्म का अनासक्ति के साथ, किन्तु निष्ठापूर्वक सम्पादन करना ही कर्म योग है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण कहीं न कहीं स्थित है। और जो जहाँ स्थित है, वहीं उसके लिये नियत कर्म है। घर में, आफ़िस में, कारख़ाने में, दुकान पर, ग्राम में, नगर में, खेत में, जंगल में, पर्वत पर, जल में, थल में, रण में, जो जहाँ पर नियत है, वहीं नियत कर्म उसके सामने सदा समुपस्थित हैं। प्रतिदिन के नियत कर्मों को सुचारु रूप से सम्पन्न कर लेना, दिन को सुदिन बना लेना है। नियत कर्मों को सुसम्पन्न करने के लिये आवश्यक है, सुविचारित योजना, योजनाबद्ध तरीके से निष्ठापूर्वक सम्पादन, तथा लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कार्य-निष्पादन सम्बन्धी मूल्यांकन। यदि हम समय का वर्गीकरण इस प्रकार कर लें, कि रात्रि में शयन से पूर्व अगले दिन की कार्यसूची और संध्या समय लक्ष्य-प्राप्ति हेतु जो कार्य-निष्पादन सम्बन्धी मूल्यांकन कर लें, तो निश्चय ही हमारे दिन सुदिन होते चले जायेंगें। हर व्यक्ति यह महसूस करता है, कि

जिस दिन भी सारे सोचे हुये कार्य वह पूरे कर लेता है, वह स्वमेव ही कह उठता है, आज का दिन बहुत अच्छा गया। यदि यह स्थिति निरन्तर हो जावे, तो समझो, सारी आयु सारा जीवन ही सफ़ल हो गया।

सुदिनत्व की साधना आत्मोन्नति पर ही नहीं समाप्त हो जाती। देश और विश्व में यदि दुर्दिन छायें हों, तो किसी भी मनुष्य के दिन सुदिन नहीं हो सकते। रोने-धोने, शिकायत और आलोचना करने मात्र से दिनों का दुर्दिनत्व दूर नहीं किया जा सकता। इसके लिये भी साधना करनी पड़ती है। महापुरुषों के जीवन इस देशोन्नति और विश्व-जागृति अभियान के ज्वलन्त उदाहरण हैं। यह साधना निस्सन्देह आत्म—उन्नति की साधना से अत्यन्त कठिन है, परन्तु कुदिनों और दुर्दिनों की मंडराती काली छाया दूर करने के लिये प्रत्येक जन्मे हुये को करनी ही पड़ेगी।

मन्त्र में इसीलिये कहा (**समर्य्य आ विदते वर्धमानः**)। यह संसार एक समर है, युद्ध है, संग्राम है, दुर्दिनों को सुदिनों में बदलने के लिये। इसके लिये सब ओर से ज्ञान-विज्ञान का आश्रय लेकर भली-भाँति इस समर में संघर्ष करना है। आयु की सार्थकता संघर्ष करने में है। आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर आलसी पड़े रहने से दुर्दिन जाने वाले नहीं, और सुदिन आने वाले नहीं। कुदिन या दुर्दिन तो तभी आते हैं, जब अविद्या, अज्ञान, पाखण्ड, कुबोध, कुमति, कदाचार की व्याप्ति होती है। यही फैलाते हैं, अभाव, अन्याय, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, अनाचार और आतंकवाद। इनसे टक्कर लेना है, और इनको युद्ध-स्तर पर 'समर्य्य' अर्थात् सामरिक शक्ति से तथा 'विदथ' (ज्ञान-विज्ञान) के आश्रय से समाप्त कर दुर्दिनों को सुदिनों में, या बुरे दिनों को अच्छे दिनों में बदल देना ही मनुष्य की 'वर्धमानता' है। ज्ञान, विवेक, सुबोध, सुमति और सच्चरित्रता ही वर्धमान बनने की निशानियाँ है। अंततोगत्वा वर्धमान ही महावीर सिद्ध होता है। महावीर ही ताक़त की लड़ाई सामरिक-शक्ति और रणनीति से तथा बौद्धिक या वैचारिक लड़ाई ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार से लड़ता है, और अंत में अधर्म और अत्याचारियों का विनाश कर धर्म की विजय-पताका लहराता है।

कैसे आयेगी यह सामरिक शक्ति; कैसे होगी, ज्ञान-विज्ञान की साधना। मन्त्र में इसके लिये बड़े ही व्यवहारिक गुर दिये गये हैं। पहला है—(**पुनन्ति धीराः अपसो मनीषाः**) धीर [ज्ञानीजन] पवित्र करते हैं कर्मों को बुद्धि से। यहाँ चारों शब्द 'पुनन्ति', 'धीराः', 'अपसः' और 'मनीषा' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कामनारहित, निस्स्वार्थ, निष्काम, अनासक्त, शान्त, गम्भीर और धैर्यवान ज्ञानीजनों की संज्ञा होती है 'धीर'। 'निर्मल, निभ्रान्त, निश्चयात्मक और तीव्र बुद्धि का नाम है 'मनीषा'। जो जल के समान व्यापते और सतत प्रवाहित होते रहते हैं, ऐसे कर्मों/ कार्यों को कहते हैं, 'अपसः'। 'पुनन्ति' में पवित्र करने की क्रिया निहित है। इस प्रकार दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक, हमें 'धीर' और 'मनीषी' बनना है, दूसरे अपने कर्मों/ कार्यों की पवित्रता ही हमारे अन्दर सामरिक शक्ति और आत्मिक बल का संचार करती है; और कर्मों को पवित्र करने के लिये 'धीर' और 'मनीषी' होना ज़रूरी है।

वैसे भी दिनों को सुदिन बनाना या दुर्दिनों को सुदिनों में परिवर्तित कर देना कोई एक दिन का कार्य नहीं है। धीरज और धैर्य के साथ सनियोजित और सुविचारित ढ़ंग से प्रतिदिन इस कार्य को बढ़ाना है, जो 'धीर' और 'मनीषी' ही कर सकता है। अधीर और अविवेकी व्यक्ति इस समर को लड़ नहीं पायेगा, बल्कि सम्भव यह है कि वह अपने असन्तुलित क्रियाकलापों से किये कराये पर पानी फेर दे। इस प्रकार, देखा जाय, तो मन्त्र का एक-एक शब्द बहुत महत्वपूर्ण लगता है। 'अपसः' को ही ले लें। दिनों को सुदिन बनाने या दुर्दिनों को सुदिनों में बदलने के कार्य में सतत प्रवाहता अत्यन्त ज़रूरी है, ऐसा नहीं कि एक-दो दिन कुछ कर दिया, और फिर कुछ दिनों की छुट्टी कर दी। यह तो प्रतिदिन की कार्य-योजना और कार्यवाही है। एक और सबसे बड़ी बात है 'साधनों की पवित्रता', जो 'पुनन्ति' शब्द से प्रतिपादित होती है। लड़ना अवश्य है, किन्तु अपवित्र या अनुचित उपायों से नहीं। जीवन के सुपावन आदर्शों और नैतिक मूल्यों की अवहेलना करके नहीं। ''पुनन्ति धीरा''। धीर पहले पवित्र करते हैं फिर आक्रमण करते हैं। वृत्तियों और कृतियों की पवित्रता 'धीर' और 'मनीषी' व्यक्तियों का मन्त्रानुसार महत्वपूर्ण

लक्षण है।

अगला गुर जो मन्त्र में बताया गया है, वह है **(दैवया विप्र उदर्यर्ति वाचम्)** देवों के यजन करने वाला श्रेष्ठ मेधावी विद्वान शुद्ध कल्यणी वाणी का उत्कृष्टता से वाचन करता है। इससे होती है ज्ञान–विज्ञान की साधना। यजन में जो तीन चीजें निहित हैं, वे हैं पूजा (सम्मान), संगतिकरण तथा समर्पण की भावना। दिनों को सुदिन बनाने के लिये जीवन में दिव्यताओं और दिव्य आकांक्षाओं का होना ज़रूरी है। दिव्यताएँ आती हैं देवों [दिव्य–पुरुषों/ विद्वानों] के संगतिकरण से, उनके ज्ञान–वर्धक उपदेशों को जीवन में उतारने से, तथा दिव्य लक्ष्यों की पूर्ति के लिये उनके प्रति पूर्णतया समर्पित रहने से। विद्या से जैसे विद्वान बढ़ते हैं, देवों के यजन से दिव्यतायें बढ़ती हैं। दिव्यताओं से मनुष्य की संज्ञा "विप्र" होती है। विप्र पहले ज्ञान प्राप्त करता है, वस्तु–स्थिति को समझता है, फिर शुद्ध, कल्याण की भावना से वाणी द्वारा समझाने का यत्न करता है। वाणी तीन प्रकार की होती है—अव (निम्न), मध्यम, और उत् (उच्च, उत्कृष्ट, उत्तम)। यहाँ शब्द आया है, **(उत्, इयर्त्ति)**। इसका अर्थ यह हुआ 'उत्कृष्ट भाषण करता है'। उत्कृष्ट भाषण वही कर सकता है, जो उत्–वाणी, उत्कृष्ट कल्याणी वाणी, वेद वाणी, की साधना से संसिद्ध हो। उत्–वाणी में पांडित्य नहीं बोलता, बोलने वाले का हृदय बोलता है। और बात जो दिल से निकलती है, असर करती है।

बात अच्छी या बुरी है, कहने वाले के है हाथ।
असल में लफ़ज़ों की तो कोई ज़ुबाँ नहीं होती॥

दिव्यताओं के संचार से आख़िर को जन–मानस की कायापलट हो जाती है। दुर्दिन समाप्त होते हैं, और सुख भरे दिन आ जाते हैं। 'जन्मा' 'सुजन्मा' हो जाता है, 'दिन', 'सुदिन' हो जाते हैं।

मोटे तौर से मन्त्र के आशय से यदि कहा जाये, तो धर्म की संस्थापना के लिये अधर्म अन्याय और अत्याचार से युद्ध भी ज़रूरी है, और धर्म–प्रचार भी। धर्म–युद्ध लड़ा गया, किन्तु धर्म–प्रचार नहीं हुआ, तब भी सुदिन नहीं आएँगे। और धर्म–प्रचार तो होता रहा, किन्तु धर्म की रक्षा के लिये धर्म–युद्ध नहीं लड़ा गया, तब भी सुदिन आने से रहे।

दिनों का सुदिनत्व ही मानव का लक्ष्य है, और मानवता की पुकार भी। इसीलिये जन्मा मनुष्य प्रार्थना करता है—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

—ऋग्वेद २।२१।६

हे ऐश्वर्यशाली प्रभो! हमारे लिये जहाँ श्रेष्ठ द्रव्य, दक्षता, चित्त की अनुकूलता, सौभाग्य, ऐश्वर्यो का पोषण शरीर को नीरोगता और वाणी की स्वादुता दे, वहाँ हमें प्रदान कर, दिनों का सुदिनत्व भी। आइये, हम भी दिनों को सुदिन बनाये, दुर्दिनों को दूर भगायें। ऐसा न हो, कि अंत समय कहना पड़ जाय—

उम्रे दराज़ माँग कर लाये थे चार दिन,
दो आरज़ू में कट गये, दो इन्तज़ार में।

—:०:—

१३

सफ़लता प्राप्ति का रहस्य (१)*

गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।
स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर्वनते कार इज्जितिम्॥

—ऋग्वेद १०।५३।११

ऋषिः—देवाः। देवताः—अग्निः सौचीकः। छन्दः—पादनिचृज्जगती।

पदपाठ—गर्भे। योषाम्। अदधुः। वत्सम्। आसनि। अपीच्येन। मनसा। उत। जिह्वया। सः। विश्वाहा। सु-मनाः। योग्याः। अभि। सिषासनिः। वनते। कारः। इत्। जितिम्॥

(सः इत् वनते) — वह ही प्राप्त करता है
(विश्वाहा) — सब दिनों, सदा सर्वदा
(जितिम्) — जय, जीत, सफ़लता
(अपीच्येन मनसा)— [जिसने] अति सुन्दर अन्तर्हित मन से
(उत जिह्वया) — और वाणी से
(उदधुः) — धारण किया
(गर्भे योषाम) — गर्भ में बलवती कामना को [तथा]
(आसनि वत्सम्) — मुख में उत्तम प्रेरणास्पद वचन को। [जो है—]
(सुमना) — सु-मन वाला,

---

* आर्यजगत् २७ जुलाई, १९९७ वर्ष ६२, अंक ३० में ''सफलता प्राप्ति का रहस्य सतत साधना'' शीर्षक से प्रकाशित।

(योग्याः अभि) — सब प्रकार से योग्य और योग्यों को सब ओर रखने वाला,
(सिषासनिः) — बाँटने, वितरण वा प्रत्यायोजन करने वाला
(कारः) — कार्य करनेवाला, कर्मकुशल, समर्थ, सुकर्मा।

सफ़लता की कामना सब करते हैं। सफ़लता का नाम ही जय है, विजय है। सफ़लता में ही सुख है, आनन्द है। असफ़लता सदैव दुःख और कष्टदायी है। जीव-विज्ञान की दृष्टि से यदि देखा जाय, तो प्राणीमात्र का अस्तित्व ही एक सफल गर्भाधान और एक सफल जात-कर्म का परिणाम है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि 'सफ़लता' एक जीवित प्राणी का 'जन्म-सिद्ध अधिकार' है, और सफ़लता की प्राप्ति, जीवन का एक उच्चतम ध्येय।

पर सफ़लता है क्या? मोटे तौर पर हम जो पाना चाहते हैं, उसको यदि पा लेते हैं, तो अपने आप को सफ़ल समझते हैं, और न प्राप्त कर पाने की अवस्था में असफ़ल। किन्तु थोड़ा गहराई से विचार करें, तो हम इस निष्कर्ष पर शायद पहुँच जायें, कि जब तक हमने 'आगे बढ़ना, और ऊचें उठना' की नैसर्गिक-वृत्ति को बनाये रखा, हम सफ़ल होते गये। उस वृत्ति को छोड़ दिया, रोक लग गई, तो असफ़लता ही हाथ लगती गई। इस संसार में जब हम आये थे तो न चल पाते थे न उठ पाते थे। पर जैसे-जैसे हमें आस-पास का ज्ञान हुआ, ईश्वर-प्रदत्त नैसर्गिक वृत्ति के फलस्वरूप हमने घुटनों के बल ही सही, बढ़ना आरम्भ किया। फिर, सहारे से ही सही, किन्तु उठने की कोशिश की। हम चल निकले, बढ़ निकले। जब तक आगे बढ़ने और ऊँचे उठने की अपनी स्वभाविक वृत्ति का प्रयोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रहा, सफ़लता मिलती रही। जब तक हमारी जिज्ञासु-वृत्ति रही, हम पूछते रहे, और कुछ-न-कुछ प्राप्त करते रहे। इस वृत्ति पर भी रोक लगा दी; प्राप्ति का सिलसिला रुक गया। एक विद्वान का कथन है—सफ़लता एक साईकिल के समान है, आप पैडल चलाना बन्द कर दीजिये, कुछ ही देर में गिर पड़ेंगे। वेद के माध्यम से परमेश्वर ने तो सृष्टि आरम्भ में ही कहा है—

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम्॥ —अथर्व० ५।३०।७

"अनुप्रेरित होकर पथ के चढ़ाव को जानता हुआ पुनः पुनः आगे बढ़। ऊँचा चढ़ना और आगे बढ़ना, प्रत्येक जीवित प्राणी का जीवन्त गमन-मार्ग है।" जो आरोहण (ऊँचे उठने) और आक्रमण (आगे बढ़ने) में विफलताओं के बावजूद लगा हुआ है उसी का जीवन सफ़ल जीवंत-जीवन है।

आगे बढ़ने और ऊँचा उठने के लिये, अर्थात् जीवन में वह सब कुछ पाने के लिये, जो हम पाना चाहते हैं, उसके लिये कुछ अपेक्षायें है, जिनका बड़ा सुन्दर वर्णन ऋग्वेद के दशम मण्डल के तिरेपनवें सूक्त के इस अंतिम मन्त्र में हुआ है। वस्तुतः सफ़लता तो चीज ही अन्त की है, पूर्व में तो उसकी तैयारी ही है। एक सफ़ल व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव पर प्रकाश डालता हुआ, मन्त्र का दृष्टा ऋषि स्पष्ट घोषणा करता है (**सः इत् वनते**) वह ही प्राप्त करता है (**विश्वाहा**) सब दिन, सदा सर्वदा (**जितिम्**) जय, सफलता, जिसने (**अपीच्येन मनसा**) अन्तर्हित मन से (**उत जिह्वया**) और वाणी से (**अदधुः**) धारण किया (**गर्भे**) अन्तःकरण में (**योषाम**) बलवती कामना को, (**आसनि**) मुख में (**वत्सम**) उत्तम प्रेरणास्पद वचन को।

यहाँ मन्त्र में एक-एक शब्द का अपना महत्व है। **सः इत् वनते** से दो बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) सफ़लता वही प्राप्त करता है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव मन्त्र के अनुसार हों; तथा

(२) सफ़लता प्राप्त की जाती है, यह बैठे-बिठाये बिना कुछ करे-धरे मिल जाने वाली चीज नहीं। सफ़लता साधना से मिलती है, और साधना के लिये चाहिये 'श्रम', 'तप', 'ज्ञान' और 'आस्था'।

चिकित्वान और ज्ञानवान व्यक्तियों से पूछ कर बेशक हम सफलता के पथ को ढूंढ निकालें, पर सफलता पाने के लिये उस पथ पर चलना तो हमीं को पड़ेगा। एक बात और। सफ़लता न लाटरी है, और न संयोग। न ही यह आक्समिक या एक दम मिलने वाली चीज है। सफ़लता के भी सोपान होते हैं। सफल महापुरुषों के जीवन इस तथ्य के प्रमाण हैं कि उन्होंनें ऊँचाइयों को एक उड़ान में नहीं छू लिया था, सतत् साधना करते ही वे वहाँ पर पँहुचे थे। (HEIGHTS ACHIEVED BY GREAT MEN WERE NOT ATTAINED BY SUDDEN FLIGHT. WHILE OTHERS SLEPT, THEY WERE

TOILING DAY AND NIGHT) सतत साधना इस प्रकार सफलता प्राप्ति का अनिवार्य अंग है।

मन्त्र में अगला महत्वपूर्ण शब्द है—**विश्वाहा**। कुछ क्षणों, घण्टों या दिनों की सफलता कोई मायने नहीं रखती। मन्त्र में निर्देश है 'विश्वाहा', अर्थात् सब दिन, सदा, सर्वदा, जीवन-पर्यन्त। सफलता की साधना एक सफल-जीवन्त जीवन की साधना है, यह कुछ दिनों की नहीं। सफलता प्राप्ति के लिये कुछ बातें तो हमारे जीवन का अंग बन ही जानी चाहिये, जैसे—

(१) स्वस्थ शरीर और सादा रहन सहन।

(२) अपने जीवन और अपने कार्य में रुचि।

(३) स्पर्धा स्वयं अपने से, दूसरों से नहीं।

(४) जागरुकता अच्छी, परन्तु चिन्ता नहीं।

(५) सबसे यथायोग्य प्रीतिपूर्वक व्यवहार।

(६) चेहरे पर मुस्कराहट और दिल में प्यार।

(७) संयम, सदाचार, स्वाध्याय, सत्संग और सेवा।

हमारे जीने का ढंग यदि उपरोक्त बातों पर आधारित हो, तो निःसन्देह यह जीवन-पर्यन्त सफलता-प्राप्ति के लिये एक सशक्त बुनियाद हो सकता है।

तीसरा शब्द **जितिम्** भी महत्वपूर्ण है। सफलता को यहाँ जीत के रूप में लिया गया है। 'जीत' का सम्बन्ध 'मन' से है। 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। तो सफलता मन का विषय है। विफलता से जो घबराता नहीं, असफलता से जो हारता नहीं, विपरीत परिस्थितियों में जो डिगता नहीं, साहस, शौर्य और मेधा की जिसके पास कमी नहीं, वेद की दृष्टि में वही जीता हुआ है, वही सफल है। जीवन-पर्यन्त जिसने हार नहीं मानी, वही जीता कहलाया, उसी का जीवन सफल हुआ। मुख्य बात यह है कि सफलता की कसौटी 'लाभ' नहीं 'जीत' है; 'व्यापारिक-कुशाग्रता' या 'दुकानदारी' नहीं, लक्ष्य के प्रति पूरी निष्ठा से डटे रहना है।

लक्ष्य-निर्धारण (GOAL SETTING) के लिये आवश्यक है, अन्तःकरण में एक बलवती कामना का स्थापन। इसीलिये मन्त्र की शुरुआत ही **गर्भे योषाम् अदधुः** से हुई है। गर्भ में धारण करें बलवती

कामना। कामनाओं का गर्भस्थान है 'मन'। और मन है (**हृत्प्रतिष्ठम्**— यजुः० ३४।६) हृदय में प्रतिष्ठित। श०ब्रा० में भी कहा है—(**कस्मिन्नु मनः प्रतिष्ठितं भवतीति हृदय इति**—शत० १६।४।९।२५) मन किसमें प्रतिष्ठित है ? हृदय में। तो हृदय में धारण करें बलवती कामना। मात्र इच्छाओं से काम नहीं चलनेवाला। हमें जीवन का लक्ष्य निश्चित करना है। पूछें हम अपने-आप से, करें आत्म-शंसन, कि हम वस्तुतः क्या पाना चाहते हैं, और कितनी बलवती है हमारी वह कामना।

बुद्धि-बल और मनोबल वे शक्तियाँ हैं जो हमारी कामनाओं को दिशा, गति और निश्चयात्मकता प्रदान करती हैं। कठोपनिषद् में इसी तथ्य को यूं समझाया गया है, कि यह शरीर एक रथ है; आत्मा रथी है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं बुद्धि और मन (सारथि और लगाम) निश्चय कर घोड़ों को जिधर ले जाना चाहें ले जाते हैं। ऋग्वेद में भी आया।

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥

—ऋग्० ६।७५।६

रथ पर बैठा हुआ उत्तम सारथि जहाँ जहाँ चाहता है, वेगवान अश्वों को आगे-आगे ले जाता है। रासों (लगाम की रस्सियों) के समान सामर्थ्य की प्रशंसा करो। मन ही वह रासें है, जो अश्वों को पीछे से नियमन करती रहती हैं।

बुद्धि और मन की शक्ति ही वह शक्तियाँ हैं, जो हमारा मार्ग प्रशस्त करती हैं। जो कुछ भी हम पाना चाहते हैं, उसको बाधाओं, रुकावटों, विफलताओं के बावजूद भी हम इन्हीं शक्तियों का उपयोग कर पा सकते हैं। हमारी कामना जब बलवती होती है, तो हमारी समस्त इन्द्रियाँ वेगवान अश्वों के समान उस कामना की पूर्ति में स्वतः जुट जाती हैं। संसार के समस्त मनोवैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध कर दिया है, कि मनुष्य का मन धारणा और अटूट विश्वास के आधार पर वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है जो वह चाहता है।

बलवती कामना कैसी हो, कैसा हो उसका स्वरूप, कैसे हो उसका निर्धारण ? तो मन्त्र में आया **अपीच्येन मनसा।** अन्तर्हित सुन्दर मन से बलवती कामना का निर्धारण करें। मन यदि मैला है, तो कामना मैली होगी। मन में यदि खोट है, तो कामना खोटी होगी।

मन यदि भ्रष्ट है तो कामना भी भ्रष्ट होगी। पर मन यदि सुन्दर है, तो कामना भी सुन्दर होगी। मन यदि उदात्त है, तो कामना उदात्त होगी। मन यदि महान है, तो कामना भी महान होगी। मन के साथ मन्त्र में आया है 'अपीच्येन', जिसका भाव है 'अतिशय सुन्दर'। अतिशय सुन्दर। मन को ही 'सुमन' बनाना है। सुन्दरता निवास करती है पवित्रता में अतः मन की पवित्रता ही मन की सुन्दरता है। यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय के प्रथम छः मन्त्रों में बारम्बार यही प्रेरणा है कि **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो। कौन मन हो सकता है शुभ संकल्पों वाला? स्पष्ट भी किया, कि जिसमें 'ऋचः, यजुंषि और साम', अर्थात् 'ज्ञान, कर्म, और उपासना' प्रतिष्ठित हों, जिसमें सर्वज्ञ, सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चेतन परमात्मा ओत-प्रोत, अर्थात् उरोया-पुरोया हो, वह मन अतिशय सुन्दर तथा शुभ संकल्पोंवाला होता है। अन्तर्मन तथा अन्तरात्मा की शुद्धता और पवित्रता के लिये अन्तर्यामी परमात्मा से युक्त होना जरूरी है। परमेश्वर से युक्त मन बलवती उदात्त कामनाओं का सृजन कर उनकी प्राप्ति में सहायक होगा, इसमें सन्देह नहीं।

सुन्दर मन के साथ सफलता का अगली अनिवार्यता है **उत जिह्वया** उत्कृष्ट वाणी तथा **आसनि वत्सम** मुख में उत्तम प्रेरणास्पद वचन। वाणी और वचन ही संप्रेषण के वे साधन हैं, जो मन के भावों को प्रकट करते हैं। सफलता का रहस्य बहुत कुछ संप्रेषण कला में निहित है। वेद में आया—"**भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधि वाचि**"—ऋग्० १०।७१।२। लक्ष्मी सुन्दर संप्रेषण कला में वास करती है। वाणी के ऊपर है, मस्तिष्क और नीचे हृदय। बुद्धि और मन—दोनों से प्रभावित होती है वाणी; और वाणी से प्रभावित होता है हमारा व्यवहार। हमारे व्यवहार पर निर्भर करती है हमारी सफ़लता। वाणी हित, मित, मधुर, स-रसवती तथा कल्याणी होनी चाहिये। वचन सदैव शिष्ट, भद्र, प्रभावी, आशाजनक, युक्तियुक्त, विश्वासोत्पादक, भ्रमरहित, सुग्राह्य एवं प्रेरणास्पद होने चाहिये। व्यर्थ की बहस, तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, आक्षेप और अधिनायकता से चाहे जो कुछ भी अर्जित किया जा सकता हो, पर सफ़लता नहीं प्राप्त की जा सकती। एक सफ़ल व्यक्ति की पहचान उसकी अपनी निजी सफ़लता मे ही नहीं, वरन अन्यों को भी अपने अनुकूल बनाने तथा लक्ष्य-प्राप्ति की ओर प्रेरित किये रखने में होती है। लक्ष्य जितना ही महान

और विशाल होता है, उतना ही उसकी पूर्ति के लिये जन-सहयोग सौहाद्र और संसाधनों की आवश्यकता होती है। इनकी प्रासि में प्रभावी वाणी और प्रेरणास्पद उत्तम वचनों की कितनी अहम भूमिका रहती है, यह सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

अब विचार करते हैं उन व्यक्तिगत गुणों को जो सफलता प्रासि के लिये मन्त्रानुसार अत्यन्त आवश्यक हैं। यह हैं—**सुमना, योग्याः अभि, सिषासनिः, कारः**। पहली अनिवार्यता है, **सु-मना,** अर्थात् सु-मनवाला, अच्छे मनवाला, शुद्ध और पवित्र मनवाला। जो सु-मन है, वही सु-प्रसन्न है, और वही लोगों को, जनाधार को 'सम्-मनसः' समान मनवाले बना सकता है। सु-मनवाला ही फूलों के समान मुस्करा सकता है। एक उक्ति है—मुस्कराइये, और दुनियाँ आप के साथ है। सुमनस्कता ही व्यक्तित्व को उभारती है। व्यक्तित्व में यह एक ऐसा अन्दरूनी और बाहरी चुम्बकीय आकर्षण पैदा करती है, जिसका सही ढंग से, सही समय पर, सही लोगों में, सही उपयोग सफलता के द्वार खोल देता है। सफलता चाहने वाले व्यक्ति (**अधा ते सुम्नम् ईमहे**—ऋग्० ८।९८।११, साम० ११६०, अथर्व० २०।१०८।२) इसीलिये तेरी [परमेश्वर की] सुमनस्कता की प्रार्थना करते हैं।

दूसरी अनिवार्यता है—**योग्याः अभिः** सब प्रकार से योग्य होना और योग्यों को ही अपने सब ओर रखना। आदर-सम्मान मांगने से नहीं मिलता; हाँ यदि योग्यता हो तो स्वतः मिलने लगता है। सफलता प्रासि के लिये योग्यता अत्यन्त जरूरी है। और योग्यता आती है, दक्षता से, अपनी क्षमताओं के आकलन और पूर्ण सदुपयोग से। यह दक्षता कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में अनिवार्य है। सफल नेतृत्व प्रदान करने के लिये भी दक्षता और योग्यता सब ओर से जरूरी है, और उससे भी अधिक जरूरी है सफलता प्रासि के लिये सब ओर से योग्य व्यक्तियों का सहयोग व सदुपयोग। अपने चारों ओर अयोग्यों को लगा लीजिये, बनते हुये कार्य भी चौपट हो जायेंगे। योग्यों का निर्माण करना, योग्यों का चयन करना, योग्यों को ही योग्य कार्य पर युक्त करना और योग्यों को ही बढ़ावा देने में सफलता का रहस्य निहित है।

गुणों की दृष्टि से तीसरी अनिवार्यता है—**सिषासनिः** बाँटने वाला होना। आपके पास प्यार है, तो प्यार बाँटिये। आपके पास ज्ञान है तो ज्ञान बाँटिये। आपके पास धन-ऐश्वर्य है, तो उसको बाँटिये। भोजन है तो भोजन बाँटिये। भजन है तो भजन बाँटिये। सेवा है तो,

सेवा बाँटिये। अधिकारी हैं, तो अधिकार और शक्तियों का प्रत्यायोजन कीजिये। धर्मात्मा हैं, तो धर्म बाँटिये। महात्मा हैं, तो महानता बाँटिये। शान्तात्मा है, तो शान्ति बाँटिये। जो कुछ है उसे वेद के अनुसार बाँटिये, बेचीये मत। आज बिडम्बना यही है, कि हर चीज बिकाऊ हो गई है। आज के सद्गुरु और सन्त 'ध्यान' और 'योग' जैसे विषयों को भी बेच रहे हैं। बेचने से लाभ मिल सकता है, किन्तु सफ़लता नहीं। सफ़लता मिल सकती है समुचित वितरण से, शासन कार्य में समुचित वितरण-व्यवस्था से, और महान लक्ष्यों की प्राप्ति में समुचित प्रत्यायोजन प्रणाली से।

अन्तिम महत्त्वपूर्ण गुण मन्त्र में बताया—**कारः**। कारः का अर्थ है, साकार करने वाला। सफलता के सपने लेना, योजनायें बनाना, सफलता की सोचना, सब अच्छा है, परन्तु महत्वपूर्ण है, सफलता को सफल और सार्थक साकार करना। साकार करने में कर्तृत्व तथा साधना दोनों ही सन्निहित हैं। जो बलवती कामनाओं को सफल और सार्थक करने के लिये सतत कठोर साधना करता रहता है, उस सुकर्मा को कारः (कार्यान्वयन करने वाला) कहा जाता है। (**क्रतु-भिः सुक्रतुः**—ऋग्० १।९१।२) कर्मों को करने वाला ही सुकर्मा है। सुकर्मा ही सदाचार का रक्षक है (**ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः**—ऋग्० ९।७३।८) सदाचार का रक्षक सुकर्मा दबता नहीं, दबने के लिये होता ही नहीं। वह सफलता के साथ उभरना और आरोहण करना ही जानता है। कारः को अपनी क्षमताओं में विश्वास होता है। कर्मकुशल, वह समस्त कार्यों को इतनी कुशलता और गुणवत्ता से सम्पन्न करता है, कि सफ़लता स्वतः ही उसकी चेरी हो जाती है। सफ़लता भी सफल व्यक्ति को पाकर धन्य हो जाती है। पीछे मुड़ कर देखने का या वापस लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। सफ़लता के सोपानों पर चढ़ता हुआ 'कारः' निरन्तर सफ़लता ही सफ़लता प्राप्त करता चला जाता है।

सफ़लता की अग्नि मन्त्र के देवता (विषय) अनुसार सौचीकः अग्नि है। प्रज्वलित हो गई तो वृद्धि को ही प्राप्त होती है। सफ़लता ही सफ़लता की जननी है। ऋषियों ने मन्त्र में सफ़लता के रहस्य को साक्षात्कार कर हमारे सामने रख दिया है। क्यों न हम भी अपने जीवन को सफल और सार्थक बनायें। निरन्तर सफलता को प्राप्त हों।

—:०:—

१४

सफ़लता प्राप्ति का रहस्य (२)*

असफलताओं से हारिये मत, जूझिये

अनेक पाठकों ने पूर्व लेख पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए पूछा है कि जब काफी कुछ करने के उपरान्त सफ़लता न मिले, असफ़लता ही हाथ लगे, तब क्या किया जावे। इसी पर प्रकाश डालता है— 'सफलता प्राप्ति का रहस्य' लेख की यह दूसरी कड़ी।

असफलता क्यों ?

यह ठीक है कि असफ़लता के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु उसके कारणों का विश्लेषण तो किया ही जा सकता है। इस दृष्टि से तीन स्थितियाँ हमारे सामने स्पष्ट रूप से उजागर होती हैं—

(१) एक, जब कार्य रुचि-अनुकूल न हों, और जैसे-तैसे क्रियान्वित करने पर ही सारा जोर रहे। असफ़लता की सम्भावना इस स्थिति में सर्वाधिक रहती हैं।

(२) दूसरी, जब कार्य पूर्णतया रुचिकर हो, करा भी मनोयोग से जाय, किन्तु फिर भी असफ़लता ही हाथ लगे।

(३) जब सब कुछ ठीक-ठाक होने के बावजूद बाह्य तत्व अथवा दैविक आपदायें असफ़लता के कगार पर ला के खड़ा कर दें।

---

* आर्यजगत् ७ सितम्बर, १९९७ वर्ष ६२, अंक ३६, मे प्रकाशित।

दर्शनकारों की भाषा में हम तीनों स्थितियों को क्रमशः आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक कह सकते हैं। तीनों ही स्थितियों का परिणाम यद्यपि दुःख है, परन्तु स्थितियों की विभिन्नता तथा वैशिष्ट्य के कारण निदान अलग-अलग हैं।

असफ़लता का आधिभौतिक स्वरूप

ज़्यादातर लोग अपने आप को इसलिये असफ़ल पाते हैं, कि वे जो कुछ जीवन में बनना चाहते थे, वह तो न बन सके, और जो बने, उसमें अपने आप को खपा न सके। प्राचीनतम व्यवस्था यह थी, कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने गुण, कर्म, स्वभाव, अर्थात् स्वरुचि के अनुसार, अपने लिये अपना कार्यक्षेत्र अथवा व्यवसाय का वरण करना सम्भव था। इसी का नाम 'वर्ण-व्यवस्था' था। पराधीनता के युग और उसके बाद की परिस्थितियाँ शनैः शनै इतनी जटिल और विषम होती गई, कि कार्यक्षेत्र अथवा व्यवसाय के चयन में व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा, उपयुक्तता-अनुपयुक्तता, रुचि-अरुचि का प्रश्न ही नहीं रहा। आज स्थिति और भी विषम है। एक तो सही शिक्षा उपलब्ध नहीं। शिक्षा का सारा ज़ोर साक्षरता और ज्ञान प्रदान करने पर है, मनुष्य को विवेकी, चरित्रवान और स्वावलम्बी बनाने पर नहीं। उच्च शिक्षा के अवसर प्रत्येक को उपलब्ध नहीं। नैतिकता और उच्च-आदर्शों के अभाव में स्थिति यह है, कि हर क्षेत्र में मारा-मारी है। जिसको जहाँ अवसर भ्रष्ट या अभ्रष्ट उपायों से मिल गया, वह वहाँ जम गया, बेशक वह उसके उपयुक्त हो या न हो। परिणाम यह, कि हर कार्यक्षेत्र में आज अधिकांशतः वे लोग हैं, जो नैसर्गिक दृष्टि से उस कार्यक्षेत्र के लिये अनुपयुक्त हैं। इसीलिये अधिकतर लोग जाने या अनजाने में स्वयं को उस कार्य-विशेष, उसकी गरिमा, पद, स्थान या व्यवसाय की अपेक्षाओं के प्रति अपना उचित तारतम्य या तालमेल नहीं बैठा पाते। बस किसी तरह अपने कार्य या आजीविका की गाड़ी को धकेले चले जा रहे हैं। ऐसे लोगों का लक्ष्य सफ़लता के कीर्तिमान स्थापित करना नहीं, यशस्वी और वर्चस्वी बनना नहीं, केवल उचित अथवा अनुचित उपायों से धन बटोरना है। जब सफ़लता प्राप्ति लक्ष्य नहीं, कार्य के प्रति समर्पण की भावना और निष्ठा नहीं, तो सर्वत्र असफ़लता ही असफ़लता का बोल-बाला होगा। सच्ची बात यह है, कि '**योग्य व्यक्ति, योग्य कार्य को, योग्य साधनों से योग्य ढंग से करता है और सफ़ल होता है**; जबकि उसी कार्य को

अयोग्य व्यक्ति, अयोग्य साधनों से अयोग्य ढंग से करता है, और असफ़ल होता है।' यही कारण है, कि प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे वह धर्म का हो, राजनीति का हो, सुरक्षा का हो, सेवा का हो, शिल्प का हो, कोई भी हो; लोग उन क्षेत्रों में हैं, परन्तु सफ़ल कम, असफ़ल ज्यादा। जो योग्य है, दक्ष है, कार्य कुशल है, वह सफ़ल होगा ही। लेकिन जो न योग्य है, न दक्ष है, न कार्यकुशल, केवल घिरा हुआ या किन्ही कारणों से फंसा हुआ है, और न निकल पाने के कारण उचित-अनुचित साधनों का आश्रय लेकर केवल इधर-उधर हाथ पैर पटक रहा है, वह असफ़ल नहीं, तो क्या होगा ? अतः यदि आप असफ़ल महसूस करते हैं तो पहले आत्मनिरीक्षण कीजिये, कि कहीं आप इस श्रेणी में तो नहीं आते है ? यह असफ़लता का आधिभौतिक स्वरूप है।

असफ़लता का आध्यात्मिक स्वरूप

यदि आप उपरोक्त श्रेणी में नहीं आते अर्थात् योग्य भी हैं, दक्ष भी हैं, कार्यकुशल भी हैं, अपने कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठावान एवं ईमानदार भी है, किन्तु फिर भी असफ़ल हैं, तो समस्या आध्यात्मिक है। यह लेख और लेख का शीर्षक वस्तुतः इसी श्रेणी के लोगों के लिये है। इस आध्यात्मिक असफ़लता के कारणों का विश्लेषण आध्यात्मिक रूप में ही करना होगा। उन तथ्यों को समझना होगा जो इस प्रकार की असफ़लता के साथ जुड़े हुये हैं, आइये, इनको समझें।

(१) असफ़लता सनातन है। हर कार्य-परिणाम में पहले से मौजूद है। कार्य-निष्पादन में ज़रा भी चूक या ढील हुई, असफ़लता सामने आ गई। ठीक ही कहा है—सावधानी हटी और दुर्घटना घटी।

(२) सफ़लता के लिये निरन्तर सावधानी और संघर्ष ज़रुरी है। असफ़लता जितनी आसानी से आ जाती है, सफ़लता के लिये कहीं ज़्यादा तप-त्याग और पुरुषार्थ करना पड़ता है। बिना जूझे सफ़लता नहीं मिलती।

(३) ऐसा कौन है, जो कभी न कभी कहीं न कही असफ़ल न हुआ हो। सफ़लता-असफ़लता ऐसे ही हैं, जैसे फूलों में कांटे, और काटों में फूल। गुणी व्यक्ति को चाहिये कि सफ़लता पर इतराये नहीं, और असफ़लता से घबराये नहीं। असफ़लताओं का रोना रोने वाला खुद भी दुःखी होता है, और दूसरों को भी

दु:खी या हतोत्साहित करता है।

(४) असफ़लता-सफ़लता एक ही नदी के दो किनारे हैं। (**अश्मन्वती रीयते............प्र तरता सखाय**—यजुः० ३५।१०) यह संसार (या हमारा कर्मक्षेत्र) एक बहती हुई गहरी नदी के समान है। नदी के जिस छोर पर हम हैं, उसका नाम असफ़लता है। नदी के दूसरे छोर पर सफ़लता है। समस्या यही है कि नदी के उस पार कैसे पहुँचा जाय। दो बातें निश्चित हैं—

(क) असफ़लता के तट पर बैठे-बैठे दूर सफ़लता के तट को एकटक देखते रहने से हम सफ़लता तक नहीं पहुँच सकते।

(ख) इसी प्रकार हिम्मत करके मात्र अनाड़ीपन से नदी में चल पड़ने से भी हम सफ़लता तक नहीं पहुँच सकते। इस प्रकार के प्रयास में सम्भव है, हम अपनी जान भी गवाँ बैठें।

स्पष्ट है कि नदी के उस पार सफ़लता के तट पर यदि हम पहुँचना चाहते हैं, तो हमें कुशल तैराक बनना होगा। तैरने के बारे में जानकारी हम कुछ मिनटों या घण्टों में ले सकते हैं, पर कुशल तैराक हम कुछ मिनटों या घण्टों में नहीं बन सकते, चाहे कितने भी ईमानदार हम तैराकी के प्रति हों। अधिकांश मामलों में असफ़लता का कारण यही होता है, कि नदी को पार करने का हौसला तो होता है, परन्तु हम कुशल तैराक नहीं होते।

(५) हर अच्छी सफ़लता की शुरुआत असफ़लता से ही होती है। यदि हम सफ़लता के तट पर पहुँचना चाहते हैं, तो अपनी जोखिम भरी यात्रा का आरम्भ तो असफ़लता के तट से ही शुरु करना पड़ेगा। वस्तुतः सफ़लता के सूत्र असफ़लता के अध्य्यन से ही मिलते हैं। असफ़लता से बढ़िया हमारा कोई गुरु नहीं, कोई प्रशिक्षक नहीं। असफ़लता ही हमें अनुभव करा सकती है, कि हम क्यों और कैसे और कहाँ पर फ़ेल हुये, कौन सी, क्या ग़लतीयाँ हमसे हुई, और कहाँ, किन क्षेत्रों में, कैसे, सुधार तथा और उन्नति की गुंजायश है। असफ़लता को कोसते रहने से कुछ नहीं होने वाला। हाँ, असफ़लता को गुरु मान कर हम उससे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। असफ़लता के कारण और उनका सही विश्लेषण ही हमारा मार्ग-दर्शन कर सकते हैं। वस्तुतः असफ़ल होना असफ़लता नहीं है, यह सफ़लता की शुरुआत है।

(६) आप असफ़ल नहीं है, जब तक आप अपनी कोशिशें सफ़लता-प्राप्ति के लिये जारी रखते हैं। सफ़लता के प्रयासों को छोड़ देना ही असफ़लता है।

(७) असफ़लता कभी अन्तिम नहीं होती, जब तक आप ही इसको अन्तिम न समझ लें। असफ़लता अन्तिम तभी होती है, जब आप ही यह धारणा बना लेते हैं, कि अब और कोशिश करना बेकार है। जब तक सांस (प्राण) है, तब तक तो आस रखिये, कोशिशें और प्रयत्न करते रहिये।

(८) असफ़लता से अधिक हानिकारक सिद्ध होता है, असफ़ल हो जाने का भय। भय का कारण होता है हमारी नकारात्मक सोच, साहस और धैर्य का अभाव, तथा आत्मविश्वास की कमी। जो निर्भय, निर्भ्रान्त और निश्चल नहीं है, उसको असफ़ल हो जाने का भय ही सफ़लता के सारे मार्ग अवरुद्ध कर देता है।

इस प्रकार यह है असफ़लता का आध्यात्मिक स्वरूप जिसका सम्बन्ध भौतिक या बाह्य कारणों से न होकर मनुष्य के अपने 'स्व' से ही होता है।

असफ़लता का आधिदैविक स्वरूप

यह असफ़लता बाह्य तथा दैवी घटनाओं के कारण होती है, जिसके मूल में मनुष्यों के अपने ही पूर्व कर्म समष्टि रूप में उत्तरदायी होते हैं। यह इसलिये कि अधिकतर दैवी आपदायें भी मनुष्यों के प्रकृति के साथ वर्षों तक किये गये अनुचित खिलवाड़ का ही परिणाम होती हैं। बाह्य घटनाओं या दैवी आपदाओं से एक अकेले आप ही नहीं, बहुत लोग प्रभावित होते हैं। इनका सामना तो धैर्य के साथ मिल-बाँट कर पारस्परिक सहयोग से संगठित होकर ही किया जा सकता है। साथ ही सामूहिक रूप से ऐसे उपाय भी किये जा सकते हैं, जिससे इस प्रकार की घटनाओं तथा दैवी प्रकोप की पुनरावृत्ति न हो सके, अथवा उनसे बचा जा सके।

असफ़लता को सफ़लता में परिणित करने के उपाय

भौतिक कारणों से प्राप्त असफ़लता को भौतिक उपायों एवं साधनों से ही सफ़लता में परिणित किया जा सकता है, जिसमें राज्य एवं समाज की भी अहम भूमिका हो सकती है। जैसे उत्तम शिक्षा

का प्रबन्ध, जो मनुष्यों को विवेकी, चरित्रवान और स्वावलम्बी बना सके; रोज़गार, व्यवसाय तथा अन्य विभिन्न क्षेत्रों में अधिकाधिक अवसरों की उपलब्धि, जिससे प्रत्येक अपने निजी गुण-कर्म-स्वभाव तथा अभिरुचि के अनुसार अपने कार्यक्षेत्र या व्यवसाय का वरण कर सके; उपयुक्त स्थानों पर उपयुक्त व्यक्तियों की केवल योग्यता, दक्षता, कार्यकुशलता एवं सत्यनिष्ठा के आधार पर चयन प्रक्रिया, आदि। सामाजिक मापदण्ड तथा व्यवस्था ऐसी हो, जिसमें निष्ठावान, तपस्वी तथा योग्यों को ही आदर सम्मान मिले, अन्यों को नहीं। नैतिक मूल्यों की अवहेलना करने वालों का सामाजिक बहिष्कार सामाजिक व्यवस्था का अंग हो, जिससे सदाचारी, सुयोग्य और सुकर्मा ही सफ़लता के उच्चतम शिखर तक निर्बाध पहुँच सकें।

आधिदैविक कारणों से असफ़लता का सामना सुसंगठित तथा एकजुट होकर ही धर्म और न्याय के आश्रय से ही किया जा सकता है। बेशक इस प्रकार की असफ़लता में दैव तथा भाग्य का हाथ हो, पर पुरुषार्थ से भाग्य पर भी विजय पाई जा सकती है। तकदीर की तुलना में तदबीर और भाग्य की तुलना में पुरुषार्थ कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुये हैं। सारा विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है।

अब रही आध्यात्मिक कारणों से प्राप्त असफ़लता को सफ़लता में परिणित करने की बात। इसके लिये इन विधाओं को अपनाया जा सकता है—

(१) नकारात्मक सोच और निराशावादी दृष्टिकोण को तिलाञ्जलि। ध्यान रखें, ईश्वर पर अटूट विश्वास और आस्था जीवन में सकारात्मक सोच और आशावादी दृष्टिकोण बनाये रखने में बहुत सहायक सिद्ध होता है।

(२) असफ़लता के डर को बिल्कुल निकाल दें। हमेशा यही सोचें कि "सफ़लता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है, और मैं सफ़लता प्राप्त करके ही रहूँगा।" हमारी सोच के ऊपर ही हमारा आगे का कार्यक्रम निर्भर करता है। अतः निरन्तर (प्रतिकूल परिस्थितियों में भी) सफलता की ही सोचें, और सफ़लता के लक्ष्य को ही सामने रख कर दक्षता और कुशलता से नियत कार्यों को आगे बढ़ायें।

(३) असफ़लता यदि मिली है, तो उसका स्वागत करें। आपकी असफ़लता इस बात की द्योतक है, कि आप उन असंख्य

ठण्डे, कायर, बलहीन लोगों से कहीं महान हैं, जिन्होंने जाना ही नहीं, कि जीत क्या होती है, और हार क्या होती है।

(४) असफ़लता के कारण अपने मन की शक्ति और आत्म विश्वास को डिगने न दें। असफ़लता का विश्लेषण कर उससे आगे के लिये सबक लें। सबक को तो याद रखें, किन्तु असफ़लता को भुला दें हमेशा-हमेशा के लिये। बहुत पुरानी उक्ति है—"बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध ले।" वेद का भी कथन है— **'मा गतानम् आ दीधीथा ये नयन्ति परावतम्'** (अथर्व० ८।१।८) जो पीछे, बहुत पीछे ले जाते हैं, उस बीते हुये का बिल्कुल ध्यान न कर। गीता में भी आया **'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः** (गीता २।११) ज्ञानी जन गतों और विगतों के बारे में शोक नहीं किया करते।

(५) हो सकता है कि असफ़लता के जिस दौर से आप गुजरे हैं, वह आपके विकास का संक्रमण काल हो। संक्रमण काल में असफ़लता मिलना अस्वाभाविक नहीं। जरुरत है, कि आप असफ़लता से घबराये नहीं, और न हार मानें। अपनी कोशिशों, प्रयासों और संघर्षों को जारी रखें। संघर्ष का नाम जीवन है। लक्ष्य प्राप्त किये बिना अपने कार्य को अधर में छोड़ देने का नाम मृत्यु है। यदि ज़िन्दादिल हैं, तो ज़िन्दगी की जीत में यकीन रखें।

(६) संसार में ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका समाधान न हो। असफ़लता से जनित समस्याओं का सही समाधान ढूंढ निकालिये और डट जाइये उन समाधानों के क्रियान्वयन पर। जहाँ चाह है, वहाँ राह है।

(७) आपका अधिकार तो कर्म करने तक है, फल आपके हाथ में न था, न है, न होगा। आप तो बस अपने अधिकारों का कर्त्तव्य-भावना से प्रयोग करते रहें। तप और परिश्रम व्यर्थ नहीं जायेगा। सात्विक भाव से की गई साधना मेंहदी की भाँति रंग लाकर ही रहती है।

(८) स्वाध्याय के क्रम में विशेषतः उन लोगों की आत्म-कथायें, जीवन-चरित्र, संस्मरण, अनुभव तथा अन्य प्रेरणावर्धक तकनीकी एवं ज्ञानोपयोगी साहित्य पढ़ते रहें, जिन्होंने संघर्ष करते हुये जीवन में सफ़लता प्राप्त की तथा अपना नाम अमर कर गये।

(९) प्रतिदिन कुछ समय शान्त-चित्त होकर ध्यान-मुद्रा में बैठ आत्मना परमपिता परमेश्वर से क्षमता, शक्ति, ओज, तेज, बल, साहस, धैर्य, पराक्रम, उत्साह, ऊर्जा तथा प्रखर बुद्धि की प्रार्थना करें। यदि आपकी प्रार्थना केवल मात्र दिखावा नहीं तो कुछ ही दिनों में आप स्वयं अनुभव करने लगेंगे, कि आप अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि, आत्म-ज्ञान, आत्म-बल तथा आत्म-विश्वास से इतने पूरित हो गये हैं, कि असफ़लता की किसी भी चुनौती का सामना करने में सशक्त भी है और समर्थ भी। कार्य कितना भी महान, और साधना कितनी भी कठिन क्यों न हो, प्रार्थना के अवलम्ब से सफ़लता निश्चय ही सतत पुरुषार्थ करने वालों के चरणों का चुम्बन करती है। यदि आपकी अभीष्ट सिद्धि में सम्पूर्ण साधन, सारे उपाय और समस्य आयोजन विफ़ल हो गये हैं, तो अपने साधनोपाय को पूरी दक्षता एवं कार्यकुशलता से काम में लाते हुये पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ प्रार्थना का पुण्याधार स्थापन करें, और प्रार्थना का चमत्कार स्वयं अनुभव करें। पर प्रार्थना वही कारगर होती है, जिसमें प्रार्थी की अन्तर्वेदना और गहन संवेदना निहित हो, साथ ही प्रार्थना के अनुरूप साधना, पुरुषार्थ तथा विश्वास से युक्त हो। ऊपरी मन से, संशय, अहंकार और अविश्वास के साथ की गई साधना-विहीन तथा पुरुषार्थरहित प्रार्थना बेकार ही साबित होती है, यह ध्यान रहे।

वेद में एक बड़ा ही प्रेरणादायक मन्त्र है—

(**सना॒ दक्ष॑मु॒त क्रतु॒मप सोम॒ मृधो॑ जहि। अथा॑ नो॒ वस्य॑सस्कृधि**—ऋग्० ९।४।३; साम० १०४९) हे सोम प्रभु! हमें (**दक्षम्**) दक्षता (**उत**) तथा (**क्रतुम्**) कर्तृत्व (**सन**) दे। (**मृधः**) बाधाओं वा बाधक तत्त्वों को (**अप जहि**) मार भगा। (**अथ**) अब (**नः**) हमें (**वस्यसः**) सफ़लकाम (**कृधि**) कर। इस मन्त्र में प्रार्थना भी है और प्रेरणा भी। ऋग्वेद तथा सामवेद में इस पूरे सूक्त के दस मन्त्रों की एक ही टेक है '**अथा नो वस्यसस्कृधि**'। अब हमें सफ़लकाम कर।

तो बस, देर किस बात की है? हार कर बैठ मत जाइये। उठिये और हो जाइये असफ़लताओं से जूझने के लिये पूरे दम-खम से तैयार। शायद सफ़लता आपका इन्तज़ार कर रही हो।

—:o:—

१५

प्रेरणा का स्त्रोत-सविता

सविता पश्चातात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः॥

—ऋग्वेद १०। ३६। १४

ऋषिः—लुशो धानाक। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप्।

पदपाठ—सविता। पश्चातात्। सविता। पुरस्तात। सविता। उत्तरात्तात। सविता। अधरात्तात। सविता। नः। सुवतु। सर्वऽतातिम्। सविता। नः। रासताम्। दीर्घम। आयुः।

(सविता पश्चात्तात्) — सविता [उत्पादक और प्रेरक प्रभु हमारे] पीछे हैं,

(सविता पुरस्त्तात्) — सविता [मार्गदर्शक और प्रवर्तक प्रभु हमारे] सामने हैं,

(सविता उत्तरात्तात्) — सविता [दयालु और आनन्ददाता प्रभु हमारे] ऊपर है,

(सविता अधरात्तात्) — सविता [प्राणप्रिय और पूजनीय प्रभु हमारे] अन्दर है,

(सविता नः सुवतु सर्वतातिम्) — सविता [सर्वशक्तिमान परमेश्वर] हमें सहाय हो सर्व-प्रकार के विस्तार में।

(सविता नः रासताम् दीर्घमायुः) — सविता (सर्वोत्पादक प्रभु) हमें दे रास आने वाली (जीवन्त) दीर्घायु।

जीवन में किसी भी कार्य को सफ़लतापूर्वक करने के लिये तीन चीज़ें जानना बहुत ज़रूरी हैं—

१. क्या करना है ?
२. कैसे करना है ?
३. क्यों करना है ?

'क्या' और 'कैसे' के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान हम अन्यों से प्राप्त कर सकते हैं। माता-पिता, आचार्य, पाठशाला, विद्यालय, संस्थान, परामर्शदाता, विषयों के विशेषज्ञ, चिन्तक, विचारक, सन्त, महात्मा, यूँ कह लीजिये, कि हमारे सारे बुज़ुर्ग हमें, एक नहीं, अनेकों, यह बताने को तैयार हैं कि हमें क्या करना चाहिये, और कैसे करना चाहिये। इनके अतिरिक्त समस्त उपलब्ध साहित्य, पुस्तकें और ज्ञान के स्रोत इस सृष्टि में हमें निरन्तर 'क्या' और 'कैसे' के विषय में जानकारी दे रहे हैं, और हम अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य के अनुरूप जीवन की गाड़ी चलाने हेतु उस ज्ञान को लेते रहे हैं। पर जहाँ तक 'क्यों' का सम्बन्ध है, अर्थात् किसी कार्य को हम 'क्यों' करे, यह बाहर का विषय न होकर हमारे अन्दर की बात है। कर्म करने में स्वतन्त्र होने के नाते कर्म करना या न करना हमारी इच्छा पर निर्भर करता है। करने की इच्छा के पीछे मूल में जो चीज़ है, उसे कहते हैं "प्रेरणा"। और न करने के पीछे भी जो चीज़ है वह है, "प्रेरणा का अभाव"।

इस प्रकार, 'क्या करना है' इसका निश्चय करने के लिये हमें चाहिये 'समझ', दार्शनिक भाषा में 'विवेक'। कैसे करना है, इसके लिये चाहिये हमें 'जानकारी', दार्शनिक भाषा में 'ज्ञान'। क्यों करना है, इसे करने के लिये होनी चाहिये 'उत्कट इच्छा-शक्ति' दार्शनिक भाषा में 'प्रेरणा'।

विवेक होता है, देखने, सुनने, लोगों में उठने बैठने से, अध्यात्म में इसको कहते हैं—'सत्संग'। 'ज्ञान' मिलता है गुरुओं से उस्तादों से, आचार्यों से, पुस्तकों के अध्ययन से (ध्यान रहे "वेद" भी सब सत्य विद्याओं का पुस्तक ही है) अध्यात्म में इसको कह सकते हैं—'स्वाध्याय'। पर 'प्रेरणा' मिलती है केवल अन्दर से, अन्तरात्मा से, जिसका प्रेरक है अन्तर्यामी—'सविता देव'। विवेक और ज्ञान को आचरण अथवा कार्यरूप में लाने या न लाने के पीछे है 'प्रेरणा' या 'प्रेरणा का अभाव'।

हम सब अपनी-अपनी बुद्धि और वय के अनुसार बख़ूबी जानते हैं, कि हमें क्या करना चाहिये, और क्या न करना चाहिये। जब भी जो कुछ हम करते हैं, तो वास्तव में यह 'प्रेरणा' ही हमसे कराती है, और हम करते रहते है, जब तक हम प्रेरित रहते हैं। सब कुछ जानते-बूझते हुये भी जब हम नहीं करते, तो इसका एकमात्र कारण होता है, 'प्रेरणा का अभाव'।

'प्रेरणा का अभाव' ही आज की सबसे बड़ी मानव-समस्या है। दफ़्तर में बाबू है, जानता है, क्या करना है कैसे करना है, फिर भी नहीं करता। स्कूल में अध्यापक है, जानता है क्या पढ़ाना है, कैसे पढ़ाना है, फिर भी नहीं पढ़ाता। कारीगर है, जानता है क्या करना है, कैसे करना है, फिर भी जैसा करना चाहिये, वैसा नहीं करता। हम सब जानते हैं 'सच बराबर तप नंहि, नंहि झूठ बराबर पाप' फिर भी सच बोलने का हौसला नहीं होता। दुनियाँ में 'विवेक' और 'ज्ञान' तो बढ़ा है, हर क्षेत्र में, प्रत्येक कार्य में; लेकिन बढ़ने के बजाय यदि कोई चीज़ घटी है, और कहीं-कहीं तो लुप्त ही हो गई है,तो वह है 'प्रेरणा'।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं—"**योगः कर्मसु कौशलम्**"—गीता २।५० कर्मों का कुशलता से निष्पादन ही योग है परन्तु कहाँ है 'कार्य में कुशलता'? ज़्यादातर शिकायत यही है कि 'कार्य-कुशलता' का स्थान ले लिया है कार्य की अवधि को कुशलता से काट लेने की कला ने, अर्थात् किस प्रकार से समय को पूरा किया जा सके, कार्य चाहे हो या न हो।

इन सब स्थितियों का कारण एक है, और वह है व्यक्ति में

'प्रेरणा का अभाव'। मनुष्य कार्य तो करता है, परन्तु चूंकि 'अन्तः प्रेरित' नहीं है, अतः उसके कार्य में दक्षता, गुणवत्ता और कार्य-क्षमता इन तीनों का अभाव रहता है। वस्तुतः उद्यमी वही व्यक्ति हो सकता है, जो 'अन्तःप्रेरित' हो। अन्तःप्रेरित व्यक्ति ही जीवन में उच्चतम सफ़लताओं को प्राप्त करता है, क्योंकि वह समस्याओं से घबड़ाता नहीं, उनसे हार नहीं मानता, परन्तु उनको चुनौती मान कर उचित उपायों से मुक़ाबला करता है। प्रेरणा-हीन व्यक्ति की टेक होती है—"मैं कोशिश करूंगा"। अन्तः प्रेरित व्यक्ति पूरे आत्मविश्वास से कहता है—"मैं करके रहूँगा"

प्रश्न यह है, कि यह 'अन्तःप्रेरणा' कहाँ से आये। प्रोत्साहन, पुरस्कार, प्रशंसा, पदोन्नति के रूप में जो थपकियाँ हमें बाहर से मिलती है, वे सब अस्थायी होती हैं, उनका प्रभाव होता तो है, परन्तु क्षणिक। विचारणीय बात यह है कि 'अल्पज्ञ' की प्रेरणा भी 'अल्प' ही होगी। स्थायी प्रेरणा तो वही दे सकता है, जो अजर, अमर तथा सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हो।

दूसरी बात यह, कि अन्तः प्रेरणा के लिये हम यदि अपने अन्तःकरण-चतुष्टय (अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) का आश्रय लेंगे, तो प्रेरणा भी, जैसी भी हमारे मन, बुद्धि, चित्त और अंह की दशा होगी, वैसी ही प्रेरणा होगी। चूंकि मन, बुद्धि, चित्त और अहं प्रकृति के गुणों (अर्थात् सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण) से प्रादुर्भूत होते रहते हैं, अतः जो भी गुण जिस काल में अधिक प्रभावी होगा, उसी के अनुरूप प्रेरणा भी होगी।

वैदिक ऋषियों ने इस तथ्य को जान लिया था। अतः प्रेरणा के लिये (जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं हो सकता) उन्होंने सीधा उस परब्रह्म परमेश्वर का आश्रय लिया जो प्रकृति के गुणों से परे किन्तु ईश्वरीय गुणों (जैसे शुद्ध, निर्मल, निर्विकार, सर्वशक्तिमान, न्यायशील, दयालुता, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी गुणों) से परिपूर्ण है। दिव्य-प्रेरणाओं के लिये दिव्य-प्रभु से बढ़कर कौन हो सकता है। दिव्य प्रेरणायें ही शुभ और श्रेष्ठतम कर्मों का आधार हो सकती है।

मन्त्र-द्रष्टा ऋषि लुशोधानाक ने विश्व के समस्त देव और देवियों

के लिये एक-मात्र 'सवितादेव' को प्रेरणास्रोत के रूप में प्रतिष्ठित किया है। 'षू-प्रेरणे', 'षूङ्-प्राणिप्रसवे', 'षूङ्-प्राणिगर्भविमोचने', 'षुम्-अभिषवे', 'षु-प्रसवैश्वर्ययोः', धातुओं से कर्त्ता में 'तृच्' प्रत्यय होने पर 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार 'सविता' के अर्थ हैं 'सबका प्रेरक', 'सबका उत्पादक', 'सबका रक्षक', 'सर्व-ऐश्वर्यवान' और 'सर्व-ऐश्वर्य प्रदाता' परमेश्वर। **'सविता सर्वस्य प्रसविता'** (निरुक्त १०।३१) सविता सर्वत्र उत्प्रेरक एवं उत्पादक शक्ति है। ऐसा सर्वशक्तिमान, सच्चिदानन्द-स्वरूप, प्रजापति परमेश्वर ही सविता देव है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के छत्तीसवें सूक्त का यह चौदहवाँ अन्तिम मन्त्र है। शेष मन्त्रों में प्रथम और तेरहवाँ मन्त्र छोड़कर बाक़ी ग्यारह मन्त्रों की टेक है—**'तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे'** देवों के उस ज्ञान, बल, ऐश्वर्यादि का हम अभी से वरण करते हैं। प्रत्येक मन्त्र में जीवन में सफ़लता प्राप्त करने के लिये सुन्दर प्रेरणा है। मन्त्र का दृष्टा ऋषि उन सब प्रेरणाओं पर विचार करते हुये साक्षात्कार करता है, कि उन सब प्रेरणाओं का स्रोत स्वयं परमात्मा है। **(सविता पश्चाक्षात्)** सविता पीछे **(सविता पुरस्तात्)** सविता आगे, **(सविता उत्तरात्तात्)** सविता ऊपर **(सषिता अधरात्तात्)** सविता नीचे, अर्थात् सर्वत्र परमात्मा विद्यमान है। मन्त्र में विषय चूंकि प्रेरणा का है, अतः परमात्मा को यहाँ 'सविता' अर्थात् प्रेरक के रूप में देखा गया है। शब्दों का क्रम भी बड़ा सुन्दर है। कर्म-कर्त्ता प्रेरणा-स्वरूप भगवान को पहले पीछे अनुभव करता है, जैसे परमात्मा का वरद हस्त उसकी पीठ पर हो। शाबाशी तो पीठ पर ही दी जाती है। फिर कर्त्तव्य-पथ पर ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, वह अनुभव करता है, कि प्रेरणास्वरूप परमात्मा उसके सामने है। सफ़लता के शिखर पर जब वह पहुँचता है, तो पाता है कि प्रेरणा-स्वरूप सर्वप्रेरक परमात्मा का साया/ आशीर्वाद उसके ऊपर है। शिखर से जब वह धरातल पर आता है, तो पाता है कि नीचे से और प्रेरणायें और अधिक श्रेष्ठतम कर्मों को करने के लिये अनुप्राणित कर रही है। सफ़लता ही सफ़लता की जननी हो जाती है।

(सविता नः सुवतु सर्वतातिम्) सविता हमें दे सब प्रकार का विस्तार। कहावत है, सफ़लता क्या है=५+५। दोनों हाथों में पाँच-

पाँच ऊंगलियाँ। दोनों हाथ किसी काम में जुट जायें, तो सफ़लता निश्चित है। इसी प्रकार पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ संयुक्त रूप से कार्य निष्पादन में लग जायें, तो सफ़लता निश्चित है। सुखी और सफ़ल जीवन के लिये पाँच 'नियमों' और 'पाँच यमों' का पालन भी आवश्यक है। नियमों का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से है, यह 'नियम' है, शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान। 'यम' का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यवहारिक जीवन से है, यह 'यम' है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। यही है प्रेरणा का विस्तार। इनके पालन से जहाँ हम स्वयं भी अन्तः प्रेरित रहते हैं वहाँ अपने जीवन से दूसरों को भी प्रेरित कर पाते हैं। पाश्चात्य विचारकों ने भी पाँच 'व्यक्तिगत गुण' और पाँच 'व्यवहारिक गुण' आवश्यक माने है। पाँच व्यक्तिगत गुण हैं, (i) सत्य निष्ठा, (ii) उत्साह, (iii) साहस, (iv) आत्मविश्वास और (v) नेतृत्व। पाँच व्यवहारिक गुण है, (i) लक्ष्य-निर्धारण (ii) नियोजन (iii) कार्यान्वयन (iv) समस्याओं का निवारण और (v) मूल्यांकन इन गुणों में भी अनेकानेक गुण समाहित हैं, जिनक़ा भी विस्तार किया जा सकता है। लकिन इन सारे गुणों का भण्डार-स्त्रोत है, एकमात्र-परमात्मा। 'जार्ज शिन' ने भी अपनी पुस्तक 'दि मिरेकिल आफ़ मोटीवेशन' में एक स्थान पर कहा है—

"There is no stronger force known to mankind than for a human being to get down on his knees and ask GOD for guidance." अर्थात् मानव जाति को अभी तक किसी अन्य शक्तिशाली ताक़त का पता नहीं है, सिवाय इसके, कि मनुष्य घुटनों के बल बैठ कर परमपिता परमेश्वर से मार्गदर्शन के लिये याचना करे। **'सविता नः सुवतु सर्वतातिम'**—सब प्रकार का विस्तार जगदुत्पादक परमेश्वर ही हमें दे। हम किसी से न मांग कर सब कुछ उसी से मांगे, जो 'सर्वताति' सब कुछ देने की क्षमता रखता है, जो सबका प्रेरक और सबका उत्पादक है।

ख़ुदा से मांग ले जो मांगना हो, ऐ 'अकबर';
यही वह दर है, कि ज़िल्लत नहीं सवाल के बाद।

अंतिम बात। और इसमें तो कमाल ही कमाल है। **(सविता नो**

रासतां दीर्घमायुः) सविता हमें रास दिलाये दीर्घ आयु। दीर्घ आयु अर्थात् दीर्घ जीवन को प्राप्त करना और बात है, और दीर्घ जीवन रास आना और बात है। किसी शायर ने कहा है—

कट रही है ज़िन्दगी यूँ हादसों के दरम्याँ।
मानो शीशे हों लुढ़कते, पत्थरों के दरम्याँ॥

अधिकांश लोग जीते तो हैं, पर थोड़े ही लोग हैं जो ज़िन्दादिली के साथ जीते हैं, शान के साथ जीते हैं, और जाते समय भी अनेकों को अपने जीवन से अनुप्राणित कर जाते हैं। उनका जीवन ही उनका सन्देश हो जाता है। ज़िन्दगी कोई ग़म नहीं, कि उसको जैसे–तैसे ढ़ोया जाए। न ज़िन्दगी कोई साग–सब्ज़ी है, जिसे काटा जावे। जीवन तो प्रभू की अनमोल देन है, यह तो कुछ कर दिखाने के लिये है। सफ़लता और आनन्द प्राप्त करने के लिये है। वस्तुतः सफ़लता में ही आनन्द है। और सफ़लता उनको प्राप्त होती है, जिनको जीवन माफ़िक़ आ गया, रास आ गया। ऐसे ही लोग जीने की कामना करते हैं, और तदनुरूप प्रार्थना भी। '**अदीना स्याम शरद शतं, भूयश्च शरद शतात**'—यजुः० ३६। २४ '**भूयेम शरद शतं, भूयसी शरद शतात**'—अथर्व० १९। ६७। ७–८ यह प्रार्थनायें सही अर्थों में तो वही कर सकता है, जिसे जीवन में मज़ा आ रहा हो और जिसने जीने का लुत्फ जान लिया हो। जो स्वयं ही अपने वर्तमान जीवन से बेज़ार और दुःखी हो, उसकी सौ वर्ष से अधिक जीवित रहने की प्रार्थना, वास्तव में कोई मायने नहीं रखती। और प्रार्थना तो तभी सार्थक होती है, जब प्रार्थना के अनुरूप पुरुषार्थ भी हो। इसीलिए कहा है कि—

चले चलिये कि चलना भी दलीले कामरानी है।
जो थक कर बैठ जाते हैं, वह मंज़िल पा नहीं सकते॥

जीवन रास आये, इसके लिये भी निम्न पाँच बातें ज़रूरी हैं—

१. मन शुभ–संकल्पों वाला हो।
२. बुद्धि सन्मार्ग में प्रेरित हो।
३. मति सुमति तथा प्रसन्नता और उत्साह हो।
४. चित्त में सदैव प्रसन्नता और उत्साह हो।
५. निरन्तर आत्म–साक्षात्कार करता रहे।

आत्म–साक्षात्कार में भी पाँच बातें समाहित हैं—

१. आत्म-विश्लेषण—(शरीर और आत्मा के संयोग का नाम जीवन है। दोनों को ही पर्याप्त ध्यान एवं प्रतिष्ठा आत्म-विश्लेषण में देना है।)

२. आत्म-ज्ञान—(अपनी क्षमताओं और प्रतिभाओं के विषय में। जो दूसरे कर सकते हैं, वह मैं भी कर सकता हूँ। कोई भी कार्य कठिन हो सकता है, पर असम्भव नहीं)

३. आत्म-बल—(अपनी शक्तियों को पहचानना, जिनका अभी तक उपयोग ही नहीं किया गया। अपनी सृजनात्मक, रचनात्मक और मौलिक शक्तियों का अनुभवीकरण।

४. आत्म-विकास—(विकास का अर्थ है, आगे बढ़ना, और ऊँचा उठना। रूक जाना, ठहर जाना जीवन नहीं; सही दिशा में बढ़ते जाना या चढ़ते जाना ही जीवन है)

५. आत्म-विश्वास—(अपने-आप में विश्वास, अपने कर्म में विश्वास, अपनी निष्ठा में विश्वास, अपनी कथनी, करनी, और चाल-चलन पर विश्वास, स्व-संयम, और स्व-नियन्त्रण)

मन को शुभ-संकल्पों में प्रेरित करने वाला, बुद्धि को सन्मार्ग की ओर ले जाने वाला, आत्म-ज्ञान और बल का देने ला वही एक प्रकाशमान सविता देव है। हमें सदैव इस सत्य की अनुभूति होती रहनी चाहिये, कि ईश्वर हमारे पीछे, आगे, ऊपर, नीचे, सर्वत्र है, वह हमारा मित्र और सखा है, वही परम हितैषी है, वह हमारा सदैव भला चाहता है। वही हमारी प्रेरणा का स्रोत है वही सब कुछ है। आइये हम सब मिलकर उसी का वरण करे, और उसी से प्रेरणा लें। **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः** (यजुः० ४०।२) इस संसार में कर्मों को करता हुआ ही मनुष्य सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। दीर्घ आयु भी तभी सफ़ल और सार्थक है, जबकि जीवन उत्साह और श्रेष्ठतम कर्मों में प्राप्त सफ़लता से भरा हो। ईश्वर करे, कि हमारे प्रगति और विकासोन्मुख क्रिया-कलापों में परमपिता परमेश्वर का पथ-प्रदर्शन, उसकी प्रेरणा, उसकी कृपा और उसका आर्शीवाद सदैव हमको मिलता रहे। सर्वत्र सब ओर हमें उसकी सत्ता का भान हो, और निरन्तर हमारा आत्मा उसी सर्वान्तर्यामी से अन्तःप्रेरित होते रहें। जहाँ प्रेरणा है, वहीं जीवन है।

—:o:—

१६

माता का स्थान : वेद की दृष्टि में*

वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे॥

—ऋग्वेद ८।१।६

ऋषिः—मेधातिथि मेध्यातिथि काण्वौ। देवताः—इन्द्रः।
छन्दः—आर्षी बृहती।

पदपाठ—वस्यान्। इन्द्रः। असि। मे। पितुः। उत। भ्रातुः। अ-भुञ्जतः। माता। च। मे। छदयथः। समा। वसो। वसुत्वनाय। राधसे॥

(इन्द्रः)	— हे परम ऐश्वर्यवान परमेश्वर
(मे पितुः वस्यान् असि)	— मेरे पिता से [तू] बढ़कर है,
(उत अभुञ्जतः भ्रातुः)	— और न पालने वाले भाई से भी, [किन्तु],
(वसो)	— हे घट-घट वासी अन्तर्यामी प्रभु!
(मे माता च समौ)	— मेरी माता और [तू, दोनों] बराबर [हैं], [क्योंकि तुम दोनों मुझे],

* आर्यजगत् ५ अक्टूबर १९९७ वर्ष ६२ अंक ४० में प्रकाशित

(छदयथः वसुत्वनाय, राधसे) — आच्छादित करते हो वसुत्व के लिये, ऐश्वर्य के लिये ॥

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल का प्रथम सूक्त पूरे-का-पूरा परम पिता परमेश्वर की स्तुति से भरा हुआ है। पूरे सूक्त के चौतींस मन्त्रों में से उन्तीस मन्त्रों का देवता (विषय) इन्द्र (परम ऐश्वर्यवान परमेश्वर) है। प्रस्तुत मन्त्र से पूर्व के मन्त्र में तो मन्त्र-दृष्टा ऋषि भाव-विभोर होकर यहाँ तक कह देता है—

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥

—ऋग्० ८।१।५

"किसी भी शुल्क (मूल्य) पर, चाहें वह सैकड़ों में हो, हज़ारों में हो, दस हज़ारों में हो, या उससे भी अधिक हो, मैं तुझे कभी नहीं त्यागूंगा, क्योंकि तुझ जैसा अद्रिवः (द्वेष-रहित), वज्रिव (शक्तिशाली), शतामघ (असंख्य ऐश्वर्यों का स्वामी) दूसरा कौन होगा!" और वही प्रभु-भक्त ऋषि (और ऋषि भी ऐसा जिसकी मेधा दिनों-दिन विलक्षण होती रहती है), जब परोक्ष परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना करता है, और प्रत्यक्ष अपने घर वालों से प्रभु की तुलना करने लगता है, तो उसका अन्तःकरण बरबस कह उठता है, कि प्रभु, तुम मेरे रक्षक-पिता से और पालन-के-दायित्व-से-मुक्त मेरे भ्राता (भाई) से तो अवश्य बड़े हो, पर मेरी माता और तुम, दोनों बराबर ही हो, क्योंकि तुम दोनों ही मुझे आच्छादित करे रहते हो, वसुत्व से और ऐश्वर्यों से। माँ को ईश्वर के समान बराबरी का दर्जा देना, यही वेद और बैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता भी है, और विशेषता भी।

वेद परमात्मा की अमर कल्याणी वाणी है। यह गौरव इस अपौरुषेय सत्य सनातन महाकाव्य को ही प्राप्त है, जो 'माता' को 'ईश्वर' के समकक्ष ही स्थान देता है। अन्य मतावलम्बियों की पवित्र पुस्तकें येन-केन-प्रकरेण बेशक माता की प्रशस्ति के गीत गाती हों, परन्तु कोई भी पुस्तक (सिवाय पवित्र वेद के) माँ को ईश्वर के समान बराबरी का दर्जा नहीं देती।

केवल वेद ही नहीं, समस्त वैदिक तथा भारतीय वाङ्मय माता

की महिमा से भरा पड़ा है। शतपथ ब्राह्मण (१४।६।१०।२) और छान्दोग्य उपनिषद (६।१४।२) से पाठ लेकर यह अति प्राचीन उक्ति प्रचलित है—

''मातृमान पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेदः।''

इसमें माता, पिता तथा आचार्य जिनको 'पुरुषो वेदः' कहा गया है, इसमें माता का स्थान प्रथम है। '**प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान**'। प्रशस्त, धार्मिक माता ही मातृमान जानी जाती है। तैत्तिरीय उपनिषद् (अ० १, अनुवाक ११) में भी आचार्य दीक्षान्त-भाषण में अपने अन्तेवासी शिष्यों को कहता है—

''मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव।
अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि,
तानि सेवित व्यानि, नो इतराणि।''

''माता, पिता, आचार्य, अतिथि देव हैं। इनके विषय में जो अनवद्य कर्त्तव्य हैं, उनका सेवन करना, इतराना नहीं।'' यहाँ भी माता का स्थान प्रथम है।

मनु महाराज ने तो यहाँ तक कह दिया—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्रं तु पितृन्तामा गौरवेणातिरिच्यते॥

—मनुस्मृति २।१४५

''अर्थात् दश उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता, और हज़ार पिताओं की अपेक्षा माता गौरव में अधिक है।'' हो सकता है, कि यह श्लोक अपनी अतिशयोक्ति तथा प्रसंग-विरुद्ध होने के कारण प्रक्षिप्त हो, परन्तु माता के गौरव को तो दर्शाता ही है। एक अन्य श्लोक में राजर्षि मनु का निर्देश है—

पितुभगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी॥

—मनुस्मृति २।१३३

''पिता की बहिन, अर्थात् बुआ और माता की बहन अर्थात् मौसी के साथ तथा अपनी बड़ी बहन के साथ माता के समान वर्त्ताव करे। किन्तु माता इन सब में अधिक बड़ी [आदरणीय] है।''

पुराणों में बहुत सारी विसंगतियाँ है, परन्तु माता को परम पूज्यनीया वे भी कहते हैं—

जनको जन्मदातृत्वात पालनाच्च पिता स्मृतः।
गरीयान जन्मदातुश्च योऽन्नदाता पिता मुने॥
तयोः शतगुणे माता पूज्या मान्या च वन्दिता।
गर्भ धारण पोषाभ्यां सा च ताभ्यां गरीयसी॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण गणेश० ४० अध्याय

"जन्मदाता और पालनकर्त्ता होने के कारण सब पूज्यों में पूज्यतम जनक पिता कहाता है। जन्मदाता से भी अन्नदाता पिता श्रेष्ठ है। इनसे भी सौ गुणी श्रेष्ठ और वन्दनीय माता है, क्योंकि वह गर्भधारण व पोषण करती है।" वृहद्धर्मपुराण (व्यास-जाबालि सम्वाद) में माँ को इक्कीस नामों से यथा माता, धरित्री, जननी दयार्द्रहृदया, शिवा, त्रिभुवनश्रेष्ठा, देवी, निर्दोषा, सुर्वदुःखहा, परम आराधनीया, दया, शान्ति, क्षमा, धृति, स्वाहा, स्वधा गौरी, पद्मा, विजया, जया तथा दुःखहन्त्री नामों से स्मरण किया गया है।

यह थोड़ा सा दिग्दर्शन केवल यही दर्शाने के लिये किया है, कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता में कितना ऊँचा स्थान माता को दिया गया है, जिस संस्कृति और सभ्यता का मूल स्रोत हैं, 'वेद'; जो स्वतः प्रमाण हैं, अर्थात् जिनके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

एक बात और। उपनिषद के ऋषियों, स्मृतिकारों तथा अन्य शास्त्रकारों ने माता की तुलना प्रायः पिता और आचार्य से की है, पर वेद में तुलना स्वयं परम ऐश्वर्यवान **(इन्द्र)** परमेश्वर से है। **'य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः '** जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इससे उस परमात्मा का नाम 'इन्द्र' है। उसी इन्द्र को सम्बोधित करते हुये मन्त्र-दृष्टा ऋषि कहता है **(मे पितुः वस्यान् असि)** मेरे पिता से तू बढ़कर है। क्यों?। क्योंकि पिता केवल रक्षक और पालक है, जनिता और विधाता नहीं। परमात्मा जनिता भी है, रक्षक भी है और विधाता भी है। वह कारण भी है, कर्त्ता भी है। सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उनका आदिमूल भी है। पिता बालक को ज्ञान और बल प्राप्त करने की व्यवस्था स्व-सामर्थ्य

अनुसार कर सकता है, परन्तु परमात्मा तो स्वयं आत्म-ज्ञान और बल का देने वाला है। अतः सांसारिक पिता की तुलना में निश्चय से वह परम-पिता समग्र ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर कहीं अधिक महान हैं, कहीं अधिक बढ़कर है। दैव से यदि सांसारिक पिता का आश्रय न भी मिले, तो कोई बात नहीं, परन्तु उस परमपिता की छाया से वंचित हो जाना निःसन्देह मृत्यु है।

अब भाई की ओर निहारें। भाई चाहे बड़ा हो या छोटा, जब तक उसमें भ्रातृत्व की भावना है, वह बहुत बड़ा संबल सिद्ध हो सकता है। ठीक है, पिता की उपस्थिति में भ्राता (अ-भुंजतः) पालन-के-दायित्व से मुक्त रहता है [और जो भाई परिस्थितिवश अपने भाइयों का पालन-पोषण करते हैं, वे वस्तुतः पिता की ही श्रेणी में आ जाते हैं], परन्तु भाई से भी बढ़ कर परमात्मा है। कारण, सांसारिक भाई जब तक भ्रातत्व की डोर से बंधा रहता है, वह भाई का धर्म निबाहता है, परन्तु जहाँ यह डोर टूटी, वह साक्षात दुर्योधन और दुःशासन बन जाता है, लक्ष्मण या भरत नहीं रह पाता। इतिहास में अनेक उदाहरण इस बात के साक्षी हैं। वेद के ऋषियों ने इस सच्चाई को आरम्भ से ही समझ लिया था, इसलिये उन्होंने परम-पिता परमात्मा से अपना बन्धुत्व स्थापित किया था।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

—यजुः० ३२।१०

वह परमात्मा ही हमारा बन्धु (भ्राता) तथा उत्पत्तिकर्ता है।

सच, वह परमात्मा ही ऐसा 'बन्धु' है जो **'क्षियन्तं त्वम् अक्षियन्तं कृणोति'** (ऋग्० ४।१७।१३) 'नष्ट होते हुये को तू ही नाश से रहित कर देता है।' अतः सांसारिक भाई की अपेक्षा इस आत्मा का युज्य-सखा परमात्मा निश्चय ही अत्यन्त श्रेष्ठ है।

परिवार में पिता और भ्राता से परमेश्वर कहीं श्रेष्ठ और महान सिद्ध होता है, किन्तु बात जब माता पर आती है, तो मन्त्र-दृष्टा ऋषि बरबस कह उठता है **(मे माता च समौ)** मेरी माता और [तू दोनों] समान हैं। परमात्मा का एक नाम 'सोम' है। माता भी सोम-प्रधान है। परमेश्वर एक है, जननी भी एक ही होती है। सृष्टि की रचना में जो तप परमात्मा करता है, मनुष्य को जनने और पालन-पोषण करने

में उससे कम तप माता का नहीं। सृजन की शक्ति या तो परमेश्वर में है, या मातृ-रूपा नारी में। माता जन्म देती है, पालती है, संस्कार देती है और करती है रक्षा अपने पुत्र-पुत्रियों की उनके अपने अन्दर के और बाहर के शत्रुओं से। एक माता ही है, जो परमेश्वर के समान उत्पादिनी-शक्ति, संघटिनी-शक्ति तथा संरक्षण-शक्ति से परिपूर्णता से प्रतिष्ठित है। अलंकारिक दृष्टि से ब्रह्मा, विष्णु, और शिव की त्रिमूर्ति को यदि एक ही जीवित मूर्त्ति में साकार देखना हो, तो वह है माँ, केवल माँ। एक आधुनिक कवि ने ठीक ही कहा है—

उसको तो देखा हमने नहीं, पर इसकी ज़रूरत क्या होगी।
ऐ माँ, तेरी सूरत से अलग, भगवान की सूरत क्या होगी॥

संसार में एक मेरा परमेश्वर है, और एक मेरी माँ जो केवल देना ही जानते हैं, देते ही देते हैं, और लेते कुछ नहीं।

लोक में यह बात बहुत देखने को मिलेगी, कि व्यक्ति जब अत्यधिक पीड़ा व कष्ट से कराह रहा हो तो उसके मुख से "अरी मेरी माँ" या "अरी मेरी मैया" की ध्वनि निकलती है। या फिर जो प्रभु-भक्त होते हैं, वे हर कराह में अपने इष्टदेव या 'हे मेरे प्रभु' को याद करते हैं। कारण, माता या परमेश्वर यह दो ही हैं, जो समान रूप से मेरे शरीर के पोषक हैं। करुणामयी माता और करुणासिन्धु प्रभु यह दो ही हैं जो अपने पुत्र-पुत्रियों का हित ही सोचते हैं, और हित ही करते हैं। कहते हैं, कि जब बुरा वक़्त आता है, तो अपना साया भी जुदा हो जाता है, केवल अहैतुक स्नेह करने वाली माता और अनन्त कृपालु प्रभु ही हैं, जिनकी दया-दृष्टि अपनी सन्तान पर आयुपर्यन्त एक सी बनी रहती है।

लोकोक्ति है, **'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि, माता कुमाता न भवति'** अर्थात् सन्तान चाहे कुपुत्र निकल जाय, जन्मदात्री माता कभी कुमाता नहीं होती। इसी प्रकार परमेश प्रभु से बेशक हम विमुख हो जायें, पर हमारा प्रभु-परमेश्वर कभी हमसे विमुख नहीं होता। स्नेह, ममता, करुणा, दया, क्षमा, धैर्य, धीरज, साहस, आदि गुणों को परिभाषित करना कठिन है, परन्तु इनको साक्षात अनुभव करना सरल है, यदि किसी के पास माँ का हृदय देखने के लिये आँखें हों, या परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये ज्ञान-चक्षु हों।

करुणा और कोमलता, धीरता और ध्रुवता, शान्ति और आनन्द का वास है, या तो माता की गोद में, या प्रेममय प्रभु की गोद में। माता त्याग और तपस्या की जाज्वल्यमान विभूति है। ऋग्वेद १।३।१०-१२ में जिसको '**पावका**' (पवित्रता प्रदान करने वाली), '**सरस्वती**' (ज्ञानादि प्रदाता) '**चेतन्ती**' (चेताने वाली) '**चोदयित्री**' (प्रेरित करने वाली), '**भिर्वाजिनीवती**' (प्रशस्त अन्नों को प्राप्त कराने वाली) कहा गया है, वह लोक में केवल माता है और अध्यात्म में परमेश्वर। शौर्य, वीरता, साहस, पराक्रम, सामर्थ्य, शक्ति, तेज, बल बाज़ार में नहीं मिल सकता। यह मिलता है माँ के दूध से; माँ की लोरियों से; माता द्वारा दिये गये संस्कारों से; माँ की प्रेरणा और प्रोत्साहन से; माँ की आशीः से।

माता और परमेश्वर समान इसीलिये भी हैं, क्योंकि दोनों ही **(छदयथः वसुत्वनाय राधसे)** आच्छादित करते हैं हमें, हमारे वसुत्व के लिये, ऐश्वर्य के लिये। जो कुछ भी वसुनीय है वह वसु है। परमात्मा को भी 'वसो' से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि वह सब में बसा हुआ है। शरीर में 'प्राण' 'वसु' है, और 'आत्मा' है 'वसुपति'। लोक में जो कुछ भी क्षमता, ऐश्वर्य है। वह भी 'वसु' है। इसी प्रकार 'राधसे' द्योतक है, समृद्धि का सफ़लता का, सम्पन्नता का तथा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का। धन्य हैं वास्तव में वे सब, जिनके जीवन को माता और परमेश्वर अखिल एश्वर्य की प्राप्ति के लिये आच्छादित करते रहते हैं। कोई माँ (चाहे वह कितनी भी दुःखी,दरिद्र या जराजीर्ण क्यों न हो) ऐसी नहीं जो अपनी सन्तान को चिरायु, नीरोग, विद्वान, बलवान, धनी तथा सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न देखने की अभिलाषा न रखती हो। इसी प्रकार परमेश्वर भी, जो जैसी कामना करता है—'**तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्**' (ऋग्० १०।१२५।५) उस-उस को यथा बलवान, चतुर्वेदवित् ब्रह्मा, ऋषि और उत्तम मेधावान करता हूँ। इसी मन्त्र के आरम्भ में आया '**अहम् एव स्वयमिदं वदामि**' अर्थात् यह मैं परमेश्वर स्वयं कहता हूँ। यानि कोई सन्देह की गुंजायश नहीं।

मन्त्र में एक और शब्द जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है, वह है "**छदयथः**"। इसका भाव हैं शरण देने वाले गृह के समान, जिसकी

छत्र-छाया में हम अपने आपको ढांप कर सुखपूर्वक रहते हैं। ग्रामीण भाषा में जिसे "छप्पर छाना" कहते हैं, जिसकी छाया में हम रह सकें, वेद में वही भाव 'छदयथः' से सूचित है। जीवन का विकास भी बिना छत्र-छाया के नहीं होता। स्व-परिश्रम और लगन के अतिरिक्त शिक्षार्थी को जैसे शिक्षक, शोधार्थी को जैसे निदेशक, साधक को जैसे गुरु, कारीगर को जैसे उस्ताद की छत्र-छाया चाहिये होती है, उसी प्रकार प्रत्येक पुरुषार्थी मनुष्य को माँ की आशीः और परमेश्वर का आश्रय चाहिये ही होता है।

'**यस्य छायाऽमृतं**' (यजुः० २५।१३) 'जिसकी छाया अमृत है', वही परमात्मा है। माता और परमेश्वर दोनों से जो युक्त रहता है उसके साथ माँ का आर्शीवाद और परमेश्वर की छाया साये की भाँति साथ ही साथ रहता है। हर माँ की भावना वही होती है जो माता कौशल्या की राम के वन-गमन पर थी—'**अहं त्वानुऽगमिष्यामि पुत्र, यत्र गमिष्यसि**' (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग २४) मैं [आशीः से] तेरे पीछे-पीछे, जहाँ तू जायगा, वहाँ जाऊँगी। उसी प्रकार अपने जागरूक समर्पक के प्रति वह 'सोम' (प्रेममय प्रभु) कहता है—'**तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः**' (साम० १८२६) 'मैं तेरी सख्यता में नियुक्त हूँ।'

स्पष्ट है कि श्रद्धा और भक्ति से माता और परमेश्वर की आज्ञा-पालन से महर्षि सुमन्तु के वचनानुसार हम समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कर सकते हैं।

आयुः पुमान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुण्यं बलं श्रियम्।
पशुं सुखं धनं धान्यं प्राप्नुयान् मातृ वन्दनात्॥

माता की वन्दना (आज्ञा-पालन) करने वाला सत्पुरुष आयु, यश, अक्षय-सुख, कीर्ति, बल, श्री (प्रतिष्ठा), पशु, आह्लाद, धन-धान्य सब कुछ प्राप्त करता है। इसके विपरीत—

धिगस्तु जन्म तेषां वै कृतघ्नानं च पापिनाम्।
ये सर्व-सौख्यदां देवीं स्वोपास्यां न भजन्ति वै॥

'धिक्कार है, उन कृतघ्न, पापी दुर्जनों को जो सर्वसौख्यदा माता की सेवा-शुश्रुषा नहीं करते।' भगवान और माता को दुःखी कर कोई भी किसी प्रकार का ऐश्वर्य नहीं प्राप्त कर सकता। कितनी शर्म

की बात है उन लोगों के लिये, जो अपनी घर की जननी माता की तो उपेक्षा करते हैं, और लोक दिखावे के लिये 'माता की चौकी' बैठाते या 'माता का जागरण' कराते हैं।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि वेद ने माता और परमेश्वर को बराबरी का जो दर्जा दिया है वह माता के गुणों तथा उसकी मातृत्व रूपी विशिष्टता के कारण दिया है। यह उस माता के लिये हैं, जो वस्तुतः मानव की निर्माता है, संस्कार देने वाली है, सन्तान के प्रति पूर्ण निष्ठा से अपने दायित्वों का निर्वाह करने वाली है। जिसका आदर्श तप और त्याग है, जिसने प्रसव से पूर्व और प्रसव उपरान्त समस्त संस्कार अपनी सन्तान में भली भाँति भरे हैं, तथा जिसने समाज को एक आदर्श नागरिक/ नागरिका प्रदान किये हैं। सच्चाई यह, कि माँ बन जाना एक बात है, किन्तु माँ की गरिमा और महानता को प्राप्त करना सम्पूर्ण नारी जीवन की साधना है, तप और त्याग जिसके स्तम्भ हैं।

दूसरी बात यह कि वेद में माँ के लिये 'माता' या 'मातृ' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। इसके अपने विशिष्ट अर्थ हैं। ***'मान पूजायाम'*** धातु से 'तृ' प्रत्यय लगाने से 'मातृ' शब्द सिद्ध होता है। मान का अर्थ है 'आदर'। अतः 'मातृ' शब्द का अर्थ हुआ 'आदरणीय'। यास्क के मत से मातृ 'निर्मातृ' अर्थात् निर्माण करने वाली जननी है। **'माति गर्भोऽस्यामिति माता'। 'मान्यते पूज्यते जनैरिति वा माता'**। अतः जो भावना वेद के 'माता' शब्द में है, वह और किसी शब्द, जैसे 'मम्मी' या 'मॉम' में आ ही नहीं सकती। वेद ने केवल 'माता' को परमेश्वर के समान बराबरी का दर्जा दिया है; 'मम्मी' या 'मॉम' को नहीं। 'मम्मी' या 'मॉम' निरर्थक शब्द हैं, जिनके किसी भी भारतीय भाषा ही क्या, विश्व की किसी भी भाषा में कोई अर्थ नहीं। हाँ, यदि किसी कारण से अंग्रेज़ी भाषा में ही पुकारा जाना अभिप्रेत हो, तो उपयुक्त शब्द 'मदर' है, जो कि वैदिक शब्द 'मातृ' का ही अपभ्रंश है। वैदिक सभ्यता और संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उचित यही है कि कम-से-कम भारतीय मूल की नारी 'माता' का सम्मानित पद प्राप्त करे, और 'माता' के ही रूप में पुकारी या देखी जावे।

अन्तिम बात यह कि वेद में 'माता' शब्द 'जननी' के अतिरिक्त 'गौ' 'भूमि' और स्वयं 'वेद के लिये भी आया है। 'जननी' यदि जीवित न भी हो, तब भी मनुष्य मातृविहीन कभी नहीं है। जो भी जीवन में गो-माता की सेवा, धरती-माता की सेवा और वेद-माता की सेवा कर रहा है, वह 'माता' की ही सेवा कर रहा है।

माता और परमेश्वर दोनों समान है। दोनों की सेवा और समपर्ण में ही जीवन की सार्थकता और सम्पूर्णता है। हमारा स्व-निर्माण और आत्म-विकास सब कुछ इन्हीं पर निर्भर है।



१७

शिक्षक व उपदेशक : वेद की दृष्टि में*

तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः ।
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपीवसो अतृषिता अतृष्णजः ॥

—ऋग्वेद १० । ९४ । ११

ऋषिः—अर्बुद काद्रवेयः सर्पः । देवता—ग्रावाणः ।
छन्दः—विराड् जगती ।

पदपाठ—तृदिलाः । अतृदिलासः । अद्रयः । अश्रमणाः । अशृथिताः । अमृत्यवः । अनातुराः । अजराः । स्थ । अमविष्णवः । सुऽपीवसः । अतृषिताः । अतृष्णाऽजः ॥

ऋग्वेद के दशम मण्डल में तीन सूक्तों, क्रमशः ७६, ९४ और १७५ का देवता (अर्थात् विषय) ग्रावाणः है। मानव समाज में ज्ञान-प्रसार के दो प्रमुख आधार हैं—'शिक्षक' तथा 'उपदेशक'। शिक्षक स्कूलों, कालेजों, विद्यालयों, शिक्षा-संस्थानो, गुरुकुलों में बालक तथा बालिकाओं को ज्ञान-युक्त करते हैं, जबकि उपदेशक, पुरोहित, धर्माचार्य, वानप्रस्थ, सन्यस्थ के रूप में जन-मानस को ज्ञानयुक्त करते हैं। "जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे, और अविद्यादि दोष छूटें", उसको ही महर्षि दयानन्द

* आर्य जगत २१ जुलाई १९९६ वर्ष ६१, अकं २९ में प्रकाशित

सरस्वती के अनुसार 'शिक्षा' कहते हैं।

एक प्रकार से 'शिक्षक' तथा 'उपदेशक' ज्ञान-वृक्ष की दो शाखायें हैं। जो विद्वान व विदुषी विद्यालयों व गुरुकुलों को प्रार्पित हो जाते हैं, उनकी आचार्य-आचार्या संज्ञा होती है, और जो विद्वान व विदुषी कल्याणी-वाणी वेद का आश्रय लेकर मानवता और मानव-धर्म के प्रचार व प्रसार में लग जाते हैं, वे उपदेशक व उपदेशिका कहलाते हैं। वाणी के द्वारा जो सबको आत्म-विकास हेतु ज्ञान के आलोक में आगे बढ़ने और ऊँचे उठने की प्रेरणा देते हैं, 'अज्ञान', 'अभाव' और 'अन्याय' के प्रति जूझने के लिये जो जनमानस को तैयार करते हैं, ऐसे "ज्ञान-वीरों" को वेद की भाषा में हम 'ग्रावाणः' कह सकते हैं। देखे वेद का यह मन्त्र।

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत॥

—ऋग्वेद १०।९४।२

(**एते ग्रावाणः**) ये ग्रावाणः (**शतवत् सहस्रवत्**) शतवत् और सहस्रवत् (**वदन्ति**) उपदेश करते हैं। (**सुकृत**) सुकर्माओं के (**विष्ट्वी**) गृहों में प्रवेश करके (**हरितेभिः आसभि**) अपने तेजस्वी मुखों से (**सुकृत्यया**) उत्तम कृत्यों का (**अभि क्रन्दति**) सर्वत्र बखान करते हैं। हे ग्रावाणः! (**पूर्वे**) पूर्व की भाँति (**होतुः चित् हविः अद्यम् आशत**) दानशील जनों की हवियों का आदरपूर्वक सेवन करो।

इस मन्त्र से दो बातें स्पष्ट हैं। ग्रावाणः अर्थात् ज्ञानवीर शिक्षक व उपदेशक जब बोलते हैं, तो वे सैकड़ों और हज़ारों को प्रभावित करते हैं उनकी वाणियों में ऐसा ओज और तासीर होती है, अपने तेजस्वी मुखों से सुकृत्यों का ऐसा सर्वत्र बखान करते हैं, कि जनमानस उनके साथ हो जाता है। दूसरे वे वेतन-भोगी नहीं होते। दानशील-जन स्वयं ही अपनी हवियाँ उनको सादर समर्पित करते हैं, जिससे उनका निर्वाह सम्मानजनक रूप से होता रहे। इसीलिये ऋग्वेद १०।९४।१० में ऐसे दानशील होताओं के लिये कामना की गई है—**"रैवत्येव महसा चारवः स्थन यस्य ग्रावाणो अजुषध्वमध्वरम्"** हे ग्रावाणः! जिनके हिंसारहित यज्ञ (इसमें पितृ यज्ञ और अतिथियज्ञ

भी आ जाते हैं) का तुम सेवन करते हो, वे यजमान ऐश्वर्यवान पुरुषों के समान महान सामर्थ्य और उत्तम आचार से युक्त रहें।

स्वाभाविक है कि इस प्रकार के ग्रावाणः अर्थात् ज्ञान-वीर शिक्षक और उपदेशक जब तक पूर्णत्या अन्तः प्रेरित नहीं होंगे, वे उस मिशनरी भावना से कार्य नहीं कर सकेंगे, जिसकी वेद अपेक्षा करता है। अतः ऋग्वेद के दशम मण्डल के १७५वें सूक्त के चारों मन्त्रों में 'सविता देव' (प्रेरक परमेश्वर) से ग्रावाणः को उत्तम कर्मों में नियुक्त बने रहने, उनके दुःख-संताप को दूर करने, बल बनाये रखने और धर्म पर चलते रहने की बड़ी सुन्दर प्रार्थनापरक प्रेरणायें विद्यमान हैं।

हम जिस मन्त्र पर यहाँ विचार कर रहे हैं, उसमें ज्ञान-वीर शिक्षक और उपदेशक में बारह गुण गिनाये गये हैं, जिनको धारण करने से कोई भी शिक्षक और उपदेशक आदर्श और सम्मान का पात्र हो सकता है। शिक्षा-पद्धति या उपदेश की विधा कोई भी हो, सब कुछ निर्भर करता है कि शिक्षक और उपदेशक कहाँ तक अपने समग्र जीवन से विद्यार्थीयों और श्रोताओं को प्रभावित कर पाते हैं। उनको ध्यान रखना होगा कि विद्यार्थी की असफ़लता वस्तुतः शिक्षक की असफ़लता है। इसी प्रकार किसी भी सभा/ सत्संग की असफ़लता श्रोताओं के कारण नहीं, वक्ताओं के कारण होती हैं।

शिक्षक और उपदेशक कभी भी असफ़ल नहीं होंगे, यदि उनमें मन्त्र के अनुसार निम्न गुण हों।

(१) **(तृदिलाः)** भेदक,
(२) **(अतृदिलासः)** अभेद्य,
(३) **(अद्रयः)** आदरणीय,
(४) **(अश्रमणः)** अनथक श्रमशील
(५) **(अशृथिताः)** अशिथिल,
(६) **(अमृत्यवः)** मृत्यु के बन्धनों से रहित,
(७) **(अनातुराः)** अविकल,
(८) **(अजराः)** जरा-रहित,
(९) **(अमविष्णवः)** गतिशील,

बनने वाला। शिक्षकों और उपदेशक तो 'चुस्ती', 'फुर्ती' और 'मस्ती' की प्रतिमूर्त्ति होने चाहियें, साथ ही सतर्क, सावधान और सत्कार्यों में सर्वदा तत्पर। यह है भाव अपृथिताः का।

अमृत्यवः अर्थात् मृत्यु के बन्धनों से मुक्त। वेद का तो आदर्श है, अमृतत्व की प्राप्ति। **'बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय, मा-अमृतात्'** (ऋग्० ७।५९।१२) मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाऊँ, अमृत से नहीं। जन्म की मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, किन्तु जीवन की नहीं। आदर्श शिक्षक और उपदेशक का जीवन यदि अन्यों के लिये अनुकरणीय बन जाता है, तो वे अमर हो जाते हैं। उनका जीवन ही उनका सन्देश हो जाता है। जीवन में धर्म, योग, क्षेम, संयम, सदाचार, सुमति, निर्विकारता, ब्रह्मचर्य, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मज्ञान यह सब अमृत्यवः के ही लक्षण हैं। इनके विपरीत जो कुछ भी है, वह तो साक्षात मृत्यु हैं।

अनातुराः न घबराने वाले, अविकल, धीर, आतुरता से रहित, धैर्यवान। यह लक्षण हैं अनातुराः के। शिक्षक और उपदेशक के जीवन में यदि धैर्य नहीं, तो कुछ भी नहीं। उसका उपदेश सर्वथा प्रभावहीन ही रहेगा। वेद की शिक्षायें तो सब काल के लिये हैं, पर लगता है आज इनकी अत्यन्त आवश्यकता है। आज शिक्षक और उपदेशक को हर बात की जल्दी है। शिक्षक पढ़ाते हैं, समझाते नहीं। कक्षा समाप्त करने की जल्दी जो है। और उपदेशकों की आतुरता देखते ही बनती है। बोलने को आतुर, दक्षिणा को आतुर और बोलकर जाने को भी आतुर। ऐसा लगता है कि उपदेशक के बड़प्पन की निशानी आतुरता बन गई है; जबकि वेद का आदेश है—"अनातुराः"। उपदेशकों और उपदेश के आयोजकों दोनों को ही सोचना चाहिये कि वेद के आदेश को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाय। उचित तो यही है कि पहले 'विषय' निश्चित किया जाये; उस पर उपदेशक समाहित होकर आत्मना बोले, फिर उस पर चर्चा हो, शंका समाधान और उपसंहार के साथ समापन हो। इससे उपदेशों की गुणवत्ता और श्रोताओं की भागीदारी दोनों में ही वृद्धि होगी।

उपदेशक और शिक्षक का अगला गुण मन्त्र में बताया गया, **अजराः** अर्थात् जरा-रहित। जरा कहते हैं बूढ़ेपन को। आयुवृद्धि के साथ देह पर जरा का प्रभाव होता ही है, पर वास्तव में मनुष्य बूढ़ा

जब होता है, जब कार्य करना छोड़ देता है। जिसका मन सशक्त है, शिव–संकल्पों से युक्त है, सदैव कार्यशील है, वाणी में ओज है, जीवन में ताज़गी है, वह अजर है, अजर रहेगा। पर जो निराशावादी हो, आत्म–विश्वास खो बैठा हो, असुरक्षित, भयभीत और अपने आप को अकेला, दीन, हीन समझता हो, वह भरी जवानी में बूढ़ा कहलायेगा। अजराः बने रहने के लिये शिक्षक और उपदेशक को निराशाजनक बातें कभी अपने मुख से नहीं करनी चाहिये। प्रेरक शब्द, प्रेरक प्रसंग और प्रेरणास्पद बातें, जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्रोत्थान या सम्पूर्ण मानव समाज के हित में हों, शिक्षक और उपदेशक को भी अजर बनाये रखेंगी, और दूसरों को भी प्रेरणा प्रदान करेंगी।

अजरा से संयुक्त ही है अगला गुण, जिसे कहा गया है **अमविष्णवः** अर्थात् गतिशील। 'सन्ध्या', 'स्वाध्याय', 'सत्संग', 'सदाचार' और 'सेवा' को जिसने अपने जीवन के कार्यक्रम में पिरो दिया हो, उसने गतिशील रहना ही रहना है। उतार–चढ़ाव, दुःख–सुख, हानि–लाभ अपयश और यश से कौन बचा है; शिक्षक और उपदेशक भी इसके अपवाद नहीं, पर जो स्थितप्रज्ञ होकर आगे और आगे चलते ही रहते हैं, रुकते नहीं; उद्योग और पुरुषार्थ करना ही जिनके जीवन का ध्येय है, वे कहलाते हैं 'अमविष्णवः'। ऐसे शिक्षकों और उपदेशकों का जीवन अपने–आप में एक उदाहरण एक मिसाल बन जाता है। वेद तो ऐसे ही शिक्षक–उपदेशक की कामना करता है।

अगले गुण में तो कमाल ही है। कहना पड़ता है **नमो वेदमात्रे**। वेदमाता शिक्षकों और उपदेशकों को **सुपीवसः** अर्थात् हृष्ट–पुष्ट देखना चाहती है। यह सुपुष्टता निर्भर करती है एक तो दानशील होताओं पर; वर्तमान में समाज तथा सामाजिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था पर, जिनका यह दायित्व बनता है कि शिक्षक तथा उपदेशक वर्ग को आर्थिक दृष्टि से सुपुष्ट रखें, उनके आदर–सत्कार, मान–सम्मान में कमी न हो, धन का अभाव उनको न अखरे। और दूसरे स्वयं शिक्षकों और उपदेशकों पर, कि वह युक्त आहार–विहार, यम–नियम, आसन–प्राणायाम, धारणा–ध्यान आदि से, अपने शरीर और अंतकरण को बलवान बनाये रखें। सदैव प्रसन्न और मुस्कराते रहें। द्वेष और क्रोध को उभरने न दें। इच्छा–शक्ति और मनोबल

हृष्ट-पुष्ट, चुस्त और दुरुस्त बने रहने में बहुत सहायक रहते हैं।

अंत में दो बातें, जो सुपुष्टता में भी सहायक हैं, वे हैं, **अतृषिताः** और **अतृष्णजः** अर्थात् तृष्णा-रहित और निस्पृहता। तृष्णा और लिप्सा से असन्तोष न केवल उपजता है, वरन तृष्णा की वृद्धि से असन्तोष बढ़ता ही जाता है, और असन्तोषी कभी सुखी हो ही नहीं सकता। सन्तोष सबसे बड़ा धन है। जो सन्तोषी है, वही सुखी है, और जो सुखी है, वही दूसरों को सुखी कर सकता है। शिक्षक और उपदेशक का तृष्णारहति होना बहुत ज़रूरी है, जितना मिल जाये, उस पर सन्तोष करे, और सुखी रहे।

अतृषिताः के साथ-साथ अतृष्णजः अर्थात् निस्पृहता, एक महान आवश्यक गुण है। शिक्षक और उपदेशक के लिये सब समान हैं, अतः सबके प्रति समान भावना, समान प्रेम, समान व्यवहार का होना ज़रूरी है, यह तभी सम्भव है, जब शिक्षक और उपदेशक अनासक्त भाव से सबसे बर्तें, बर्तावें। सबसे प्रेम भाव हो, परन्तु आसक्ति किसी से न हो। निष्पक्ष और न्यायशील, द्वेष-रहित किन्तु करुणा-दया से भरपूर शिक्षक और उपदेशक जहाँ होंगे, वहाँ शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति बाल, युवा, बृद्ध सबकी अवश्य होगी, इसमे सन्देह नहीं।

प्रभु करे, कि वेद की शिक्षायें भू मण्डल पर फैलें, ताकि समस्त धरा पर ऐसे आदर योग्य शिक्षक और उपदेशक तैयार हों।

सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता क्रीळयो न मातरं तुदन्तः।
वि षू मुञ्चा सुषुवुषो मनीषां वि वर्तन्तामद्रयश्चायमानाः॥

—ऋग्० १०।९४।१४

अहिंसनीय मनीषी आदरणीय जन सत्कार पाते हुये कल्याणी वाणी का उच्चारण करें। माता की गोद में जैसे बालक क्रीड़ा करते प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार शिक्षक और उपदेशक जगत् के उत्पादक और संचालक परमात्मा में प्रतिष्ठ हों, और विशेष श्रद्धा और भक्ति से उस प्रभु की स्तुति किया करें। आनन्द के भोक्ता बन आनन्द का पान ही अपने विद्यार्थियों और अन्य श्रोताओं को करायें जिससे उनकी सर्वांगीण उन्नति हो।

—:o:—

१८

ऐसे हों वीर युवा हमारे*

विप्रा॑सो न मन्म॑भिः स्वा॒ध्यो॑ देवा॒व्यो॒३॒ न य॒ज्ञैः स्वप्न॑सः।
राजा॑नो न चि॒त्राः सु॑सं॒दृशः॑ क्षि॒तीनां॑ न मर्या॑ अरे॒पसः॑॥

—ऋग्० १०।७८।१

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः। देवताः—मरुतः। छन्दः—आर्ची त्रिष्टुप्।

पदपाठ—विप्रासः। न। मन्मभिः। सु-आध्य। देव-अव्य। न। यज्ञैः। सु-अप्नसः। राजानः। न। चित्राः। सु-संदृशः। क्षितीनां। न। मर्याः। अ-रेपसः॥

(विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो) — विप्रो के समान मननीय विविध विद्याओं के सुअध्ययनी हों।

(देवाव्यो न यज्ञैः स्वप्नसः) — यज्ञों से देवों को तृप्त करने वालों के समान सुकर्मा हों।

(राजानो न चित्राः सुसन्दृशः) — राजाओं (रञ्जनकर्त्ताओं) के समान सुचित्रित एवं सुदर्शनीय हों।

(क्षितीनां न मर्या अरेपसः) — क्षितिजों के समान मनुष्यों को सौमनस्यता तथा निर्मलता प्रदान करने वाले हों।

---

* आर्य जगत २९ सितम्बर १९९६, वर्ष ६१ अंक ३९ में प्रकाशित।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के अठत्तरवें अष्टर्च सूक्त का देवता (विषय) है 'मरुत'। सभी आठ मन्त्रों में मरुतों के गुण, कर्म और स्वभाव का सुन्दर विवेचन है। पर पहले तो हम यह समझ लें, कि 'मरुत' हैं कौन?

निरुक्त के अनुसार 'वीर नायक' मरुत हैं। निघन्टु के अनुसार 'ऋत्विज' यज्ञों मे मरुत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'प्राण' मरुत हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रचण्ड 'वायु' मरुत हैं। पर 'मरुत' हैं अत्यन्त महत्वपूर्ण। भू-मण्डल पर जीवन के लिये जैसे 'वायु' आवश्यक है, उसी प्रकार शरीर में 'प्राण' यज्ञों (श्रेष्ठतम कर्मों) में यज्ञ-कर्त्ता 'ऋत्विज' और समाज व राष्ट्र में सामाजिक एवं राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु 'वीर' पुरुष। अतः वेद की दृष्टि में यह सब 'मरुत' हैं। इनके होने से रोना नहीं पड़ता, सन्तोष व्याप्त है; न होने से सारी व्यवस्था ही चरमरा जाती है, और स्थिति अत्यन्त विषम हो जाती है।

ऋग्वेद के इस सूक्त में जिन मरुतों के गुण, कर्म और स्वभाव का विवेचन है, वे हैं सामाजिक आर्थिक और राष्ट्रीय रक्षा और व्यवस्था में लगे 'वीर युवा', चाहे वे 'स्वयं-सेवक' हों, या 'प्रहरी', 'रक्षक', 'सुरक्षा कर्मी', 'सेना-नायक', 'सैनिक', 'सामाजिक क्रान्ति' और 'सामाजिक न्याय' के प्रणेता—'क्रान्तिवीर' आर्थिक व राष्ट्रीय विकास में संलग्न उद्योग-वीर, अथवा 'राष्ट्र-वीर'। मुख्य बात है किसी भी श्रेष्ठ कार्यक्षेत्र (यज्ञ) में इन अदम्य पुरुषों तथा स्त्रियों में वीरोचित गुणों की प्रधानता।

'मरुत' प्रतीक हैं, किसी भी राष्ट्र की 'युवा-शक्ति' के, जिनके ऊपर 'राष्ट्रीय-सुरक्षा' 'राष्ट्रीय-व्यवस्था' और 'राष्ट्रीय विकास' की जिम्मेवारी आयद होती है। वे प्रतीक हैं, उस 'सैन्य-शक्ति' के भी, जो राष्ट्र के अन्दर व बाहर के शत्रुओं व आततायीयों से राष्ट्र की रक्षा करती है।

इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में ऐसे वीरों (मरुतों) के बारे में कहा गया है—

अ॒ग्निर्न ये भ्राज॑सा रु॒क्मव॑क्षसो॒ वाता॑सो॒ न स्व॒युज॑ः स॒द्यऊ॑तयः।
प्र॒ज्ञा॒तारो॒ न ज्येष्ठा॑ः सुनी॒तय॑ः सु॒शर्मा॑णो॒ न सोमा॑ ऋ॒तं य॒ते॥

—ऋग्वेद १०।७८।२

'वे अग्नि के समान तेजस्वी, शत्रुओं को दग्ध करने वाले,

चमकते वक्ष (छाती) वाले, प्रचण्ड वायुओं के समान स्वयं युक्त होनेवाले, तुरन्त कर्त्तव्यों पर आरूढ़ होने वाले, उत्कृष्ट ज्ञान वाले, ज्येष्ठों के समान परिपक्व, सुनीति पर चलने वाले, सु-शर्मा, सौम्य और ऋत (सही) आचरण वाले हों।' स्पष्ट है, कि यहाँ प्रसंग वीरों का है, राष्ट्र की युवा-शक्ति एवं सैन्य-शक्ति का है। मरुतों (वीरों) में वीरोचित गुण कैसे होते हैं, देखें यह मन्त्र।

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः।
वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः॥

—ऋग्वेद १०।७८।३

'ये प्रबल वायुओं के समान शत्रुओं की धुनाई करने वाले, द्रुत गति से आगे बढ़ने वाले, अग्नियों की जिह्वा (लपटों) के समान विविध दीप्तियों वाले तथा योद्धओं के समान कवच व आयुधों से युक्त होते हैं। पितृों से प्रशंसित, रक्षा जैसे उत्तम कार्यों में स्थित ये सुख-शान्ति प्रदान करने वाले होते हैं।'

इतना कुछ होते हुये भी किसी भी राष्ट्र की युवा-शक्ति या सैन्य शक्ति में कुछ अभाव रहता है, जिसकी ओर मन्त्र-दृष्टा ऋषि हमारा ध्यान, प्रथम मन्त्र द्वारा, जो इस लेख का विषय है, बड़ी सुन्दरता से खींच रहा है। वीरों में जोश और बल की कमी नहीं, पर सफलता के लिये 'जोश' के साथ 'होश' और 'बल' के साथ 'बुद्धि' और 'विवेक' का होना भी ज़रूरी है। परमात्मा के अमर ज्ञान 'वेद' की यही विशेषता है, कि प्रत्येक क्षेत्र में वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान दिलाता है। अपूर्ण मनुष्य को पूर्णता की ओर प्रेरित करने का वेद ज्ञान का सर्वत्र सतत प्रयास है। काश, इस धरा पर प्रत्येक युवा और प्रत्येक सैनिक इस ज्ञान से अपना स्व-विकास कर पाता तो युवाओं के जुनून और सैनिकों के अपराध की शिकार सामान्य जनता न होती।

आज यह समझा जाता है, कि युवाओं के लिये राजनीति (पोलिटिकल साइंस) और सैनिकों के लिये सैन्य विज्ञान (मिलिटेरी साइंस) का ज्ञान पर्याप्त है, पर वेद की दृष्टि से युवाओं और सैनिकों के लिये यह पर्याप्त नहीं। वेद की पहली कामना मरुतों के लिये है **(विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो)** विप्रों के समान मनन करने योग्य विविध विद्याओं के सु-अध्ययनी बनों। जो स्वयं और दूसरों को

ज्ञानादि से भरपूर करते हैं, ऐसे मेधावी श्रेष्ठ पुरुष कहलाते हैं, 'विप्र'। विप्रों की विशेषता यह होती है कि अन्य विविध विद्याओं के साथ-साथ 'आत्म विज्ञान' (साइंस आफ सोल) और 'ब्रह्म विज्ञान' (सांइस आफ डिवाइन) में भी निष्णांत होते हैं। ब्रह्म-ज्ञान से युक्त विप्र ही सही अर्थों में ब्राह्मण कहलाता है। आत्म-चिन्तन और ब्रह्म-चिन्तन, तदनुरूप मनन एवं निदिध्यासन, यही स्वाध्याय और ध्यान के विषय हैं। आत्म-ज्ञान और बल दोनों का देने वाला परमात्मा है, जिसकी सब विप्र (विद्वान) लोग उपासना करते हैं—**य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते** (यजुः० २५।१३)। तो ऐसे विप्रों के समान युवा-शक्ति और सैन्य-शक्ति दोनों को उचित है कि वे परमात्मा का आश्रय लें। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करें। मात्र अग्नित्व (क्षात्र बल) ही पर्याप्त नहीं, देवत्व (ब्राह्म बल) भी वीरों के जीवन में होना चाहिये। सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप में अन्तर जानने का नाम 'विवेक' है। युवाओं और सैनिकों में वीरता के साथ-साथ विवेक भी होना चाहिये, जिसके लिये आत्मा और परमात्मा का वेद के स्वाध्याय से चिन्तन, मनन, और निदिध्यासन उतना ही जरूरी है, जितना शरीर के लिये भोजन। वस्तुतः आत्मा का भोजन तो परमात्मा ही है। शरीर की पुष्टता से शारीरिक बल और आत्मा की पुष्टता से आत्मिक बल की प्राप्ति होती है। वीरों के लिये दोनों ही ज़रूरी हैं। इसी लिये वीरों को लक्ष्य करते हुये मन्त्रदृष्टा ऋषि ने पहली बात कही कि विप्रों के समान मननीय और ध्यानशील सु-अध्ययनी बनों, जिससे तुम्हारा विवेक जाग्रत रहे।

दूसरी बात मन्त्र में कही गई है **(देवाव्यो न यज्ञैः स्वप्नसः)** यज्ञों से देवों को तृप्त करने वालों के समान सु-अप्नसः, अर्थात् सुकर्म करने वाले बनो। **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** (शतपथ ब्राह्मण १।७।१।५) श्रेष्ठतम कर्मों का नाम यज्ञ है। और जो शुभ व श्रेष्ठ है वही धर्म है। यज्ञ में समाहित है—देव पूजा (सत्कार), संगतिकरण (सान्निध्यता) और दान (समर्पण)। देवों की तृप्ति यज्ञों से होती है। **देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा** (निरुक्त ७।१५) दान, दीपन और द्योतन देवों के लक्षण हैं।

परमेश्वर तो देव है ही, परन्तु उस परमेश्वर की दिव्य ज्योति और दिव्य प्रकाश से जो जगमगा रहे हैं, वे भी देव हैं। सूर्य चन्द्र आदि प्राकृत देव और ऋषि मुनि, सन्त, महात्मा, विचारक, वैज्ञानिक,

चिकित्सक तथा अन्य सत्यनिष्ठ विद्वान आदि, जो उस से प्रादर्भूत हैं, मानुषी देव हैं। **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा** (ऋग्० १।१६४।५०) देव भी यज्ञों का यजन यज्ञ से करते हैं। देवों का देवत्व यज्ञों के ही कारण होता है। यज्ञ ही देवों का जीवन उनका प्राण, उनका सर्वस्व होता है। देव **मेधं जुषन्त वह्नयः** (ऋग्० १।३।९) यज्ञों को वहन करने वाले ज्ञान और क्रिया से सिद्ध यज्ञों का ही यथावत सेवन करते हैं। मन्त्र के अनुसार मरुतों (वीरों) को यह स्पष्ट निर्देश है कि देवों के समान वे भी यज्ञ-कर्मों में प्रवृत्त हों, और सुकर्मों की धारा प्रवाहित कर दें। इसी लिये मन्त्र में **सु-अप्सः** का प्रयोग हुआ है। अपः नाम प्रवाहों का है। प्रवाह दो ही होते हैं, एक तरल पदार्थों के, दूसरे कर्मों के। 'सु' कर्मों को सुकर्म, अर्थात् श्रेष्ठ, पवित्र कल्याणकारी कर्म बनाने के लिये हैं। वीरों के कर्म सुकर्म हों, और सुकर्म सतत प्रवाहित होते रहें, इसी में मरुतों की, युवा तथा सैन्य शक्ति की सार्थकता है। इस से यह भी सिद्ध होता है, कि युद्ध तथा विपत्ति काल के अतिरिक्त युवा तथा सैन्य शक्ति का उपयोग कल्याणकारी कार्यों में निरन्तर किया जाना चाहिये, तभी ही किसी राष्ट्र में देवत्व की वृद्धि और देवों की तृप्ति होगी। ध्यान रहे, कि ब्रह्म यज्ञ के पश्चात देव-यज्ञ और राष्ट्र-यज्ञ से बड़ा कोई यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) नहीं।

तीसरी बात मरुतों (वीरों) के लिये जो कही गई है, वह है **(राजानो न चित्राः सुसन्दृशः)** राजाओं (रञ्जनकर्त्ताओं) के समान सुदर्शनीय चित्रित होओ। हर व्यक्ति अपने आपको अपने कार्यों से चित्रित करता है। आप कोई लेख पढ़ें। लेखक को बेशक आपने न देखा हो, पर लेख के आधार पर लेखक की एक कल्पना (इमेज) एक धारणा आपके मस्तिष्क में बन जाती है। आज युवाओं की क्या इमेज हमारे दिमाग में है, सेना, पुलिस की क्या इमेज हमारे दिमाग हैं है, जन-नायकों की क्या इमेज हम लिये फिरते हैं ? यह कल्पना, धारणा, इमेज अच्छी-बुरी, शोभनीय-अशोभनीय जैसी भी है, इसके चित्रण के लिये वे ही ज़िम्मेवार हैं। वेद कहता है कितनी सुन्दर बात, कि अपनी इमेज रञ्जनकर्ताओं के समान सुदर्शनीय चित्रित करो। चित्रण में चरित्र आ ही जाता है, मनुष्य जैसा भी अफने आप को चित्रित करता है, वैसी ही उसकी गति, प्रगति, चेष्टा और कृति होती है।

वेद की युवाओं से बड़ी कामना है। उचित भी है, क्योंकि जो

स्वयं जीर्ण हो चुके हैं, वे किसी का क्या जीर्णोद्धार कर सकते हैं। वेद में युवाओं के लिये आया है—**तमु उष्टहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः। सत्यस्य युवानम् अद्रो वाचं सुशेवम॥** (अथर्व० ६।१।२) अर्थात् उन्हीं युवाओं को स्तुतों, जो संसार-सागर के मध्य में सत्य के प्रेरक, अद्रोह के वाचक और सु-सेवाकारी हों। वेद तो युवाओं को सत्य का प्रेरक और सुसेवाकारी देखना चाहता है। राजाओं (रञ्जनकर्ताओं) के बारे में भी वेद का कथन है—

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी॥

—ऋग्० १।७३।३

अर्थात् जो राजा देव के समान सर्वधारक, मित्रों के हितकर्ता के समान सुख-स्थित, वीरों के समान साहसी और शुद्ध गुण युक्त पति-परायण नारी के समान होता है, वही पृथिवी को (पृथिवीवासियों को) सुखों में निवास कराता है। जो प्रजा का रंजन करता है वही राजा है, तन्त्र-प्रणाली चाहे कोई भी हो। वेद का आदेश है कि मरुत (वीर) ऐसे राजा के समान अपनी सुदर्शनीय धारणा (इमेज) चित्रित करें। युवा-शक्ति और सैन्य शक्ति दोनों ही राष्ट्र में सत्य की प्रेरक, अद्रोह की वाचक और सु-सेवाकारी हो, जिसके सारे राष्ट्र को उन पर गर्व हो। वेद में तो यहाँ तक कहा है—**'यद वश्चित्रं युगे युगे नव्यं घोषादमर्त्यम्। अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिघृता यच्च दुष्टरम्'॥** (ऋग्० १।१३९।८, अथर्व० २०।६७।२) अर्थात्, हे मरुतो! तुम्हारा जो यह चिर-नवीन अविनाशी चित्र है, दुस्तर है, निश्चय ही दुस्तर है, (किन्तु) उसे युग-युग में तुम घोषणापूर्वक धारण करो (जिससे), वह हम लोगों को सुखप्रद हो। वस्तुतः मरुत (वीर) वही हैं जो किसी भी शुभ, श्रेष्ठ लक्ष्य वा साधना के लिये जीवन की आहुति देने को उद्यत रहते हैं, लेकिन अपने चित्र (इमेज) को बिगड़ने नहीं देते।

अन्तिम बात, जो मन्त्र में कही गई है, वह है **(क्षितीनां न मर्या अरेपसः)** क्षितिजों के समान मनुष्यों को सौमनस्यता वा निर्मलता प्रदान करने वाले बनो।

पृथिवी और आकाश जहाँ मिलते दिखाई पड़ते हैं, उसे क्षितिज कहते हैं, वरना भूमि और आकाश की दूरी सब समझते हैं। वेद में

उपमायें भी खूब होती हैं। जानते हुये भी कि हर मनुष्य का अपना पृथक-पृथक अस्तित्व है, मनुष्यों-मनुष्यों में दूरी कम करने का सौमनस्यता लाने का प्रयास मरुतों (वीरों) को क्षितिजों के समान करना सर्वोपरि है। किन्तु यह सार्थक जब होगा जब वीर स्वयं **(अरेपसः)** पाप-अपराध में से रहित निष्पाप होंगे, और अन्य मनुष्यों को भी पाप-अपराध में न पड़ने देंगे। निष्पाप वीर ही निर्मलता का संचार कर मनुष्यों-मनुष्यों में सामंजस्यता ला सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की युवा और सैन्य शक्ति को निष्पापता के साथ समाज और राष्ट्र में सामंजस्यता को लाना है, वेद की तो यही उदात्त भावना है।

मरुत क्षात्रबल के प्रतीक हैं। किसी भी राष्ट्र की युवा-शक्ति और सैन्य-शक्ति भी क्षात्र-बल का ही प्रतीक होती है। जिस समाज में मरुतों का बाहुल्य होता है, वही समाज वास्तव में बलशाली होता है। इसीलिए वेद मरुतों से यह अपेक्षा रखता है कि मरुत पूरे राष्ट्र को ओज और बल से स्थिर करें। "**उ॒ग्रं व॒ ओजः॑ स्थि॒रा शवां॒स्यधा॑ म॒रुद्भि॑र्ग॒णस्तुवि॑ष्मान्**" (ऋग्वेद ७।५६।७)। वेद में मरुतों को विश्ववेदसः भी कहा गया है। "**....म॒रुतो॑ वि॒श्ववे॑दस॒ आ ते॒ त्वष्टा॑ प॒त्सु ज॒वं द॑धातु।**" (यजुः० ९।८; अथर्व० ६।९२।१) अर्थात् मरुत वीर सर्वप्रापक, सर्वप्रकार के ज्ञान-विज्ञान से युक्त, इस प्रकार का नियमन तथा निरीक्षण करें जिससे किसी भी राष्ट्र की कल्याणकारी योजनाएँ पूरे वेग और गति से निष्पादित हो सकें।

इसके लिये मरुतों का ब्रह्म-बल से भी युक्त होना राष्ट्रोत्थान और मानवता की रक्षा के लिये बहुत जरूरी है। जहाँ क्षत्रियत्व और ब्रह्मणत्व दोनों जीवन में संयुक्त हो जाते हैं, वही राष्ट्र उन्नत राष्ट्र, और वही लोक पुण्यलोक होता है। ईश्वर करे, कि हमारी युवा-शक्ति और सैन्य-शक्ति जिसकी शौर्य, वीरता और साहस के बारे में दो राय नहीं, देवत्व और ब्रह्मणत्व से भी ओत-प्रोत हो; मानवता के सुखद भविष्य के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

—:o:—

११

कैसे हों हमारे जन-नायक*

मूर्धानं॑ दि॒वोऽअ॑र॒तिं पृ॑थि॒व्या वै॑श्वान॒रमृ॒तऽआ जा॒तम॒ग्निम्।
क॒विꣳस॒म्राज॒मति॑थिं॒ जना॑नामा॒सन्ना पात्रं॑ जनयन्त दे॒वाः॥

—ऋग्वेद ६।७।१, यजुर्वेद ७।२४, ३३।८, सामवेद ६७।११४०

ऋषिः—भरद्वाज बार्हस्तपत्यः। देवताः—वैश्वानरः। छन्दः—आर्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

पदपाठ—मूर्द्धानम्। दिवः। अरतिम्। पृथिव्याः। वैश्ववानरम्। ऋते। आ। जातम्। अग्निं। कविम्। सम्राजम्। अतिथिम्। जनानाम्। आसन्। आ। पात्रम्। जनयन्त। देवाः।

किसी भी देश या राष्ट्र की उन्नति में तीन बातें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं—

— वस्तुओं की गुणवत्ता।
— सेवाओं की गुणवत्ता।
— नेतृत्व की गुणवत्ता।

जिस देश में वस्तुओं की उत्पादन उच्च कोटि का हो, दी जाने वाली सेवाओं में कमाल की चुस्ती-फुर्ती और कार्य-कुशलता हो, और जहाँ का जन-मानस नैतिक-मूल्यों की रक्षा करने हेतु सफल और सही नेतृत्व को प्रतिष्ठित करने में सक्षम हो, वह देश सब देशों

---

१ आर्यजगत् ७ जुलाई १९९६, वर्ष ६१, अंक २७ में प्रकाशित।

में शिरोमणि होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सही नेतृत्व सही जनमानस से ही उपजता है। इसीलिये वेद में जितना बल मानव-निर्माण पर दिया गया है, वह अद्वितीय एवं अनुपम है। मनुष्य में दिव्य गुणों को जागृत करना, यही अध्यात्म का चरम लक्ष्य है, यही मानव-धर्म है, और यही वेद का आदर्श है।

जो मन्त्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है, वह ऋग्वेद के छठे मण्डल के सातवें सूक्त का प्रथम मन्त्र है। इस सप्तर्च सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में ''वैश्वानर'' अर्थात् अग्रणी नायक, समस्त मनुष्यों का हित-सम्पादन करने वाले हृदय-सम्राट के नेतृत्व-प्रधान गुणों का सविस्तार वर्णन है। मन्त्र तथा इसके विषय की महत्ता इसी से स्पष्ट है, कि यही मन्त्र यजुर्वेद में दो बार और सामवेद में भी दो बार दोहराया गया है। जब किसी महत्वपूर्ण विषय को प्रभावी ढ़ंग से सुनिश्चित और सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना हो, तो पुनरुक्ति का आश्रय लिया ही जाता है।

एक बात और 'यथा राजा तथा प्रजा' यह लोकोक्ति कदाचित सामन्तशाही युग की देन हो, परन्तु वेद के अनुसार, जोकि प्रजातन्त्र का प्रबल पोषक है 'यथा प्रजा, तथा राजा' वाली बात चरितार्थ होती है। यजुर्वेद भाष्य में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती इस मन्त्र से पूर्व के मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—''**प्रजा जनों को उचित है कि सकल शास्त्र का प्रचार होने के लिये सब विद्याओं में कुशल और अत्यन्त ब्रह्मचर्य्य के अनुष्ठान करने वाले पुरुष को सभापति करें।**'' और इस मन्त्र के आरम्भ में टिप्पड़ी देते हैं कि ''**सभापति आदि के निर्वाचन में विद्वान ही मुख्य प्रमाण हैं, अतः विद्वानों का कर्त्तव्य बतलाते हैं।'' विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य वेद के अनुसार है 'सही नेतृत्व का निर्माण'**। सही नेतृत्व ही समाज को, संस्थाओं को, देश को, यहाँ तक कि समस्त विश्व को सही दिशा दे सकता है।

दूसरी बात यह, कि नेता कोई जन्म से, जाति से, वंश या कुल से नहीं होता। जो भी परमेश्वर से युक्त होकर परमेश्वर के दिव्य-गुणों को अपने जीवन में धारणा तथा व्यवहृत करता है, उसके अन्दर नेतृत्व-प्रधान गुणों का स्वतः विकास होता है। ऐसा ही व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान द्वारा ब्रह्म में विचरण करता हुआ 'ब्रह्मणस्पति' और वाणी तथा पाणि की साधना से 'वाचस्पति' तथा शुभ और श्रेष्ठतम कर्मों के

करने से 'यज्ञपति' कहाता है।

ऋग्वेद के छठे मण्डल के सातवें सूक्त के इस प्रथम तथा अगले मन्त्र की टेक है—(**जनयन्त देवाः**) देवगण निर्माण करें, सर्वत्र प्रसिद्ध करें, प्रकाशित करें, प्रादुर्भूत करें। प्रश्न होता है, किसको? और देवगण ही क्यों करें, अन्य क्यों नहीं?

विद्वांसो हि देवाः (शतपथ ३।७।३।१०) विद्वान जन ही 'देवः' कहाते हैं। और विद्वान वे विवेकी जन होते हैं, जो 'सत्य'-'असत्य', 'धर्म'-'अधर्म', 'पुण्य'-'पाप', 'अच्छे'-'बुरे' का निश्चयात्मक ज्ञान अपनी विवेक-बुद्धि से कर सकते हैं। देव चूंकि देना जानते हैं, उनका जीवन दूसरों के लिये होता है, उनका अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं होता, निष्काम भाव से वे श्रेष्ठत्म कर्मों को कार्यान्वित करते हैं, अतः चाहे बात निर्माण की हो, चाहे चयन की, विद्वानों से अधिक उपयुक्त नेतृत्व-प्रदाता और कोई हो ही नहीं सकता। जहाँ देवजन आगे नहीं आयेंगे, स्वाभाविक है अविद्वान अर्थात् असुरगण अवसर का लाभ उठा जायेंगे। स्थान कोई ख़ाली नहीं रहता। एक जाता है, दूसरा आ जाता है। मुख्य बात यह है, कि देवों का स्थान देव ही लें, अतः यह उत्तरदायित्व देवों पर आता है, कि वे देवों का निर्माण करें, देवत्व का विकास करें, और शीर्ष-स्थानों पर देवों को ही प्रतिष्ठित करें। यह निश्चय जानिये कि देवासुर-संग्राम संसार में अनादि काल से चला आ रहा है, और सृष्टि-पर्यन्त चलता रहेगा। देव और असुर दोनों ही प्रजापति की सन्तानें हैं, देव सदैव ही अर्चना और श्रम से यज्ञ (श्रेष्ठतम) कर्मों में प्रवृत्त रहे हैं, और असुर सदैव से यज्ञों को विध्वंस करने में लगे रहे हैं, पर एक बात जो स्पष्टतया वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन से प्रतीत होती है, वह यह, कि देवों ने असुरों से हार नहीं मानी है, असुरों को उन्होंने पछाड़ा है, दूर भगाया है, यज्ञ और यजमानों की (श्रेष्ठतम कर्म और श्रेष्ठतम कर्म करने वालों की) सदैव रक्षा की है। देवों ने युद्ध लड़े हैं, संग्रामों को जीता है, शान्ति के लिये, विकास के लिये, निर्माण के लिये।

तो, यह तो बात हुई देवों के दायित्व की। अब प्रश्न बाक़ी जो रहा, कि देव किसका निर्माण करें? देवों को देवों का ही निर्माण

करना है, मनुष्यों को देव बनना है उनमें देवत्व की तथा नेतृत्व की भावना भरनी है, और ऐसे देवों में जो सर्वश्रेष्ठ हो उसको नायक=नेता बनाना है। गीता में जैसे अर्जुन ने प्रश्न किया है, कि "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ?" स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण है, उसी प्रकार प्रश्न किया जा सकता है, कि देवों में देव, अग्रणी नेता के क्या लक्षण हैं ? नेता कैसा हो ? मन्त्र इसका उत्तर इस प्रकार देता है—

१. **(मूर्धानम् दिवः)** ज्ञान के आलोक से प्रकाशित उच्चतम् शिखर के समान। वर्फ़ से ढके पर्वतों के उच्च शिखर जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में आलोकित हो उठते हैं, उसी प्रकार नेतृत्व प्रदान करने वाला महापुरुष पुर्ण-परमात्मा के पूर्ण-ज्ञान से पूरी तरह आलोकित होना चाहिये। एक बार साधारण मनुष्य की साधारण सी भूल को माफ़ किया जा सकता है, पर संसार नेताओं की भूल को कभी माफ़ नहीं करता। इतिहास के पन्नों में नेताओं की भूलें बदनुमा दाग़ की तरह हमेशा-हमेशा के लिये अमिट हो जाती हैं। इसीलिये मन्त्र में कहा गया कि नेता (चाहे समाज का हो, सदन का हो, या विश्व का) दिव्य-ज्ञान और दिव्य-गुणों से दीप्त शीर्शस्थ कोटि का होना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण ४।२।४।२० के अनुसार जो सर्वश्रेष्ठ होता है, उसको 'शिर' कहा जाता है। पुरुष का शिर ही उसका द्यौ-लोक है, शिर से ही "श्री" है। कहा जाता है, कि सही निर्णय का आधार ९० प्रतिशत स्थिति का सही ज्ञान और १० प्रतिशत अन्तर्बोध होता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हम कह सकते हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी जहाँ बाहरी ज्ञान, बाहर की रोशनी के लिये ज़रूरी है, वहाँ अध्यात्म (परा-विद्या अथवा ब्रह्म-ज्ञान) अन्तर्बोध/अन्दर की रोशनी के लिये ज़रूरी है। यदि अन्दर-बाहर रोशनी नहीं, तो अंधेरा ही अंधेरा होगा, और अंधेरे में सिवाय टकराव के और कुछ नहीं हो सकता। जो ख़ुद रोशन है, वही दूसरों को रोशनी दे सकता है। और नेताओं के लिये तो यह और भी लाज़मी हो जाता है, कि वह पूरी तरह से रोशन हों, उनके दिल और दिमाग रोशन हों, मन और बुद्धि आलोकित हों और उनका अन्तरात्मा अन्तरयामी परमात्मा के आलोक से नित्य आलोकित रहे।

२. **(अ-रतिम् पृथिव्याः)** नेताओं की पार्थिव पदार्थों में रति नहीं होना चाहिये। भौतिक पदार्थों व क्षणिक सुखों के प्रति आसक्ति

नहीं, अनासक्ति होनी चाहिये। नेता पृथिवी का रक्षक और पोषक तो हो, पर पृथिवी के किसी भी भाग के प्रति आसक्त अथवा लोलुप न होना चाहिये। जो व्यक्ति पद व स्थान लोलुप हो, पद या भूमि के आकर्षण से बँधा रहना चाहे, वेद की दृष्टि में वह नेतृत्व प्रदान करने का अधिकारी नहीं। ममत्व न रखकर समत्व की भावना रखना, नेतृत्वता का प्रधान गुण है। समत्व से ही सर्वोदय सम्भव है। सिद्धि-असिद्धि, मित्र-शत्रु, मान-अपमान, सुख-दुःख, स्तुति-निन्दा आदि द्वन्दों के विषय में सम-भावना रखना ही अनासक्ति योग है। नेतृत्व प्रदान करने वाले विद्वानों को यही उचित है कि द्वन्दों से मुक्त हों, वृत्तियाँ सात्विक हों, आत्म-ज्ञान व आत्मिक बल से परिपूर्ण हो।

३. **(वैश्वानरम्)** विश्व-नर-हितम्, अर्थात् समस्त मनुष्यों का हितकारी होना नेता का तीसरा महत्वपूर्ण लक्षण है। इसके लिये भी उसका निःस्पृह, ममत्वरहित और निरहंकारी होना आवश्यक है। निराभिमानता और विनम्रता वैश्वानर अर्थात् नायक के प्रधान गुण हैं। **त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते। तव क्रतुभिरमृतत्वमायन्वैश्वानर यत्पित्रोरदीदेः॥** (ऋग्वेद ६।७।४) इस मन्त्र में वैश्वानर के प्रति बड़ी सुन्दर बात कही गई है। जिस प्रकार देवगण नव-जात शिशु को आशीर्वाद देने के लिये उसके प्रति प्रेम से झुकते हैं, उसी प्रकार हे अमृत-तुल्य वैश्वानर! पित्रों (जन-मानस) के प्रति तू प्रकाशित हो। तेरे कर्मों से [जन-मानस] अमृतत्व [दुःखों से छूट कर आनन्द] को प्राप्त हों।) ऋग्वेद ६।७।७ में वैश्वानर को '**अमृतस्य रक्षिता**' अमृत (समृद्धि/ आनन्द) का रक्षक कहा गया है। इन सभी से नेतृत्व के आधारभूत गुणों का बोध होता है।

४. **(ऋते आ जातम्)** 'ऋत' का अर्थ है, ऋताचार सदाचार। 'आ' का अर्थ है अच्छे प्रकार से। 'जातम' का अर्थ है, जाया हुआ, प्रसिद्ध, प्रकाशित। वैश्वानर पूर्णतया ऋताचारी अर्थात् सदाचारी हो। व्यवहार में मधुर और न्यायशील हो। भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिये असत्य और भ्रष्ट-आचरण का आश्रय कभी न ले। उसका सारा जीवन सत्य की रक्षा, सत्यान्वेषण तथा सत्य को उजागर करने के लिये समर्पित होना चाहिये।

५. **(अग्निम्)** अग्निवत प्रदीप्त, प्रकाशमान, ऊर्ध्वगामी अग्रणी,

तेजस्वी और पावमान होना नेतृत्व प्रदान करने के लिये ज़रूरी है। अग्नि प्रेरक है, हव्य-वाहन है, अग्नि जो कुछ ग्रहण करती है, उसको सूक्ष्मतर करके कई गुणा वायुमण्डल में सबके हित के लिये वापस कर देती है। अग्नि ऊर्जा है। ताप, प्रकाश और विद्युत अग्नि के ही रूप हैं। इस प्रकार अग्नि शक्ति का स्रोत है। नेतृत्व प्रदान करने वाला व्यक्ति स्वयं अग्निवत हो। उसके अन्तर में परमार्थ हेतु एक ज्वाला धधकती हो। उसके जीवन का सूत्र हो 'आगे बढ़ना' और 'ऊँचे चढ़ना' साथ ही अपने साथ औरों के लिये भी प्रगति, उत्थान और विकास का मार्ग प्रशस्त करना। अग्नि तेज का प्रतीक है। नेता भी तेजस्वी एवं वर्चस्वी होना चाहिये। अग्नि शोधक है, नेता भी इस प्रकार का हो, कि जो भी उसके सम्पर्क में आये, वह उससे प्रभावित हुये बिना न रह सके। अग्नि पावक है, नेता भी ऐसा हो कि उसके सानिध्य में लोग पावन हो जायें, इसके लिये नेता का 'निजी जीवन' और 'सार्वजनिक जीवन' दोनों ही पवित्र होने चाहिये। नेता का जीवन एक खुली पुस्तक हो, बेशक चाहे कोई उसकी 'प्राइवेट लाइफ़' में झाँके या 'पब्लिक लाइफ़' में। वेद जीवन को 'प्राइवेट' और 'पब्लिक' में नहीं विभाजित करता। जीवन तो बस जीवन है, जैसा अन्दर वैसा बाहर, और जैसा बाहर वैसा अन्दर। किसी भी नेता के स्मरणार्थ इससे अच्छी सूक्ति क्या होगी कि 'जुबान से ज्यादा ऊँची आवाज़ में व्यक्ति का जीवन बोलता है' (Life speaks louder than tongue)।

६. (**कविं**) कवि की विशेषता है, उसका कोमल, भावुक और संवेदनशील होना। चिन्तन और मनन की दृष्टि से कवि दूरदर्शी भी है, और क्रान्तदर्शी भी। कहते हैं 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पँहुचे कवि'। रचना और सृजन करना उसके कर्म हैं। नपे-तुले, किन्तु नियम-बद्ध शब्दों में, बहुत ऊँची या बहुत गहरी बात कह देना कवि की अपनी विशेषता है। कवि के लिये कोई विषय अछूता नहीं, वह सबका है और सब उसके हैं। कवि-हृदय की तो बात ही क्या; सबकी पीड़ा उसकी पीड़ा है। सर्वत्र व्याप्त सौन्दर्य और प्रेम का दर्शन उसकी साधना है। कवि के सारे उदात्त गुणों का समावेश एक नेता में भी होना ज़रूरी है, तभी वह जन-जन का नायक कहलाने का अधिकारी हो सकेगा।

७. **(सम्राजं)** सम्राजं का अर्थ है, समान रूप से (अर्थात् पक्षपात रहित होकर, लोगों के दिलों पर) राज करने वाला। वह 'लीडर' कैसा जिसका कोई अनुयायी न हो। व्यक्ति नेता बनता है, जनाधार से। और जनाधार जब बनता है, जब जन-जन के दिलों पर वह राज करता है। जितना अधिक वह जनमानस में लोकप्रिय होता है, उतना ही अधिक वह चमकता है, उतना ही अधिक उसका विस्तार होता है। वेद के दृष्टिकोण से नेता को विश्वव्यापी बनने का यत्न करना चाहिये, छोटे-छोटे गुटों, धड़ों और दलों का नहीं। सारी वसुधा उसका कुटुम्ब हो और चक्रवर्त्ती सम्राट की भाँति उसके यश व कीर्त्ति की पताका समस्त भू-मण्डल पर लहराये।

८. **(अतिथिं)** जिसके आने व जाने की तिथि निश्चित न हो, वह अतिथि कहाता है। नेतृत्व प्रदान करने वाले नेता को नेतृत्व प्रदान करना है, पद या कुर्सी से चिपके रहना नहीं। पद या कुर्सी कब मिल जाये, और कब छिन जाये; कब आये, कब चली जाय, कुछ नहीं कहा जा सकता। अतिथि जब किसी का अतिथेय ग्रहण करता है, तो भली-भाँति वह अपनी स्थिति को समझता है, वह जानता है कि मेज़बान का घर उसका कुछ क्षणों, घण्टों या दिनों के लिये उसका आश्रयस्थल ज़रूर है, पर वह उस घर का मालिक नहीं। मेज़बान के घर अतिथि रहता है, घर की वस्तुओं का उपयोग करता है, भोजन करता है परन्तु अपने आप को किसी भी वस्तु से बाँधता नहीं। जब जाने का समय आता है, सब कुछ यथावत छोड़कर मेज़बान को आशीर्वाद/ शुभकामनायें व्यक्त कर चल पड़ता है। मेज़बान व उसके द्वारा अतिथेय के प्रति अतिथि के मन में न राग होता है, न द्वेष। इन्हीं सब कारणों से अतिथि सम्मानीय व पूज्यनीय बनता है। अतिथि की परिभाषा करते हुये महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती कहते हैं **"जो मनुष्य पूर्ण-विद्वान, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल-कपट-रहित और नित्य भ्रमण करते हुये विद्या का प्रचार और अविद्या की निवृत्ति सदा करते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं।"** (ऋ० भा० भू० पञ्च०) मनु महाराज ने भी कहा है **'अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिं रुच्यते'** (मनु० ३।१०२) जिसकी स्थिति अस्थायी होती है, अतएव उसे अतिथि पुकारा जाता है। मनुस्मृति ४। ३० में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जो

पाखण्डी, दुर्गुणी, विकर्मी (उल्टे कार्य करने वाला), वैडालवृत्तिक (छली-कपटी), शठ, हैतुक (कुतर्की), बकवृत्ति (बकवादी, मिथ्याचारी), दिखावा करने वाला, स्वार्थी हो, वह 'अतिथि' के गुणों के विपरीत होने के कारण सत्कार का पात्र नहीं होता। नेता में कौन से गुण होने चाहियें, और कौन से नहीं, मन्त्र में किस सुन्दरता के साथ एक 'अतिथि' शब्द में ही व्यक्त कर दिया। नेता 'अतिथि' रहेगा सम्मान प्राप्त करेगा, पूज्यनीय और वन्दनीय रहेगा। 'अतिथि' न बन सका तो बड़े बे-आबरू होकर निकाल बाहर किया जायेगा। वेद का वचन यह सत्य जानिये।

९. **(जनानां आसन्नः पात्रं)** जनसमूह में आसन का पात्र हो। मनुष्यों के बीच, मनुष्यों में कार्य करते हुये जनता-जनार्दन पात्रता के कारण जिसको अपना नेता प्रतिष्ठित करे, उसको उच्च आसन दे, हर एक की ज़ुबान पर जिसकी प्रशंसा हो। विद्वान अपने मुख से जिसका यशोगान करें, और स्वयं अपने मन-वचन-कर्म से जनता-जनार्दन का रक्षक हो, उनका परित्राण करने वाला हो, वह योग्य पात्र नेता कहाता है। स्वयंभूः नेता की नेतागीरी चलने वाली नहीं। स्वयंभूः एकमात्र केवल परमात्मा है, जो अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। अन्य कोई भी स्वयंभूः हो ही नहीं सकता। परस्पर एक दूसरे की प्रशंसा करने से, अभिनन्दन करने और करवा लेने से कोई भी नेता नहीं बन सकता। कोटि-कोटि कण्ठों से जिन सुपात्रों का मुक्त स्तवन होता है, कोटि-कोटि लोगों के मुख, जिन सुपात्रों की जय जयकार और उनके कर्तृत्व व सुकर्मों का गुणगान करते नहीं थकते, वे नेता कहाते हैं।

मन्त्र में इस प्रकार नेतृत्व-प्रधान गुणों का बड़ा सुन्दर विवेचन है। ऐसा नहीं है, कि वेद की कसौटी पर खरे उतरने वाले नेताओं से (ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा, राजा, महाराजा, वीरों, वीरांगनाओं आदि से) यह धरती कभी शून्य रही है, परन्तु आज जबकि प्रत्येक देश-देशान्तर में, यहाँ तक कि, विश्व-मंच पर नेताओं की भीड़ ही भीड़ दीखती है, काश, कुछ ऐसे भी जन-सेवी वैश्वानर (विश्व नेता) होते, जिन पर धरती माता गर्व कर सकती!

हज़ारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पर रोती है,
बड़ी मुश्किल से होता है, चमन में दीदावर पैदा।

''दिव्य-ज्ञान से उद्भासित,
गुणों में हो जो सबका सरताज,
अनासक्त, विश्व-विनायक,
ऋत में हो जो पूर्ण-प्रज्ञात,
देवगण इस धराधाम पर,
करें ऐसा नेतृत्व निर्माण॥
अग्नि, कवि और अतिथि गुणों से,
सबका हो जो हृदय-सम्राट,
कोटि-कोटि जन जिसका नित,
मुख से करें यशो-गुण-गान,
देवगण इस धराधाम पर,
करें ऐसा नेतृत्व निर्माण''॥

—:o:—

२०

पुरोहितों का राष्ट्रहित में आह्वान्*

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳराजानमोषधीष्वप्सु। ताऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा॥

—यजुर्वेद ९। २३

ऋषिः—वाजस्येत्यस्य वसिष्ठ॥ देवताः—प्रजापतिः॥ छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप्॥

पदपाठ—वाजस्य। इमम्। प्र-सवः। सुसुवे। अग्रे। सोमम्। राजानम्। ओषधीषु। अप्सु। ता। अस्मभ्यम्। मधु-मतीः। भवन्तु। वयम्। राष्ट्रे। जागृयाम। पुरःहिताः। स्वाहा।

इमम् वाजस्य प्र-सवः सुसुवे — इस वाज का प्रसव (जाया) (मैं) सुसेवित करता हूँ—

अग्रे सोमम् राजानम् ओषधीषु अप्सु — प्रथम सोम के समान राजा को ओषधीयों में जलों/प्रजाओं/कर्मो में।

ता अस्मभ्यम् मधुमतीः भवन्तु — ताकि वे हमारे लिये मधुमय हों,

वयम् राष्ट्रे जागृयाम पुरःहिताः स्वाहा— सबके हितकारी हम लोग स्वाहुतिपूर्वक राष्ट्र में जागते रहें।

---

* आर्यजगत् के २७ अक्तूबर, १९९६ वर्ष ६१, अंक ४३ में प्रकाशित।

यजुर्वेद के नवम अध्याय का यह तेईसवाँ मन्त्र पुरोहितों का मार्गदर्शक मन्त्र है, उनके आदर्श का प्रतीक है। पर पुरोहित है कौन ? सामान्यजन आजकल उसको पुरोहित समझते हैं, जो किसी मन्दिर या पूजास्थान पर पूजा-पाठ, हवन, अग्निहोत्र, संस्कार, सत्संग तथा अन्य कर्मकाण्ड आदि करवा दे और दान-दक्षिणा ग्रहण कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ले। एक और विडम्बना है। आज जो पौरोहित्य कर्म कर और करवा रहे हैं, वे अपने को पुरोहित कहलवाना भी नहीं चाहते। शायद उन को वेद द्वारा प्रदत्त सम्बोधन तथा दायित्व स्वीकार नहीं। वे 'धर्माचार्य' के सम्बोधन से अपने आप को अधिक गौरवान्वित अनुभव करते हैं। पर वेद की दृष्टि में ऐसा नहीं। वेद की दृष्टि में 'पुरोहित' 'वाजी' या 'वाजिन' है। वह **(वाजस्य प्रसवः)** 'वाज' का जाया (उत्पन्न) है। वेद की दृष्टि में 'पुरोहित' का अर्थ है 'पुरःहितः', अर्थात पुरः=सामने, हित=हित (भला) जो सब का, समस्त मानव समाज का हित सामने रखता है, जिस के लिये राष्ट्र का हित सर्वोपरि है, वह है पुरोहित। वेद के अनुसार जो अग्रणी, अगुआ, नायक, हित-सम्पादक, गुरु, विप्र, वेदज्ञ, ज्ञानी, शक्ति सम्पन्न हो, वह कहाता है पुरोहित।

पुरोहित उपज है 'वाज' का। 'वाज' नाम है, संग्राम, समर, संघर्ष का। राष्ट्रोन्नति, राष्ट्रीय-विकास, राष्ट्रीय चिन्तन और राष्ट्र-रक्षा के जितने कार्य हैं, वे सब राष्ट्रीय संग्राम हैं, 'वाज' हैं। इन संग्रामों में विजय प्राप्त करने के लिये, कार्यों के सफल सुसम्पदान के लिये आवश्यकता पड़ती है नेतृत्व की, अगुआ की, अग्रणी की, जो 'स्व' और 'स्वार्थ' की भावना से ऊपर उठ कर अपने लक्ष्य की ओर पूर्णतया समर्पित हों। इन्हीं का नाम 'पुरोहित' है। कोई भी राष्ट्रीय संग्राम वा राष्ट्रीय यज्ञ इन पुरोहितों (आगे बढ़ कर नेतृत्व प्रदान करने वालों) के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। पुरोहित प्रतीक है, किसी भी राष्ट्र की 'ज्योति' और 'शक्ति' का, 'पराक्रम' और 'ऐश्वर्य' का, 'बल' और 'बुद्धि' का, और यदि इन सब को वेद के एक शब्द में कहा जाय तो 'वाज' का। इसी लिये वह 'वाजी' है। वाजी 'ज्ञानी' भी है, और 'कर्मी' भी; वह जानता भी है, और स्वयं करता भी और कराता भी है, यही उसकी विशेषता है।

पुरोहित वाजी है, क्योंकि वह उत्पत्ति है वाज की। (यजुः०

९.२३) में आया—**वाजस्य इमम् प्रसवः**, (यजुः० ९।२४) में कहा—**वाजस्य इमाम् प्रसवः** और (यजुः० ९।२५) में फिर स्पष्ट किया **वाजस्य नु प्रसवः।** (अथर्ववेद ३।२०।८) में इस तथ्य को यूँ कहा गया है—**'वाजस्य नु प्रसवे सं वभूविम्'** हम वाज के प्रसवन (उत्पत्ति) के लिये ही उत्पन्न हुये हैं। वाजीयों/पुरोहितों अग्रनायकों का निर्माण अपनों में से करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। वाजी **('यन्ता असि यमनः ध्रुवोः असि धरुणः'**—यजुः० ९।२२) नियन्ता है यम-नियम का, ध्रुव है, स्थिर है, धारण करने वाला है धर्म का।

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धोऽअपिकक्षऽआसनि।
क्रतुं दधिक्राऽअनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा॥

—यजुः० ९.१४

ज्योति और शक्ति से युक्त **(एषः स्यः वाजी)** यह वह वाजी **(ग्रीवायां अपि कक्षे आसनिबद्धः)** गर्दन में, अपिकक्ष (काँख या पहलू) में, मुख में बद्ध **(क्रतुं दधि-क्राः)** कर्तृत्व को धारण तथा संवहन करने वाले अश्व के समान **(अनु-सं-सनिस्यदत्)** निरन्तर दौड़ता हुआ **(पथां अंकांसि)** पथों के चिह्नों को **(अनु-आ-पनीफणत्)** सतत लांघता हुआ **(स्वाहा)** स्वाहुति द्वारा **(क्षिपणिम्)** गति को **(तुरण्यति)** वेगयुक्त करता चला जाता है। यह है वाजी का, अग्रणी का, पुरोहित का लक्षण। एक वाक्य में कहें तो आगे ही आगे वेग से बढ़ते जाना और बढ़ाते जाना पुरोहित का कर्म और धर्म है।

जहाँ तक वाजीयों के गुणों की बात है, यजुर्वेद ९।१६ और ९।१७ में उनको **मित-द्रवः** (मिताचारी) **स्वर्काः** (सुसंस्कारी) **देवताता** (दिव्यताओं/दैवी गुणों का प्रसारक) **अर्वन्तः** (ज्ञानवान), **हवन-श्रुतः** (पुकार सुनने वाले), **सहस्त्रसाः** (असंख्य ज्ञान-विज्ञान का सेवन वा वितरण करने वाले), **सनिष्यवः** (स्त्रवणशील), **मेधसाता** (विद्या, बुद्धि और विवेक प्रदान करने वाले) कहा गया है। वाजियों के प्रति/पुरोहितों के प्रति जन-भावना वेदानुसार कैसी है, देखें यजुर्वेद का यह मन्त्र।

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥

—यजुः० ९।१८, २१।२१

हे **(विप्राः अमृताः ऋतज्ञाः वाजिनः)** विप्र, अमृतमय, ऋतज्ञ वाजियो ! **(वाजे-वाजे धनेषु नः अवत)** संग्राम-संग्राम में धनों में हमारी रक्षा करो। **(अस्य मध्वः पिबत)** इस मधुर [सत्कार] का पान करो। **(मादयध्वम्)** आनन्दित होओ। **(तृप्ताः देवयानैः पथिभिः यात)** तृप्त/सन्तुष्ट रहते हुये देवयान/दिव्यगम पथों से ले चलो।

यह वाजी, पुरोहित, अग्रणी नेता राष्ट्र के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में चाहिये होते हैं। यजुः० ९।२२ में आया **[कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।]** कृषि के लिये तुझे, योग-क्षेम वा रक्षा के लिये तुझे, धन-सम्पत्ति अर्थात आर्थिक उन्नति के लिये तुझे, पोषण अर्थात सामाजिक उन्नति के लिये तुझे, नियुक्त करता हूँ। नेतृत्व और जागरूरता की आवश्यकता हर क्षेत्र में है, चाहे वह कृषि का क्षेत्र हो, उद्योग का हो, रक्षा का हो, या कोई भी हो। प्रत्येक क्षेत्र कुरूक्षेत्र भी है और धर्मक्षेत्र भी।

इन वाजियों के लिये, पुरोहितों के लिये, अग्रणी नेतृत्व के लिये, राष्ट्र-नायकों के लिये वेद के मन्त्र में तीन महान संदेश हैं, जिनका आह्वान इन्होंने सतत करना है—

(१) सोम के समान राजा की प्रस्थापना करो।

(२) अप्सु (जलों/प्रजाओं/कर्मों) को ओषधिरूप और मधुमती बनाओ।

(३) राष्ट्र-हित को सामने रखते हुये स्वाहुतिपूर्वक राष्ट्र में सदैव जागते रहो/जागरूक रहो।

राजा के चयन का अधिकार प्रजा का है—**'त्वां विशो वृणतां राज्याय'** (अथर्व० ३।४।२)। **(विशः)** प्रजायें **(त्वां राज्याय)** तुझ को राज्य के लिये **(वृणताम्)** वरण करें, अर्थात चुनें। पर कैसे राजा का चयन करना है, कौन-कौन से गुण राजा में हों, इनका परखना, आकलन करना और प्रजा को सत्य स्वरूप बताना काम वाजियो/पुरोहितों का है। किस का वरण राजा या राष्ट्राध्यक्ष के रूप में किया जाये, यह जन-जागरण का कार्य राष्ट्र-हित को सामने रखने वाले पुरोहितों का है। वेद की दृष्टि में और मन्त्रानुसार पुरोहितों का यह **(अग्रे)** सर्व प्रथम कार्य है।

राजा (राज्याध्यक्ष/राष्ट्रपति) कैसा हो, मन्त्र में कहा **(सोमम्**

राजानम्) सोम के समान राजा को **(सुसवे)** सुसेवित करता हूँ, अथवा प्र-सवता हूँ। यह उदघोष वाजी/पुरोहित का ही है। **राजाभवन्मधुनः सोम्यस्य**—(ऋक्० ६।२०।३) राजा प्रजा के लिये सौम्य, शान्तिदायक, मधु के समान होवे। परन्तु इसी के साथ राजा के कुछ और भी गुण ऋग्वेद ६।२०।३ में दर्शाये गये हैं, जैसे '**तूर्वन**', (शत्रुनाशक), '**ओजीयान**' (अधिक ओजस्वी), '**तवसस्तवीयान**' (बलवान से भी बलवान) '**कृतब्रह्मा**' (धन-ऐश्वर्य का सम्पादन करने वाला) '**वृद्ध-महाः**' (महान वृद्धों का आदर करने वाला), आदि। वैसे अकेला ''सोम'' ही राजा के गुणों को दर्शाने के लिये पर्याप्त है। सोम अमृत है। सोम के कर्म ऐश्वर्यों को बढ़ाने वाले होते हैं। सोम चन्द्रमा है, जो अन्धकार में भी अपनी शीतल चान्दनी से उजाला कर देता है। सोम समत्व योग का प्रतीक है। ओषधि के रूप में सोम रोग, कष्ट, व्याधि आदि का निवारण करने वाला है। सोम ओषधि के चौबीस गुण सुश्रुत में बताये गये हैं, उसी प्रकार सोम राजा के चौबीस गुण, यथा—बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भाषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा-शक्ति, प्रेम, स्पर्धा, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, गन्ध-ग्रहण तथा ज्ञान ग्रहण—लिये जा सकते हैं, जो उसको अमृतमय बनाते हैं। **अया सोमः सुकृत्यया महश्चिदभ्यवर्धत। मन्दान उद्वृषायते॥** (ऋक्० ९।४७।१) इन सुकृत्यों वा कार्यविधा से सोम बहुत अधिक बढ़ जाता है, और अति आनन्दयुक्त होकर उत्तम पद वाला हो जाता है।

वाजिनों/पुरोहितों का अगला महत्वपूर्ण कार्य है, **(ओषधीषु अप्सु)** राजा द्वारा 'अप्सु' को ओषधीरूप करवाना। अपस् नाम व्यापनशील और प्रवाहशील का है। 'जल' अपस् हैं क्योंकि उन में प्रवाह है। 'प्रजा' अपस् हैं क्योंकि प्रजाओं में भी प्रवाह है। सुविचार और सुकर्म भी सतत प्रवाही होने के कारण अपस् हैं। अप्-सु को जिस रूप में भी लें, पर्यावरण की दृष्टि से 'जल', राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से 'प्रजा' और राष्ट्र की दृष्टि से 'कर्म', इनको ओषधी रूप अर्थात दोषमुक्त बना कर सुसेवित करना-करवाना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। **सनेमि राजा परि याति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानोऽअस्मे स्वाहा** (यजुः० ९।२५) शाश्वत नियमों की परिधि में विद्वान राजा

ही हमारे लिये प्रजा को पोषण से स्वाहुति, अर्थात समर्पण की भावना से बढ़ाता हुआ, सब ओर से प्राप्त होता है, अतः प्रत्येक वाजी प्रत्येक पुरोहित पूरी आत्मनिष्ठा के साथ ज्योति और शक्ति से युक्त होकर यही लक्ष्य रखे, कि मैं चन्द्रमा के समान शांति देने वाले विद्या, न्याय और धर्माचरण से प्रकाशमान राजा को संस्थापित कर ओषधियों और रसों को, प्रजाओं और सुकर्मों को सुसेवित तथा सुसम्पादित करूँ, जिससे **(ता अस्मभ्यम् मधुमतीः भवन्तु)** वे हमारे लिये प्रशस्त मधुर गुण वाली हों।

राजा और पुरोहित दोनों का कर्त्तव्य बनता है कि प्रजा को रोग, दोष और अभाव-रहित कर सुसंस्कृत, सुसम्य तथा सुसंस्कारवान बनाये, जिस से प्रजाओं में से प्रत्येक का प्रत्येक के प्रति मधुर व्यवहार हो। परस्पर विरोध और द्वेष न हो। सब यथायोग्य, धर्मानुसार, प्रीतिपूर्वक बर्तें और बर्तावें। प्रत्येक अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहे किन्तु समूचे राष्ट्र की उन्नति में अपनी उन्नति समझे। यह है प्रजा के मधुमती होने की भावना।

हो मधुमय सुन्दर राष्ट्र हमारा। यह माधुर्य यह भाईचारा, यह पारस्पारिक सहयोग निरन्तर बना रहे, इसके लिये **(वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा)** हम पुरोहित स्वाहुतिपूर्वक समर्पण भाव से राष्ट्र में निरन्तर जागते रहें। यही है सब के हितकारी अग्रणी पुरोहितों का राष्ट्र-हित में राष्ट्रीय आह्वान।

आलस्य, प्रमाद और तम के वशीभूत होकर प्रजा सो सकती है। प्रजा को जागरूक रखने का कार्य वाजीयों/पुरोहितों का है, जिनके सामने सब का हित प्रधान होता है। यह तभी सम्भव है जब पुरोहित स्वाहाकारी हों। राष्ट्र को पूर्णरूपेण समर्पित, सत्य क्रिया, सत्य नीति और सत्य वाणी जिनके आधार हों। तथा वे स्वयं जागरूक हों, जागते रहें और मन, वचन, कर्म से लोगों को जगाये रखें। अथर्ववेद में आया है—

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे॥

—अथर्व० ७।५।४

देव लोग (वाजी/पुरोहित गण) जो 'पुरुष-हवि' से यज्ञ करते

हैं, सचमुच वह यज्ञ उससे अधिक ओजस्वी है, जिसका वे विविध प्रकार की हवन-सामग्री से यजन करते हैं। घृत, समिधा और विविध प्रकार की हवि से अग्निष्टोम यज्ञ करना सरल है, परन्तु राष्ट्र-यज्ञ में अपने आप को पूर्णतया समर्पित कर देना, स्वयं की हवि दे देना, उत्कट राष्ट्रीय भावना और आत्म-साधना की अपेक्षा रखता है। **पर-हित की भावना से इदं न मम के साथ स्व-जीवन की आहूति देता हुआ राष्ट्र में जो निरन्तर जाग रहा है, वही अग्रणी नागरिक राष्ट्र में सच्चा पुरोहित है,** वही सतत आह्वान करते हुये कहता है **वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा** हम सब पुरोहित राष्ट्र में राष्ट्र-हित में जागते रहें, राष्ट्र का, राजा का और प्रजा का, सही मार्ग-दर्शन करते रहें। राष्ट्र के हितों पर आँच न आये, चाहे अपना सर्वस्व राष्ट्र-हित अर्पित हो जाय।

जागते रहने की भावना यही है कि पुरोहित राष्ट्र के प्रहरी बनें। एक दृष्टि से देखा जाये, तो आज के पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक गण, लेखक, मनीषी एवं नेतागण सब के सब पुरोहित ही हैं। आवश्यकतानुसार राष्ट्र को सही दिशा-निर्देश और प्रजा का सही मार्ग-दर्शन करना उनका पुनीत कर्त्तव्य है। पर यह सम्भव तभी होगा जब प्रत्येक पुरोहित वेद के अनुसार अपने बारे में यह कह सकेगा—

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम्।
सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः॥

—यजुः० ११.८१

मेरा ब्रह्म-ज्ञान तीक्ष्ण है, तीक्ष्ण है मेरा पराक्रम और सामर्थ्य। मैं जिसका भी पुरोहित अर्थात मार्गदर्शक होता हूँ, उसका क्षात्रबल और विजयशीलता भी तीक्ष्ण होता है। ब्रह्म और क्षत्र में निष्णात पुरोहित किसी भी राष्ट्र को उन्नति के उच्चतम शिखर तक ले जा सकते हैं। राष्ट्र-हित में ब्रह्म और क्षत्र की साधना करते हुये एक सच्चे प्रहरी के रूप में पुरोहित राष्ट्र का मार्गदर्शन करते रहें, यही आह्वान है वेद का पुरोहितों अथवा वर्तमान धर्माचार्यों, मनीषियों, नेताओं, लेखकों और सम्पादकों के लिये।

—:o:—

२१

नेता का वैशिष्ट्य : वेद की दृष्टि में

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑।
दि॒वि मू॒र्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म्॥

—यजुर्वेद १३।१५, १५।२३, ऋग्वेद १०।८।६

ऋषिः—त्रिशिरा। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षी त्रिष्टुप्।
स्वरः—धैवतः।

पदपाठ—भुवः। यज्ञस्य। रजसः। च। नेता। यत्र। नियुत-भिः। सचसे। शिवाभिः। दिवि। मर्धानम्। दधिषे। स्वः-साम्। जिह्वाम्। अग्ने। चकृषे। हव्यवाहम्।

(अग्ने)	— हे अग्रणी विद्वन !
(यज्ञस्य च रजसः नेता भुवः)	तू यज्ञ का तथा पृथिवी लोक — (संसार) का नेता है—
(यत्र शिवाभिः नियुत-भिः सचसे)	— (1) जब [तू] यहाँ कल्याण-कारी नियमों/नीतियों से व्यवहृत होता है।
(दिवि मूर्धानम् दधिषे)	— (11) द्यौ में मूर्धा को धारण करता है,

(स्वः-साम हव्यवाहम जिह्वाम् चकृषे) — (iii) हव्यवाहक जिह्वा से सुखों की प्रदात्री कल्याणी वाणी को उच्चरता/ प्रकट करता है ॥

वेद की यह सुन्दर ऋचा उन समस्त अग्रणी विद्वत जनों को समर्पित है, जो नेता बनना चाहते हैं। मन्त्र का देवता 'अग्नि' है, और सम्बोधन भी मन्त्र में 'अग्नि' को ही है। 'अग्नि' से परमात्मा का ग्रहण होता है, और शरीर-धारी जीवात्मा का भी। परमात्मा तो नस-नाणी और शरीर के बन्धन से रहित है, अतः मन्त्र में जिह्वा शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि यह मन्त्र उन देहधारी अग्रणी जनों के लिये है जो नेतृत्व-कला में प्रवीण होना चाहते हैं।

वेद ज्ञान तो है ही मनुष्य को निरन्तर आगे बढ़ने और ऊंचे उठने की प्रेरणा देने के लिये। यह भी निर्विवाद है, कि संसार रूपी इस धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र में सफल नेतृत्व प्रदान करने वालों की आवश्यकता अनादि काल से रही है, और रहेगी। नेतृत्व प्रदान करने के लिये अग्रणी नायक की भूमिका में नेता बनना तो वेद-सम्मत है, पर नेता के कुछ लक्षण और गुण वेदानुसार भी तो किसी में हो, तब तो उसको नेता माना जाय।

आज समस्त भू-मण्डल में जो स्थिति है, उसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि स्वयंभू नेताओं की बाढ़ सी आ गई हो। राजनीति के क्षेत्र में तो हर व्यक्ति अपने आप को नेता समझता है, चाहे उसका जनाधार हो या न हो। अन्य क्षेत्रों में भी ऐसा देखने को मिलता है कि अनुचित उपायों से अन्यों को पीछे धकेल कर खुद को नेता उदघोषित करना या करवाना और अधिकार जताना या नियन्त्रण बनाये रखना, मानो एक सामान्य सी बात हो।

ऐसे माहौल में यह समयोचित ही है, कि नेता के विषय में वेद, जो परमात्मा का अमर काव्य है, का दृष्टिकोण समझा जाय।

'नेता' की प्राथमिक योग्यता मन्त्र में **अग्ने** के सम्बोधन से सिद्ध होती है। सम्बोधन में बोध निहित होता है। "अग्ने" का अर्थ है, अग्निस्वरूप। जो गुण अग्नि के हैं वे सब अग्ने में प्रकाशवान होते हैं। 'अग-अगि-गतौ' धातुओं से अग्नि पद सिद्ध होता है। गति के तीन

अर्थ होते हैं—'ज्ञान', 'गमन', 'प्राप्ति'। जो ज्ञानी (wise) हो, गतिशील (dynamic) हो, और प्राप्ति की उत्कट इच्छा रखता (achiever) हो, वह 'अग्ने' है। '**अग्निर्वै अग्रणीर्भवति**'। अग्नि अग्रणी है। अग्रणी की दो विशेषतायें प्रमुख हैं 'आगे बढ़ना' और 'अन्यों को आगे बढ़ाना'। पर पतन की ओर नहीं, प्रेय मार्ग की ओर नहीं। **अग्ने नय सुपथा राये** (ऋग्० १।१८९।१, यजुः० ५।३६, ७।४३, ४०।१६) अग्ने ले जाता है सुपथ पर आत्म-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये। अग्ने कुटिलता और पाप से दूर रखता है। अग्ने ही व्रत-पति है, और व्रतों की रक्षा करता है। वही पवमान है और **आयुंषि पवसे** (यजुः० १९।३८) जीवनों को पवित्र करता है। अग्ने किसी वस्तु या पदार्थ को नष्ट नहीं करता, अपितु युक्त होने पर उसकी शक्ति को कई गुणा बढ़ा देता है। 'अग्ने' शब्द से इस प्रकार स्पष्ट है, कि जो कोई भी नेतृत्व प्रदान करने, नेता बनने की लालसा रखता है, उसको आग्नेय-गुण-प्रधान होना अनिवार्य है।

यहाँ मन्त्र में 'नेता' की प्राथमिक अनिवार्यता के सम्बन्ध में जो 'अग्ने' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसको यदि पूर्व मन्त्रों के साथ संगति लगा कर देखें, तो प्रारम्भिक तैयारी में दो बाते और स्पष्ट होती हैं। यजुर्वेद १३।१३ में आया '**अ॒ग्नेः त्वा॒ तेज॑सा सादयामि**' तुझे ब्रह्माग्नि के तेज से स्थापित करता हूँ। इसी प्रकार यजुर्वेद १३।१४ में आया '**इन्द्र॑स्य॒ त्वा ओज॑सा सादयामि**' तुझे इन्द्र (ऐश्वर्यवान) के ओज से स्थापित करता हूँ। इस से सिद्ध होता है कि 'नेता' के लिये आग्नेय गुणों के साथ उस परब्रह्म, परमैश्वर्यवान परमेश्वर से युक्त होकर 'तेजस्वी' और 'ओजस्वी' होना भी अनिवार्य है। सीधे-सादे सरल और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो जिस व्यक्ति में आग्नेयता, तेजस्विता और ओजस्विता नहीं, वह नेता बनने या कहाने के क़ाबिल ही नहीं। **आग्नेयता, तेजस्विता** और **ओजस्विता** बाजार में नहीं ख़रीदी जा सकती, यह तो उस परमपिता परमेश्वर से युक्त रहने पर ही व्यक्ति के अन्दर स्थापित होती है।

आग्नेयता, तेजस्विता और ओजस्विता के साथ अग्रणी विद्वान को कब नेता माना जाय, देखें वेद का यह मन्त्र।

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्। य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा। घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः॥

—ऋग्० १।१२७।१; यजुः० १५।४७; साम० ४६५; १८१३; अथर्व० २०।६७।३

चारों वेदों में विद्यमान इस महत्वपूर्ण मन्त्र का भाव यह है कि मैं उस (**अग्नि**) अग्रणी (**होतारं**) होता [यज्ञ में सेवा कार्यों से स्वयं को आहुत करनेवाला] को नेता (**मन्ये**) मानता हूँ (**यः**) जो (**दासवन्तं**) दाता [देने वाला] (**वसुं**) ब्रह्म में वास करने वाला (**सूतुं**) प्रेरणा का संचारक (**सहसः**) सहन शक्ति का पुञ्ज, (**जातवेदसम्**) सृष्टि में उत्पन्न हुये पदार्थों को जानने वाला, [वैज्ञानिक], (**विप्रं न जातवेदसम्**) मेधावी श्रेष्ठ विद्वान के समान अपरा और परा विद्या को, असम्भुति और सम्भूति को जानने वाला, (**ऊर्ध्वया**) उत्कृष्ट विद्या से युक्त ऊर्ध्व गति करने [ऊँचा/ उन्नत होने] वाला, (**सु-अध्वरः**) सुन्दर अहिंसात्मक यज्ञों [श्रेष्ठतम् कर्मों] को सम्पादन करने वाला, (**देवः**) दिव्यताओं से युक्त, (**देवाच्या कृपा**) देवों को प्राप्त कृपा का आकांक्षी, (**घृतस्य विभ्राष्टिम् अनु वष्टि शोचिषा**) धृत=ज्ञान की अग्नि के प्रकाश के सानिध्य में विविध प्रकार के पदार्थों/ कार्यों को अनुकूलता से परिपक्वता तक पहुंचाने वाला, (**आऽजुह्वानस्य सर्पिषः**) आहुतियों से वर्धित तीव्र अग्नि के समान सर्पणशील अर्थात् प्रकाशमान और प्राप्त होने वाला हो।

नेता के गुणों को दर्शाने के लिये उपरोक्त मन्त्र में जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, वे सब मननीय है। अधिकांश उनमें से अनेकार्थी हैं। जो भी हों, जब तक कोई व्यक्ति इन गुणों से विभूषित न हो, वेद की दृष्टि में वह नेता माने जाने योग्य नहीं। ऐसा व्यक्ति ही (**यज्ञस्य च रजसः नेता भुवः**) यज्ञ का तथा पृथिवी-लोक का नेता होता है। संसार में जितने भी शुभ, श्रेष्ठ और कल्याणकारी कर्म है, उनकी संज्ञा है 'यज्ञ'। '**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**' (शतपथ १।७।१।५) श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ है, और श्रेष्ठतमं कर्मों को सुसम्पादित करना 'धर्म' है। अतः यज्ञ ही धर्म है, और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है, वहीं सफलता है। **यतो धर्मस्ततो जय**। इसी लिये वेद में आया **यज्ञेन**

गातुमसुरो विविद्रिरे धियो हिन्वाना उशिजो मनीषिणः (ऋग० २।२१।५) उशिजः (महत्वाकांक्षी) मनीषी, असुरः (कर्म-कुशल) धियों को बढ़ाते हुये यज्ञ द्वारा मार्ग को खोजा करते हैं। यज्ञों (श्रेष्ठ कर्मों) के द्वारा उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करना ही सही नेतृत्व है। **तव प्रयाजा अनुयाजाँश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः। तवाग्ने यज्ञोऽ३यमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्त्रः॥** (ऋग्० १०।५१।९) ऐसे अग्रणी ज्योर्तिमय व्यक्ति की तब हवियाँ (कर्म), सु-साधनायें और सुसेवायें अद्वितीय रूप से ऊर्जस्वन्तः होती हैं। उसका यह जीवन ही समग्र रूप से यज्ञमय हो जाता है। तब उसके लिये चारों दिशाओं से नमन प्राप्त होते हैं।

इस स्थिति तक कैसे पहुंचा जाये, मन्त्र में इसके लिये तीन साधन और बताये गये हैं।

(यत्र शिवाभिः नियुत-भि सचसे) जब यहाँ कल्याणकारी नीतियों से व्यवहृत हो। वस्तुतः यज्ञ (श्रेष्ठतम) कर्म वहीं सम्पादित हो सकते हैं, जहाँ कल्याणकारी योजनाओं और नीतियों को क्रियात्मक रूप से अमल में लाने के लिये नेतृत्व दृढ़-संकल्प एवं कटिबद्ध हो।

किसी कवि ने क्या ख़ूब कहा है—

बाअमल ने चाँद पर रख दिये क़दम।
बेअमल बस सोचते ही रह गये॥

जहाँ कल्याणकारी योजनायें और नीतियाँ केवल मुख या कागज पर ही रह जाती हैं, नेतृत्व उनके क्रियान्वयन की ओर ध्यान नहीं देता, उनको व्यवहृत नहीं करता, ऐसे नेतृत्व को नेतृत्व मानना वेद की दृष्टि में उचित नहीं। ऐसा नेतृत्व सम्मान का/ नमन का पात्र नहीं। केवल प्रकृष्ट कल्याणकारी योजनायें (प्रयाजाः), और, योजनाओं के अनुकूल उनका सफल निष्पादन (अनुयाजाः), नेतृत्व को बलशाली बनाता है। अतः एक सफल नेता को वेद के शब्दों में **'न वा उ मां वृजने वारयन्ते न पर्वतासो यदहं मनस्ये'** (ऋग्० १०।२७।५) यों कहना चाहिये, 'जब मैं जान-मान-ठान लेता हूँ, मुझे रोकने में न तो विरोधी समर्थ होते हैं, न पर्वत।' बाधायें मुझे रोक नहीं सकतीं, और पर्वत मुझे मोड़ नहीं सकते। इस प्रकार जो अग्रणी नायक कल्याणकारी नीतियों के सुसंचालन से निरन्तर युक्त रहता है, वही

नेता माने जाने का अधिकारी होता है।

दूसरा साधन बताया (**दिवि मूर्धानम् दधिषे**) द्यौ को मूर्धा में रखे/ धारण करे। 'दिवि' का अर्थ है दिव्य-प्रकाश। द्यौ लोक ही दिव्य प्रकाश का लोक है। मूर्धा कहते हैं सर्वोच्च, सर्वोपरि स्थान अथवा लोक को। मानव शरीर में मूर्धा है शिर। बुद्धि और विवेक का स्थान भी यह शिर ही है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ भी इसी शिर में स्थित हैं। पर यही शिर शैतान का घर हो जाता है, यदि यह दिव्य-प्रकाश से वंचित रहे। मन्त्र में इसीलिये कहा कि दिव्य-प्रकाश, दिव्य-ज्योति और दिव्यताओं को शिर में रखे। दिव्य नेतृत्व के लिये दिव्य-प्रकाश चाहिये ही। नेतृत्व यदि पतित हो गया, नेतृत्व यदि भ्रष्ट हो गया, तो उस समाज और राष्ट्र को टूटने से कौन रोक सकता है, जब तक कोई और पूर्णतया आलोकित, सही-नेतृत्व उसको संभाल न ले। प्रश्न हो सकता है, कि यह 'आलोक', यह 'दिव्य-प्रकाश' नेतृत्वशील व्यक्ति कहाँ से प्राप्त करे? कहाँ है यह 'द्यौ', जिसको मूर्धा में रखना है तो पूर्व मन्त्र में ही आया '**अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः**' (यजुः० ३।१२; १३।१४; १५।२०) द्यौ की मूर्धा 'अग्नि' अर्थात् अग्निस्वरूप प्रकाशमान परमेश्वर है। उसी की ज्योति से द्यौ लोक ज्योर्तिमान है। **दिवं॒ यश्च॒क्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः** (अथर्व० १०।७।३२) जो द्यौ को शिर के समान बनाये है, उसी सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमन है। अतः 'द्यौ' का मूर्धा है 'ब्रह्माग्नि' और इस संसार में नेतृत्वशील का मूर्धा है 'द्यौ'। अतः अंततोगत्वा प्रकाश के लिये ज्योति के लिये बोध के लिये उसी परब्रह्म परमेश्वर का ही आश्रय लेना सर्वोपरि है।

अंतिम बात—(**ह॒व्य॒वाहम् जि॒ह्वाम् स्वः साम चकृषे**) हव्यवाहक जिह्वा से सुखों की प्रदात्री, उत्तम गति वाली, कल्याणी वाणी को उच्चारता/ प्रकट करता है। जिह्वा हव्यवाहिका है। शरीर के लिये जो हवि इसको मिलती है, चख कर अनुकूल को अन्दर, और प्रतिकूल को बाहर कर देती है, अपने पास कुछ नहीं रखती। इसी प्रकार अन्दर जो विचार होते हैं, उनको वैसा ही यह बाहर व्यक्त कर देती है, इस प्रकार हवि रूपी संदेश की वाहिका भी यह जिह्वा ही है। मन्त्र का कहना है कि नेतृत्वशील व्यक्ति अपनी जिह्वा को उत्तम हवि की वाहिका बनाये। सीधी सी बात है, यदि शिर में द्यौ है, परमेश्वर

को मूर्धा में रखा है, तो वाणी से भी सुखों की प्रदात्री, उत्तम गति वाली, कल्याणी वेदवाणी ही प्रस्फुटित होगी। पर यदि शिर में गोबर भर रखा है, तो वाणी से भी जो उच्चरित होगा, वह गोबर ही होगा। जैसी नेता की दिमाग़ी क़ैफियत होती है, वैसा ही वह बोलता है। सही नेतृत्वशील की वाणी तो हितकारी, मधुर और ओज से परिपूर्ण कल्याणी वाणी होनी चाहिये। मनु महाराज ने कितना सुन्दर कहा है—

अहिंसयैव भूतानां कार्य्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥
नारूंतुदः स्यादार्तोऽपि न पर द्रोह कर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा ना लोक्यां तामुदीरयेत्॥

—मनुस्मृति २।१५९; २।१६१

धर्म की उन्नति चाहने वाला प्राणियों में अनुशासन की स्थापना अहिंसापूर्वक (अर्थात् वैर-विरोध छोड़ के) करे और मधुर एवं सुलक्षणा वाणी का प्रयोग करे। स्वयं दुःखी भी हो, तब भी न दूसरों को कष्ट पहुँचावे, न द्वेष या बुरा करने की भावना मन में लाये। जिस वचन से कोई दुःखित हो ऐसी लोक में निन्दनीय वाणी (अर्थात् अप शब्द) न बोले।

वेद के अनुसार यह है अग्रणी नायक (नेता) के गुण एवं लक्षण। ऋग्वेद में भी एक बड़ा सुन्दर मन्त्र इसी संदर्भ में है—

यो दुभ्रेभिर्हव्यो यश्च भूरिभिर्यो अभीके वरिवोविन्नृषाह्ये।
तं विखादे सस्निमद्य श्रुतं नरमर्वाञ्चमिन्द्रमवसे करामहे॥

—ऋग्० १०।३८।४

जो दलित (छोटे से छोटे) और महान ऐश्वर्यशाली (बड़े से बड़े) दोनों को सुलभ हो, जो सफलता-योग्य कार्यों को सम्पादित करने की विधा जानता हो, विपत्ति अथवा संग्राम (रणनीति) में निष्णात व कुशल हो, उस ऐश्वर्यशाली नायक को रक्षा के लिये हम साक्षात करें।

आज विडम्बना यह है कि नेता तो बहुत हैं, पर हैं, सब प्रकाशहीन, दिव्यताओं से शून्य। द्यौ से युक्त कोई नहीं। उनको मौलवी, मुल्ला, पादरी, ज्योतिषी, योगी, भोगी, तान्त्रिक, मठाधीष,

पण्डे, पुजारी सब का आश्रय स्वीकार है, केवल परमात्मा, सत्य और धर्म को छोड़कर। वाणी पर सरस्वती नहीं केवल राजनीति विराजती है। कल्याणकारी नीतियों का कार्यान्वयन जन-हित में नहीं, स्व-यश या स्व-हित में करना/ करवाना ही उनका लक्ष्य है। ऐसे में प्रबुद्ध राष्ट्र के वासियों को यह अवश्य विचार करना है, कि वे **'किस को नेता मानें'** वेद-विहित गुण-कर्म-स्वभाव वाले अग्रणी नायक को, या, जो जहां, जैसे भी हैं, उनको ?



२२

संसद में जन-प्रतिनिधि : वेद की दृष्टि में

ऋषिः—वसिष्ठ। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक् पंक्तिः।

अस्य देवस्य संसद्यनीके यं मर्तासः श्येतं जगृभ्रे।
नि यो गृभं पौरुषेयीमुवोच दुरोकमग्निरायवे शुशोच॥

—ऋग्वेद ७।४।३

पदपाठ—अस्य। देवस्य। संसद। अनीके। यम्। मर्तासः। श्येतम्। जगृभ्रे। नि। यः। गृभम्। पौरुषेयीम्। उवोच। दुरोकम्। अग्निः। आयवे। शुशोच।

(अस्य देवस्य संसद अनीके)	—	इस देव (विद्वान) को सर्वोच्च संसद में,
(मर्त्तासः श्येतं जगृभ्रे)	—	शुद्ध चरित्र वाले मनुष्य ग्रहण करते (स्वीकारते) हैं;
(यः पौरुषेयीम् गृभम् नि उवोच)	—	जो पौरुष से युक्त [व्यवहारिक/ स्वीकार्य बातें] नियमित रीति से उच्चरित करता है,
(यम् अग्निः दुरोकम्	—	जिसका अग्नि (आत्माग्नि, नेतृत्व, अंतर्ज्वाला), दुरितों को रोकने [तथा] जीवनमूल्यों
आयवे शुशोच)		की रक्षा के लिये चिंतित रहता है।

वेद 'लोक तन्त्र' का पोषक है। **'त्वां विशो वृणता राज्याय'** (अथर्व० ३।४।२) प्रजायें तुझ को राज्य के लिये वरण करें। पर वेद का लोकतन्त्र 'निर्वाचन' (इलेक्शन) पर आधारित न होकर 'वरण' (सिलेक्शन) पर आधारित है। अन्तर स्पष्ट है; 'निर्वाचन' (इलेक्शन) होता है, समर्थकों के बहुमत से। और 'वरण' (सिलेक्शन) होता है गुणों की बहुतायत से। उत्कृष्ट और श्रेष्ठतम गुणों के आधार पर जिसका वरण, शिष्ट, मुमुक्षु और धर्मात्माओं द्वारा किया जाता है, उसी को वेद में 'वरुण' शब्द से जाना जाता है। **'य सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभि धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः।'** 'जो समस्त शिष्ट, मुमुक्षु, धर्मात्माओं को स्वीकार, अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु, धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, उसकी संज्ञा 'वरुण' है।' जो सब से श्रेष्ठ और वरणीय है, वही वेद की दृष्टि में 'वरुण' है।

ब्रह्माण्ड में तो उस 'ज्येष्ठ ब्रह्म' से बढ़कर कोई नहीं; सारी व्यवस्था ही उसी की है, अतः वही वरुण है; परन्तु मानव-समुदाय में व्यवस्था, नीति निर्धारण और प्रशासन के हेतु संसद, सभा, समिति, सभी की आवश्यकता विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये रहती है। वेद ने संसद, सभा, समिति, सभासद, सभी को मान्यता दी है, और उनके संचालन के लिये उचित निर्देश भी दिये हैं। संसद में भी जन-प्रतिनिधि किस प्रकार के वरण किये जायें, कौन उनको वरण करने का अधिकारी हो, वे कैसा व्यवहार करें, कैसा सोचें, क्या बोलें, इस पर ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के चौथे सूक्त का तीसरा, चौथा और पांचवा मन्त्र काफी महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत मन्त्र उन्हीं में से एक है।

पहली बात जो मन्त्र में अत्यन्त ही सार-गर्भित है, वह है— **(मर्त्तासः श्येतं जगृभ्रे)** अर्थात्, वरुण सदृश्य देवों का वरण सर्वोच्च संसद के लिये **(श्येतं)** शुद्ध चरित्र वाले **(मर्तासः)** मनुष्य लोग **(जगृभ्रे)** ग्रहण करें/ स्वीकारें। यहाँ वरण करने वाले के वर्ण, वर्ग, जाति, वृत्ति, पद, हैसियत आदि को प्रधानता नहीं है; प्रधानता है, तो उसके शुद्ध धवल, शुभ्र चरित्र को। दाग़ी, पापी, चरित्रहीन मनुष्य (चाहे वे स्त्री हों या पुरुष) सर्वोच्च सभा या संसद के लिये वेद की

दृष्टि से वरण किये जाने के अधिकारी नहीं हैं। उनका नैतिक आचरण स्वस्थ (साउन्ड मॉरल कैरक्टर) होना ज़रूरी है। ऐसे शुभ्र धवल चरित्र वाले व्यक्ति का आकलन कैसे हो, इसको भी ऋग्वेद ७।४।२ में बड़े सुन्दर ढंग से दर्शाया है। मन्त्र है—

स गृत्सो अग्निस्तरुणश्चिदस्तु यतो यविष्ठो अजनिष्ट मातुः।
सं यो वना युवते शुचिदन्भूरि चिदन्ना समिदत्ति सद्यः॥

—ऋग्वेद ७।४।२

"जो जन्मदाता माता (तथा ज्ञानदाता गुरु वा आचार्य) के प्रति अभी भी निष्ठावान है; जो यम-नियम का पालक, उत्तम युवा, तरुण, बुद्धिमान, तेजस्वी, शुचिदन् (कालिमा-से-रहित स्वच्छ-मुख वाला), अन्नाहारी, समित-चित (सम्यक् चित्त वाला), तत्परता से सूर्य की किरणों के समान प्रकाश को फैलाने वाला, अग्रणी है, वही [जनता का प्रतिनिधि होने का पात्र] है।"

बड़ी सरल और सुस्पष्ट बात है। अच्छे चरित्रवान व्यक्ति ही अच्छे जन-प्रतिनिधियों का चयन करने में समर्थ हो सकते हैं। दुराचारी, पतित और आसुरी प्रवृत्ति के लोग तो अपने जैसों का ही वरण करेंगे।

साधरणतया प्रजा तो प्रवाह के समान है। यह उत्तरदायित्व तो विद्वानों और उपदेशकों पर आता है कि वे प्रजाओं में विचारों और व्यवहारों की पवित्रता लायें। जन-प्रतिनिधियों को वरण करने का अधिकार 'यविष्ठ' तरुणों (अर्थात् व्यसकों) को हो, यह बात तो मन्त्र से स्पष्ट है; परन्तु जो तरुण निष्ठावान, यम-नियमों के पालक, बुद्धिमान, तेजस्वी, शुद्ध आहार, शुद्ध विचार, शुद्ध व्यवहार वाले कर्म-कुशल हों, वे ही जन-प्रतिनिधियों का संसद, सभा आदि के लिये वरण करें, यह भी वेद के अनुसार आवश्यक है। ऐसे व्यस्कों के निर्माण में माता, पिता और आचार्यों की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका है, इसको सहज ही समझा जा सकता है। वेद की तो यही कामना है, कि प्रत्येक मनुष्य परमेश्वर से यही प्रार्थना करे—'**मा सुचरिते भज**' (यजुः० ४।२८) मुझको सु-चरित्र में स्थापित कर। '**यद भद्रं तन्नऽआ सुव**' (यजुः० ३०।३) जो भद्र, कल्याणकारी है, उसे हमें प्राप्त करा।

अब सर्वोच्च संसद में जिन प्रतिनिधियों को ग्रहण किया जाना है, वे कैसे हों; तो इसके विषय में मन्त्र ने कहा (**अस्य देवस्य संसद अनीके**) इस देव को सर्वोच्च संसद में स्वीकार करो। वे देव कैसे हो, यह तो मन्त्र ने आगे बताया। परन्तु मन्त्र के इस अंश जो दो शब्द अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, वे हैं ''अनीक'' जो संसद के साथ आया है; और 'देव' जो संसद के सभासदों की प्रथम अनिवार्यता है। अनीकः अनीके या अनीकम् के अर्थ होते हैं, सेना, विशेषकर सेना का वह दस्ता, जो अग्रभाग में प्रधान, मुख्य या सर्वोच्च हो। सेना जैसे योद्धाओं का समूह है, उसी प्रकार वेद संसद को भी देवों के एक समूह के रूप मे लेता है। 'अनीकः' का एक अर्थ 'मुख' भी है। इस प्रकार से संसद पूरे राष्ट्र का एक मुख, एक चेहरा है। जैसे व्यक्ति की पहचान उसके चेहरे से होती है, जो शरीर में सर्वोच्च है, उसी प्रकार किसी राष्ट्र की पहचान उसकी संसद से होती है, जिसका राष्ट्र में सर्वोच्च स्थान होता है।

दूसरा महत्वपूर्ण शब्द है—''देव''। गुणों की दृष्टि से मनुष्यों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है। दिव्य गुणों से सम्पन्न विद्वान और विवेकी मनुष्य 'देव' कहाते हैं। इनकी वृत्तियाँ 'सात्विक' होती हैं। निकृष्ट तथा दुर्गणों से युक्त मनुष्य 'असुर' वा 'राक्षस' कहाते हैं। इनका स्वभाव तामसिक होता है। सामान्य गुणों एवं अवगुणों से युक्त मनुष्य 'मनुष्य' ही कहाते हैं। प्रायः इनकी वृत्तियाँ राजसिक होती हैं। वेद की दृष्टि से संसद में वरण किये जाने की प्रथम अनिवार्यता है—केवल दिव्य-कोटि के लोगों अर्थात् 'देवों' का ही स्वीकार किया जाना। मानवी दुर्बलताओं से युक्त 'मनुष्य' और आसुरी सम्पदाओं से युक्त 'असुर' वा 'राक्षस' संसद में जन-प्रतिनिधियों के रूप में वरण किये जाने के योग्य ही नहीं हैं। संसद की गरिमा को 'देव' ही बनाये रखने में सक्षम हो सकते हैं, 'दानव' नहीं।

जिन दिव्य गुणों को धारण करके और सतत अभ्यास से आचरण में लाकर मनुष्य 'देव' कहाते हैं, उनमें प्रमुख हैं, दानशीलता, दीप्तिमत्ता, प्रभुद्धता, क्रीड़ाशीलता, व्यवहारकुशलता, कर्मकुशलता, निर्द्वन्द्वता, निर्भयता, शोभनीयता, आनन्दवृत्ति, निराभिमानता, क्रियाशीलता,

प्रगतिशीलता, आदि। स्वभाव से देवों का प्रसन्नवदन, हंसमुख, मृदु, महत्वाकांक्षी, साफल्याभिलाषी, गतिशील, विनम्र, अहिंसक, गुणों का प्रशंसक और एक सफल प्रेरक होना ज़रुरी है। सब से बड़ी बात यह कि देव देते ही हैं, लेते नहीं। यदि लेते हैं, तो उस से कई गुणा पुनः दे देते हैं। जबकि मनुष्यों का स्वभाव यह होता है, कि वे अधिक से अधिक लेना चाहते हैं, और कम से कम देना चाहते हैं। देवों की समत्व और दान भावना ही उनको देवता बनाये रखती है। दूसरी बात यह कि मनुष्य अपनी निर्बलताओं के कारण अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रख पाते। इन्द्रियों के दास हो जाते हैं। देव अपने को पूरी तरह नियन्त्रित और अनुशासित रखते हैं। वे इन्द्रियों के दास नहीं, स्वामी होते हैं। इन्द्रियाँ उनके अधीन होती हैं, वे इन्द्रियों के अधीन नहीं होते। इन्द्रियों के अधिपति होने के कारण वे 'इन्द्र' कहाते हैं। तीसरी बात यह कि 'देव' 'आत्म-ज्ञान' और 'आत्मबल' से पूरित होते हैं, धीरता, वीरता, साहस और शौर्य उनके प्रत्येक आचरण में परिलक्षित होता है। जोखिम उठाने और सघर्षों से जूझने की उनमें अपूर्व क्षमता होती है। मनुष्यों में यह सब कुछ न्यून या नहीं के बराबर होता है। असुरों में शक्ति तो होती है, परन्तु आत्मिक बल नहीं होता। दर्प और अहंकार से चूर वे गरजते तो बहुत हैं, और यदि बरसते हैं, तो केवल पीड़ा एवं दुःखों का ही सृजन करते हैं।

ऋग्वेद में देवों के गुण और कर्म के विषय में कहा—'**विश्वे देवासो अस्त्रिध एहिमायासो अद्रुहः। मेधं जुषन्त वह्नयः**' (ऋग्० १।३।९) समस्त देव अस्त्रिध (क्षय वा शोषण से रहित), अद्रुहः (द्रोह तथा द्वेषादि से रहित), एहिमायासः (सर्वतोमुखी प्रज्ञा वाले) मेधं-जुषन्त (यज्ञों अर्थात् श्रेष्ठतम कर्मों के सेवी) तथा वह्नयः (उपकारों के वाहक) होते हैं। ऋग्वेद १०।१३४।७ में एक और सुन्दर बात कही गई है—

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे॥ —ऋ० १०।१३४।७

देव न तो किसी की हिंसा करते हैं, न ही किसी को बहकाते हैं। मन्त्रज्ञान वा वेद-विधान को आचरण में लाते हैं। पक्ष और विपक्ष के साथ सर्वतः यहां सम्यक् मिल कर कार्य करते हैं।

देवों के उपरोक्त गुण, कर्म और स्वभाव के अतिरिक्त जो दो बातें मन्त्र में उनकी संसद में जन-प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण किये जाने के सम्बन्ध में कही गई हैं, वे उनकी जन-प्रतिनिधि की भूमिका के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। प्रथम, वे **(पौरुषेयीम गृभम् नि उवोच)** पौरुष से युक्त व्यवहारिक (प्रैक्टिकल) बातें नियमित रीति से कहें। संसद मात्र चीखने और चिल्लाने की जगह नहीं। यहां जो कुछ भी बोला जाये, वह बोलने वाले के पौरुषेय, अर्थात् उसके आत्म-विश्वास और आत्म-विश्लेषण से युक्त हो, और नियमों के अनुसार कहा जाय। संसद में चीखना-चिल्लाना या हल्ला बोलना किसी समाचार पत्र के लिये समाचार हो सकता है, किन्तु बोलने वाले का पौरुषेय कदापि नहीं हो सकता। संसद में जन-प्रतिनिधि देव का पौरुषेय किन बातों में है, इसको वेद ने यों कहा—

आ यो योनिं देवकृतं ससाद क्रत्वा ह्य१ग्निरमृताँ अतारीत्।
तमोषधीश्च वनिनश्च गर्भं भूमिश्च विश्वधायसं बिभर्ति॥

—ऋ० ७।४।५

"**(यः)** जो **(देवकृतम्)** देवों के बनाये **(योनिम्)** गृह/संसद को **(आ ससाद)** प्राप्त होता है, वह **(क्रत्वा अमृतान् अतारीत)** अपने बुद्धि-कौशल वा कर्म-सामर्थ्य से जीवित मनुष्यों को [संकटो से] तारता है। जैसे **(औषधि च, वनिन च, भूमि च)** औषधियाँ तथा वन एवं भूमि **(गर्भम्)** गर्भ में **(अग्निः)** अग्नि को धारण किये हैं, वैसे ही **(तम्)** उस **(विश्वधायसम्)** समस्त राष्ट्र को धारने वाली [संसद] को [वह] अपने उपदेश वचनों से **(बिभर्ति)** पुष्ट करता है" सकारात्मक सोच और रचनात्मक प्रवृत्ति जब सभासदों की होती है, तब संसद शक्तिशाली होती है, और शक्तिशाली संसद के माध्यम से सारा राष्ट्र शक्तिशाली होता है।

अगली बात जो मन्त्र में कही गई, वह सचमुच विलक्षण है। संसद में वरण किये जाने के वह देव पात्र है, **(यम् अग्निः दुरोकम् आयवे शुशोच)** जिसका आत्माग्नि, (नेतृत्व, अन्तर्ज्वाला) दुरितों, दुष्टों वा दुष्टताओं को रोकने के लिये तथा जीवों के कल्याण के लिये चिंतित एवं संघर्षशील रहता है। '**अग्निः**' का प्रयोग यहां देवों की आत्माग्नि के लिये हुआ है। जन-प्रतिनिधि देवों का आत्मा अग्निः के

समान प्रकाशमान, तेजस्वी और धधकता हुआ होना चाहिये। उनका नेतृत्व एक मशाल हो, जो प्रजा-जनों का पथ आलोकित कर सके, चमका सके। उनकी इस अग्निः को दिशा भी वेदमन्त्र ने दे रखी है। **'दुरोकम'** का अभिप्राय है, राष्ट्र में दुर्विचारों, दुष्प्रवृत्तियों, दुर्गुणों, दुर्व्यसनो अथवा जो कुछ भी 'दुः' अर्थात् दुःखों से सेवित है, उसको रोकना। जिन देवों ने अपना जीवन कुरीतियों, कुप्रथाओं, दुर्विचारों, दुष्प्रवृत्तियों, दुर्गुणों, दुर्व्यसनों की रोकथाम में लगा दिया हो, वे पात्र होते हैं संसद में ग्रहण किये जाने के। इस से यह भी स्पष्ट होता है, कि जो समाज में राष्ट्र में तथा मानव समुदाय में निरन्तर विष घोलते रहे हों, उनका कदापि भी संसद में वरण न किया जाय। किसी भी राष्ट्र का चरित्र बनता है, उसके निवासियों के सद्-विचार सद्-व्यवहार और सद्-आचार से। जिन देवों का योगदान इस दिशा में रहा हो, वे यदि संसद में होंगे, तभी राष्ट्र चमक सकता है।

'आयवे शुशोच' यह दूसरी दिशा है, जो मन्त्र ने दी है। **'आयवे'** का अर्थ है—'जीवनाय' जीवन के लिये। **'शुशोच'** का अभिप्राय चिन्तित होने से है। देव पुरुष वैसे भी अपने लिये नहीं दूसरों के लिये ही चिन्तित रहते हैं। जिन्हें केवल अपने जीवन-साधन, अपनी आजीविका, अपना पद, अपनी कुर्सी, अपनी जायदाद की वृद्धि और केवल अपनी महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति की चिन्ता रहती है, वे 'देव' तो हो ही नहीं सकते। और यदि 'देव' नहीं, तो ऐसे लोगों से यह आशा करना, कि वे दूसरों के बारे में कुछ अच्छा सोचेंगे, व्यर्थ ही है। ऐसे लोग दूसरों के विषय में केवल दूसरों को गिराने, नीचा दिखाने, रास्ते से हटाने या उनको प्रगति करने से रोकने की सोच सकते हैं; कोई शुभ चिन्तन नहीं कर सकते। शुभ-चिन्तन **(शु-शोच)** कोई 'देव' ही कर सकता है। पर वेद-मन्त्र जो दिशा संसद के लिये जन-प्रतिनिधि के रूप में वरण किये जाने वाले देवों के लिये दे रहा है, वह यह, कि वे दूसरों के जीवन के लिये शुभ-चिन्तन करें। उनकी चिन्ता यह होनी चाहिये कि राष्ट्रवासी जनों का जीवन अच्छा, और अच्छा कैसे बनाया जा सकता है। राष्ट्र-व्यापी योजनाओं का यही मूल आधार हो सकता है। चिन्तन में बड़ी शक्ति है। जन-हित में लोगों के जीवन को बनाने, संवारने, चमकाने वाला

शुभ–चिन्तन राष्ट्र को ऊँचा उठा सकता है, जबकि स्वार्थ–चिन्तन अथवा उठक–पटक की राजनीति से प्रेरित चिन्तन राष्ट्र को धराशायी करने को काफी है।

ईश्वर करे, कि सम्पूर्ण विश्व के देव कोटि के मानव लोक–तन्त्र की सफलता के लिये वेद से प्रेरणा ले, उन वेदों से जो सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं। संसद में देवों का ही प्रवेश हो जिनके आगे केवल जीवों का हित और जीवन–मूल्य ही सर्वोपरि हों, जो मन वचन और कर्म से अपने पौरुष का सदुपयोग '**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः**' की उदात्त भावना से कर सकें।



२३

यशस्वी सांसद : वेद की दृष्टि में*

यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्।
यशस्व्या३स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्॥

—सामवेद ६११

ऋषिः—वामदेवो गौतमः। देवताः—लिङ्गोक्तः। छन्दः—महापंक्ति।

पदपाठ—यशः। मा। द्यावा। पृथिवी। यशः। मा। इन्द्र-बृहस्पति। यशः। भगस्य। विन्दतु। यशः। मा। प्रति-मुच्यताम्। यशसा। अस्याः। संसदः। अहम्। प्र-वदिता। स्याम्॥

(यशः मा द्यावा-पृथिवी) — मुझे द्यौ और पृथिवी का यश,
(यशः मा इन्द्र-बृहस्पती) — मुझे इन्द्र और बृहस्पति का यश,
(यशः भगस्य) — [तथा] ऐश्वर्य का यश
(विन्दतु) — प्राप्त हो।
(यशः मा प्रतिमुच्यताम्) — यश मुझे कभी न छोड़े।
(यशसा अस्याः सम्सद) — यश से युक्त, इस संसद का
(अहम् प्रवदिता स्याम्) — मैं प्रभावशाली प्रवक्ता होऊँ॥

प्रस्तुत मन्त्र में द्रष्टा ऋषि 'वामदेव-गौतम' ने, जो स्वयं प्रशस्त-

---

* आर्यजगत् के १२ जनवरी १९९७, वर्ष ६२, अक २ मे प्रकाशित।

गुण तथा उत्तम-इन्द्रियों वाला है, एक यशस्वी सांसद (संसद-सदस्य) की प्रभु से व्यक्त की गई याचना की ओर ध्यान दिला कर तीन बातों को बिल्कुल साक्षात् करके हमारे समक्ष रख दिया है—

(१) आर्यावर्त्त में ही नहीं, समस्त भू-मण्डल पर, जहाँ तक भी आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा, संसदीय प्रणाली इतनी ही प्रचीनतम रही है, जितना प्राचीनतम है परमात्मा की अमर कल्याणी वाणी 'वेद'। मन्त्र में 'संसद' शब्द की विद्यमानता से आधुनिक राजनीति के आचार्यों की इस बात का खण्डन हो जाता है, जो यह मानते हैं कि संसदीय प्रणाली अर्वाचीन राजनीतिक विचारधारा में हुए क्रमश: विकास की देन है। यदि प्राचीन काल में संसदीय व्यवस्था नहीं थी, तो किसी को क्या ज़रुरत पड़ी थी इस कामना की, कि 'यश से युक्त मैं इस संसद का प्रभावशाली प्रवक्ता होऊं'। इस प्रकार की कामना का होना ही प्राचीनतम काल से एक परिपुष्ट कार्यशील संसदीय व्यवस्था का होना सिद्ध करता है।

(२) सार्वजनिक हित तथा कल्याणकारी योजनाओं सम्बन्धी नीति-विषयक निर्णय आदि-काल से ही संसद द्वारा सामूहिक-निर्णय के आधार पर लिये जाते रहे हैं, जहां प्रत्येक संसद सदस्य को अपने विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता रही है। प्रत्येक सांसद की यह कामना 'कि वह संसद में एक प्रभावशाली प्रवक्ता के रूप में सफल हो' इतनी ही प्राचीनतम है, जितना प्राचीनतम है 'वेद'।

(३) वेद की दृष्टि में केवल 'महान यश वाले' यशस्वी तथा ज्ञानवान व्यक्ति ही संसद में जाने तथा प्रभावशाली ढंग से बोलने के अधिकारी रहे हैं, अन्य नहीं। सांसद की प्रभु से यह कामना, कि 'यश मुझे कभी न छोड़े' सिद्ध करती है, कि यदि उसका यश जाता रहा, तो वह कहीं का नहीं रहेगा।

इससे पूर्व कि हम मन्त्र पर ज़रा गहराई से विचार करें, एक बात का ध्यान रखना जरूरी है। वेद में 'संसद', 'सभा', 'समिति', 'परिषद्' सब शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। इस प्रकार 'सभा', 'समिति' चाहे किसी भी स्तर या श्रेणी की हो, उनके सदस्य/ सभासद एक प्रकार के सांसद ही हैं। अत: मन्त्र में 'संसद' को 'सभा' के रूप में लेना ही युक्ति-युक्त है। वैसे भी जिसे आज हम संसद कहते हैं, वे सभा ही

हैं— जैसे लोक-सभा, राज्य-सभा आदि। इस प्रकार आज जितनी भी 'सभा', 'समितियां', 'परिषदें' हैं, वे सब अपने-अपने क्षेत्र में 'संसद' ही हैं। इस दृष्टि से मन्त्र में जो कुछ भी कहा गया है, वह प्रत्येक सभा को तथा उसके सभासदों को लागू होता है।

सभा/संसद कैसी हो, क्या स्वरूप हो, इस विषय में वेदों में बहुत कुछ ज्ञान उपलब्ध है। देखें अथर्ववेद के यह मन्त्र।

स॒भा च॑ मा॒ समि॑तिश्चावतां प्र॒जाप॑तेर्दु॒हि॒तरौ॑ संविदा॒ने।
येना॑ सं॒गच्छा॒ उप॑ मा॒ स शि॑क्षा॒च्चारु॑ वदानि पितर॒ः संग॑तेषु॥

—अथर्व० ७।१२।१

"प्रजापति (स्वामिन प्रजा) की दुहिता (कन्या) तुल्य सभा और समिति एकजुट होकर मेरी रक्षा करें। जिस किसी सभासद/ सांसद के साथ मैं मिलूं, वह मुझे शिक्षित करे (उचित मार्ग दिखावे)। विद्वान, ज्ञानी, वरिष्ठ, अग्रज जन सभाओं में उत्तम प्रकार से बोलें।"

संसद / सभा / समिति की निर्मात्री प्रजा है, अतः प्रजा ही इन सभाओं की पति (स्वामी) है। संसद / सभा आदि प्रजा की पुत्री तुल्य हैं। पुत्री जैसे पितृ-कुल और पति-कुल दोनों का हित सम्पादित करने वाली होती है, इस प्रकार संसद / सभायें (समस्त) राष्ट्र तथा प्रजा दोनों का हित सम्पादित करने वाली होनी चाहियें।

वि॒द्म ते॑ सभे॒ नाम॑ न॒रिष्टा॒ नाम॒ वा अ॑सि।
ये ते॒ के च॑ सभा॒सद॒स्ते मे॑ सन्तु॒ सवा॑चसः॥

—अथर्व० ७।१२।२

"हे सभा! तेरा नाम (यश) हम जानते हैं। तू निस्सन्देह नरिष्टा (अरिष्ट) है। जो कोई भी तेरे सभासद हों, वे मेरे (जनता के, समाज के, राष्ट्र के, विश्व के) प्रति सम्यक् बोलने वाले हों।"

सभा में बैठने वाले को 'सभ्य' कहते हैं। 'सभ्यों' के व्यवहार, रहन-सहन, चाल-चलन को 'सभ्यता' कहते हैं। अतः सभासदों के व्यवहार, रहन-सहन और चाल-चलन से सभा का स्वरूप बनता है। नेकनामी या बदनामी (यश या अपयश) सभा को प्राप्त होती है, केवल अपने सभासदों से। अतः संसद / सभा के परिचालनों में सभासदों और सभापति पर बड़ी जिम्मेवारी आती है।

सभासदों के बारे में तो वेद ने कहा है **(स वाचसः)** सही

बोलें, सत्य बोलें, **(चारु)** **(उत्तम)** बोलें। जो सभा का अनुशासन भंग करता है, शोर-शराबा तथा वितण्डा खड़ा करता है, असभ्यता का प्रदर्शन करता है, वह सभासद सभा मैं बैठने योग्य नहीं। इसी प्रकार जो सभासद सभा में बैठकर भी मौन रहता है, वह भी वेद-विरुद्ध आचरण करता है। मनु महाराज ने कहा है—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्-विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्विषी॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हस्तास्तत्र सभासदः॥

—मनुस्मृति ८।१३-१४

"या तो सभा में प्रवेश न करे, और जो प्रवेश किया हो तो समञ्जित-सत्य वक्तव्य ही देवे। जो कोई नर सभा में (अन्याय को देखते हुये वा असत्य को सुनकर भी) मौन रहे, या सत्य न्याय के विपरीत बोले, तो महापापी होता है। जिस सभा/संसद में बैठे हुये सभासदों के सामने अधर्म से धर्म का और झूठ से सच का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद मरे से ही (मृतक समान) हैं।"

सभापति को भी चाहिये कि—

यद वो मनः परागतं यद बद्धमिह वेह वा।
तद व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥

—अथर्व० ७।१२।४

"यदि आप सभासदों का मन कहीं अन्यत्र चला गया है, या इधर-उधर बद्ध हो रहा है, तो आपके उस मन को पुनः लौटाने का आदेश देता हूँ। आपका मन मेरी कही बातों में लगे।"

सभासद यदि विषयान्तर करे, तो उसको वापस अपने विषय पर लाना सभापति का दायित्व है।

संसद/ सभा के लक्ष्य के बारे में वेद में आया—

अस्मादद्य सदसः सोम्यादा विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥

—ऋग्० १।१८२।८

आज इस सोम्य सभा में प्रेरणा (इच्छा-सिद्धि), बल (साहस-शक्ति) तथा जीवन्त (जीवन के लिये) आस्था एवं दिशा प्राप्त करें।

वेद के अनुसार संसद/ सभा का सौम्य अर्थात् सोम गुणों से युक्त होना जरूरी है। तथा संसद व सभा की कार्यवाही से लोगों को नई प्रेरणा, नया बल और जीवन्त-जीवन के लिये नई दिशा और विश्वास मिलना चाहिये।

संसद/ सभा में दस प्रकार के परिपक्व विद्वान् स्त्री-पुरुष (पितरः कोटि के) होने चाहिये—

त्रैविद्यौ हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्म-पाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्-स्यात्-दशावरा॥

—मनुस्मृति १२।१११

परिषद् में दस प्रकार के विद्वानों का वरण इस प्रकार का हो— "तीन प्रकार की विद्याओं के जानने वाले, हैतुक (कारण-अकारण वा कार्य-कारण के ज्ञाता वैज्ञानिक), तर्की (तर्क-निपुण, न्यायविद्) नैरुक्तः (निरुक्त अर्थात् विधा को जानने वाले), धर्म-पाठकः धर्म का पाठ पढ़ने वाले (धर्म का क्षेत्र इतना बड़ा है, कि आयु-पर्यन्त मनुष्य उसमें पाठक ही रहता है।), तीन पूर्व-आश्रमों के व्यक्ति अर्थात् आदित्य-ब्रह्मचारी,सद्-गृहस्थी तथा वानप्रस्थी।"

तीन प्रकार की विद्याओं को जानने वाले से तात्पर्य 'ईश्वर', 'जीव' और 'प्रकृति' के विशद-ज्ञान से है, अर्थात् उनके गुण, कर्म और स्वभाव का सम्यक् ज्ञान। जिस सभा/ संसद में उपरोक्त दस प्रकार के विद्वान-देव गण होंगे, वह सभा 'सभा' होगी। सभा का एक अर्थ 'प्रकाशयुक्त' भी है। जिस सभा में उपरोक्त दस प्रकार के महापुरुष होंगे, वहां प्रकाश और पारदर्शिता होगी ही। इस प्रकार की सभा दिव्य-विभूतियों और उनके सुवचनों से निश्चित रूप से जगमगा रही होगी।

ऐसी सभा/ संसद के लिये सभासद/ सांसद की सर्वशक्तिमान् तथा अनन्त ऐश्वर्य सच्चिदानन्द-स्वरूप परमेश्वर से प्रार्थना है, कि **(विन्दतु)** प्राप्त हो—**(यशः माद्यावा-पृथिवी)** द्यौ और पृथिवी का यश, **(यशः मा इन्द्र-बृहस्पती)** इन्द्र और बृहस्पति का यश, तथा **(यशः भगस्य)** भग (ऐश्वर्य) का यश। वेद की दृष्टि में सांसद/ सभासद यश अवश्य प्राप्त करे, पर कोरी वाह-वाही वाला नहीं, चाटुकारों और जात-बिरादरी वालों का यश नहीं, अपनी

प्रशस्ति में कीर्तन वाला यश नहीं, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा की पूर्ति द्वारा प्राप्त यश नहीं, विज्ञापनबाजी और झुठे प्रोपेगेंडा वाला यश नहीं, दलितों, किसानों, श्रमिकों के मसीहा कहाने वाला यश नहीं, धर्मगुरु, धर्माचार्य, धर्मावतार की उपाधि से विभूषित यश नहीं, अपितु उसे चाहिये 'द्यौ' और 'पृथिवी' का यश, 'इन्द्र' और 'बृहस्पति' का यश और 'ऐश्वर्य' का यश। 'यश' कहते है—'प्रतिष्ठा' को, 'महिमा' को 'प्रताप' को, 'गौरव' को। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में दो महिमामान लोक हैं—एक है 'पृथिवी' जिस पर जीवन है, और दूसरा है 'द्यौ' अर्थात् 'ऊर्ध्व' लोक, जिसमें समस्त लोक-लोकान्तर प्रतिष्ठित हैं। द्यौ में ही सारे दिव्य नक्षत्र, तारागण आदि जगमगा रहे हैं। ज्योति और प्रकाश का पुञ्ज है द्यौ लोक, और जल व जीवन से प्रतिष्ठित है पृथिवी लोक। **द्यौः इव भूम्ना, पृथिवी इव वरिम्णा**— (यजु० ३।५) द्यौ के समान भूम्ना (अर्थात् महान्, गरिमावान व दिव्यताओं से युक्त) और पृथिवी के समान वरिम्णा (अर्थात् वरणीय, यजनीय, सहनशील व गतिमान) होना ही द्यौ और पृथिवी के यश को प्राप्त करना है। **यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः**— (अथर्व० २।१५।१) जैसे द्यौ और पृथिवी न भयभीत होते हैं और न रूठते हैं, उसी प्रकार जो न डरता है, और न नाराज होता है, वह द्यौ और पृथिवी के यश को प्राप्त करता है, उसके प्राणों को कोई खतरा नहीं होता।

जैसे पृथिवी और द्यौ का यश महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार 'इन्द्र' और 'बृहस्पति' का। इस पिण्ड में इन्द्रियों का स्वामी जैसे 'इन्द्र' है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड का स्वामी 'बृहस्पति' है। 'इन्द्र' यदि 'आत्मा' है, तो बृहस्पति 'परमात्मा' है। 'इन्द्र' यदि आत्मज्ञान और आत्मबल का चाहने वाला है तो 'बृहस्पति' गुरु के समान आत्मज्ञान और आत्मबल का देने वाला है। पृथिवी पर जो जीवन है, जीवन में जो इच्छा है, गति है, प्रयत्न है, पुरुषार्थ है, अनुभूति है, वह इसी 'इन्द्र' से है। इसी प्रकार बृहद्, महद् और विराट ब्रह्माण्ड में जो नियमन है, व्यवस्था है, गति है, कारण और कार्य है, उसका अधिपति 'बृहस्पति' है। **ब्रह्म वै बृहस्पतिः** (मैत्रायणी संहिता–२।२।३) ब्रह्म ही बृहस्पतिः है। बृहस्पति के नेतृत्व में 'इन्द्र' **भद्रादधि श्रेयः प्रेहि**—अथर्व०

७।८।१ भद्र से ऊपर श्रेय को प्राप्त करता है। **इन्द्रस्य युज्यः सखा** (यजुः० ६।४, १३।३३, साम० १६७१) इन्द्र का परम सखा तो व्यापक परमेश्वर ही है। परमेश प्रभु की सख्यता में **य ओजिष्ठ इन्द्र तं सु नो दा मदो वृषन्त्स्वभिष्टिर्दास्वान्।** —ऋग्० ६।३३।१ के अनुसार '**इन्द्र**' **ओजिष्ठ** (ओज व पराक्रम से युक्त) **मदः** (आनन्दयुक्त) **सु-अभिष्टिः** (भली भांति सम्मानीय), **दास्वान्** (दानों का दाता) **वृषन** (बलवान), विघ्नों का नाश करने वाला और शत्रुओं को पराजित करने वाला बनता है। चूंकि शरीर ही नाशवान है और आत्मा अमर है, अतः इन्द्र को जब अपने अमरत्व का एहसास होता है तो वह निर्भय होकर कह उठता है '**अहम् इन्द्रः न पराजिग्य, न इत् धनम्, न मृत्यवे अव तस्थे**'—ऋग्० १०।४८।५ मैं इन्द्र हूँ, न पराजित होता हूँ न धन और मृत्यु के नीचे दबाया जा सकता हूँ।

पृथिवी, द्यौ, इन्द्र और बृहस्पति के विवेचन से स्वतः यह स्पष्ट हो जाता है, कि यश की कामना करने वाले सांसद/ सभासद के लिये वेद की दृष्टि में क्यों इन पृथिवी, द्यौ, इन्द्र और बृहस्पति का यश प्राप्त करना जरुरी है। वेद सांसद/ सभासद को समान गरिमावान, दिव्यताओं से युक्त, यजनीय, सहनशील और निर्भीक देखना चाहता है। वेद की दृष्टि में सांसद आत्म-ज्ञान और आत्मबल से पूरित श्रेय मार्ग पर चलने वाले ओज और पराक्रम से युक्त अजेय और अदब्धः होने चाहिये, जो '**ब्रह्म पीपिहि सौभगाय**—यजुः० १४।२' सौभाग्य के लिये ब्रह्म पान कर '**इन्द्रो विश्वस्य राजति**—यजुः० ३६।८' इन्द्र के समान विश्व का रञ्जन करें।

(यशः भगस्य) भग (ऐश्वर्य) के यश के लिये '**भग एव भगवाँ अस्तु**'—ऋग्० ७।४१।५ भगवान ही ऐश्वर्य हो। '**स नो भग पुरएता भवेह**' वही (भगवान) ही ऐश्वर्य हेतु हमारा आदर्श प्रेरक नेता हो। सांसद/ सभासद वेद की दृष्टि में केवल ईश्वर को ही अपना पथ-प्रदर्शक देखे, और उन समस्त दैवी सम्पदाओं से युक्त हों, जो मोक्षदायिनी हैं। यह सम्पदायें हैं—अभयता, शुद्धता, ज्ञान व योग में अवस्थिति, दान, दमनशीलता, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, अकृत्रिमता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, अलोलुपता, अचपलता, दया, हया (लोकलाज), कोमलता, तेज, क्षमा, धैर्य,

पवित्रता, अद्रोह तथा नातिमानता (अत्यधिक मान-सम्मान से विमुखता)। यही सांसद/ सभासद का ऐश्वर्य तथा उसकी पूंजी है, धन-आभूषण जमीन-जायदाद नहीं। इसी प्रकार सांसद/ सभासद के लिये दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, असत्य-कठोर वचन और अज्ञान सर्वथा त्याज्य हैं।

अगली बात मन्त्र में कही (**यशः मा प्रतिमुच्यताम्**) यश मुझे कभी न त्यागे। श्रेष्ठतम कर्मों के कर्त्ता का नाम और यश तो उसकी मृत्यु के उपरान्त भी जीवित रहता है, परन्तु मनुष्य जब इन्द्रियों को दास हो जाता है, 'इन्द्र' और 'बृहस्पति' को नकार देता है, कृत्रिमता और झूठ का आश्रय लेने लगता है, तब यश उसे छोड़ देता है।

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः।
इन्द्रियाणा मनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः॥

—विदुर नीति २।६१

"जो धन-ऐश्वर्यों का स्वामी तो है, परन्तु इन्द्रियों का स्वामी न होकर उनका दास है, इन्द्रियों को वश में न रखने के कारण वह शीघ्र ही उस ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है।"

अतः संयम, सदाचार और सद्विरेक ही यश को चिरस्थायी बनाते हैं।

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु॥

—विदुर नीति ७।६७

"ऊपर उठना, संयम, दक्षता, अप्रमाद (जागरूकता) धीरज, स्मृति और समीक्षा करके कार्य का आरम्भ करना ही उन्नति के मूल हैं।"

इस प्रकार अनासक्त होकर श्रद्धा से जो यशाशक्ति महान कार्यों को करता है, सुयश उसको कभी नहीं त्यागता।

किसी भी सभा/ संसद के सदस्यों के लिये यशस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी जीवन-पर्यन्त रहना वेद की अनिवार्यता है। यश यदि साथ छोड़ गया, तो सारा परिश्रम और पुरुषार्थ बेकार गया।

मन्त्र की अन्तिम महत्वपूर्ण बात (**यशसा अस्या संसदोऽहम् प्रवदिता स्याम्**) यश से युक्त मैं इस संसद का प्रभावशाली प्रवक्ता

होऊं। मन्त्र में प्रयुक्त 'प्रवदिता' शब्द बड़े महत्त्व का है। 'वदिता' का अर्थ है, बोलने वाला। प्रवदिता का अर्थ है, प्रकृष्टता के साथ, समस्त उत्कृष्टताओं के साथ बोलने वाला। उत्कृष्ट यशस्वी जीवन और उत्कृष्ट प्रभावशाली भाषण, ऐसा जो दिलों को छू जाये, और जिसके लोग कायल जो जायें। हल्ला-गुल्ला करके, चीख-चिल्ला के और शोर मचा कर संसद/ सभा का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना एक वेद-सम्मत यशस्वी सांसद/ सभासद के लिये कोई गौरव की बात नहीं। विदुर जी ने क्या सुन्दर कहा है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

—विदुर नीति ३।५७

"वह सभा—ही नहीं है जहाँ वृद्ध (परिपक्व, अनुभवी-जन) न हों। वे वृद्ध (परिपक्व, प्रौढ़) नहीं हैं जो धर्म की बात नहीं बोलते। वह धर्म नहीं है, जिसमें सत्य न हो, और वह सत्य नहीं है जो छल-छद्म से युक्त हो।"

क्या भारत की महान् संस्कृति की बात करने वाले हमारे सासंद, क्या वेद और वैदिक धर्म की जय बोलने वाले हमारी सभाओं के सभासद, क्या पंचों को परमेश्वर कहने वाले पंच-सरपंच और पंचायतों के सदस्य, वेद की इस बात को धारण कर सकेंगे, कि उन्होंने यशस्वी सांसद/ यशस्वी सभासद/ यशस्वी प्रवक्ता बनना है, अपने जीवन को यशस्वी बना कर। कुर्सी या पदों से नहीं, यश से चिपकना है। सांसद/सभासद सदस्य सब सोचें कि यश ने यदि त्याग दिया, तो बचा क्या? क्या साथ लेकर जाना है, और क्या छोड़ जाना है—यश या अपयश? सोचें, वेद की दृष्टि से। वेदानुकूल आचरण एवं व्यवहार करने में ही सांसदों की प्रतिष्ठा है, और संसद की गरिमा।

—:o:—

२४

सामाजिक एकता के मूलभूत आधार*

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ —अथर्व० ३ ३०.५

ऋषिः—अथर्वा॥ देवताः—चन्द्रमा सामनस्यञ्चः॥
छन्दः—विराड्जगती॥

पदपाठ—ज्यायस्वन्तः। चित्तिनः। मा। वि। यौष्ट। संराध्यन्तः। सधुराः। चरन्तः। अन्यो। अन्यस्मै। वल्गु। वदन्तः। आ। इत। सध्रीचीनान्। वः। संमनसः। कृणोमि।

परम पिता परमात्मा की कल्याणी वाणी 'वेद' से बढ़ कर विश्व-साहित्य में प्राचीनतम ऐसी कोई भी पुस्तक नहीं है, जो मानव जाति को 'एकता का सन्देश' देती हो। ऋग्वेद में ही अनेक मन्त्र हैं, जिसमें 'मानवता', 'मानव समाज' व 'मानव-धर्म' की उदात्त प्रेरणायें हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में मानव और मानव समाज के लिये बड़े ही प्रेरणादायक उद्बोधन हैं। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के इस मन्त्र में कितना सुन्दर उद्बोधन है—

---

* 'एकता दिवस १९९७ पर' आर्य सन्देश (साप्ताहिक) में प्रकाशित

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

—यजुर्वेद २०।२५

अर्थात् ज्ञानी और शूर-वीर मिल-जुलकर सहमति से आपसी विरोध से बचते हुये जन-हित और राष्ट्र-निर्माण के लिये कार्य करें। जैसे लोक-लोकान्तर अग्नि के साथ सहवर्तते है, उसी प्रकार सब मिल कर प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार व्यवहार करें और पुण्य के भागी हों।

यहाँ हम जिस मन्त्र पर चर्चा करेंगे, वह अथर्ववेद तृतीय काण्ड के तीसवें सूक्त का पाँचवा मन्त्र है। अथर्ववेद का यह सप्तर्च सूक्त 'साम्मनस्य सूक्त' कहाता है, जिसका लक्ष्य है 'सामाजिक एकता'। इसके प्रत्येक मन्त्र में वेद माँ का परस्पर मिल कर एक-चित्त होकर कार्य करने का उपदेश है।

प्रथम मन्त्र '**सहृदयं सामनस्यम विद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिंवाघ्न्या**' में ही सद्व्यवहार के तीन अंगों—'सहृदयता', 'सामनस्यता' और 'अविद्वेष' का सुन्दर समावेश है, इसको जिस उदाहरण से समझाया गया है उसके जोड़ का उदाहरण आपको सम्पूर्ण विश्वसाहित्य में नहीं मिलेगा। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ ऐसा व्यवहार करे, जैसे गाय अपने नव-जात वत्स के साथ करती है। क्या करती है गाय? पहले वह बछड़े के शरीर को गर्भ के मल से साफ करती है। उसको शुद्ध करने के लिये उसके पास न जल है, न कपड़ा। बस, प्यार है, वह उसको चाटती रहती है, जब तक वह गन्दगी से मुक्त होकर अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता। फिर जब तक उसको अपना दूध न पिला ले उसको चैन नहीं आता। सूत्र-रूप में, प्रथम गाय अस्पृश्य को स्पृश्य बनाती है और फिर उसको अपना दूध पिलाती है। काश, मानव समाज में जो किसी कारणवश मैले हैं, उनको हम अपने प्रेममय व्यवहार से शुद्ध और पवित्र कर लेते, और फिर मानवीय सहृदयता रूपी दुग्ध से उनको पुष्ट करते! तो आज यह दलितों तथा पिछड़े वर्ग की समस्या न होती।

आपसी व्यवहार के पश्चात पारिवारिक व्यवहार, पारिवारिक

सामनस्यता और तत्पश्चात् सामाजिक और राष्ट्रीय शील का सूक्त के मन्त्रों में सुन्दर विवेचन है। उसी कड़ी में प्रस्तुत मन्त्र में समाज व राष्ट्र के उत्थान के लिये सात मर्यादाओं का निर्देश किया गया है, जिनको कि वास्तव में सामाजिक एकता का मूलाधार कहा जा सकता है। मन्त्र के अनुसार एकता के लिये मूलभूत यह सात अनिवार्यतायें अथवा मर्यादायें इस प्रकार हैं—

१. **ज्यायस्वन्तः**	— बड़ा और श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न होना, तथा बड़ों को सम्मान देना।
२. **चित्तिनः**	— विचारशील, चैतन्य और स्थिर चित्तवाले होना;
३. **संराधयन्तः**	— एक मन से समृद्धि सम्पादन हेतु कार्यसिद्धि करने वाला होना;
४. **सधुराश्चरन्तः**	— भली भाँति धुरे से युक्त पहिये के समान चलने वाला होना;
५. **मा वियौष्ट**	— एक दूसरे से पृथक अथवा एक दूसरे का विरोध न करने वाले होना। (यहाँ शब्द आदेशात्मक हैं, जिनका अर्थ है, एक दूसरे से अलग मत होओ।)
६. **अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तः**	— एक दूसरे के प्रति भद्र अथवा मधुर वचन बोलने वाला होना।
७. **सध्रीचीनान्**	— समान पथ पर समान गति से चलने वाला होना।

मन्त्र में एकता के लिये प्रयत्न और पुरुषार्थ करने वाले देवों के लिये परमेश्वर का आह्वान है, कि (**एत, वः संमनस्कृणोमि**) आगे आओ, मैं तुम लोगों को समान मन वाला बनाता हूँ। वेद की यह विशिष्ट उपदेशात्मक शैली है। मोटे तौर से इस का भाव यह है, कि जो एकता के लिये एक-जुट होकर निःस्वार्थ भाव से आगे आते है, समाज, राष्ट्र और विश्व में सौहाद्र, प्रेम, शान्ति, एकता और आर्यत्व

के वर्धन के लिये स्वयं को समर्पित कर देते हैं, ईश्वर भी उनके लिये सांमनस्यता स्थापित करने में सहायक होता है।

आइये, अब मन्त्र में वर्णित एकता के हेतु उन मर्यादाओं पर विचार करें, जिन के बिना एकता सम्भव नहीं।

सर्व-प्रथम कहा गया **ज्यायस्वन्तः** अर्थात् बड़ा और श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न होना। एकता के लिये प्रयत्न और पुरुषार्थ श्रेष्ठों और गुणी व्यक्तियों में करना पड़ता है। चोरों में तो एकता अपने-आप हो जाती है। कहावत है न, 'चोर-चोर मौसेरे भाई।' एकता की जरूरत होती है, शाहों में, बड़े लोगों में, श्रेष्ठों में, क्योंकि यहाँ प्रत्येक श्रेष्ठी अपने-अपने निज गुण-कर्म-स्वभाव वाला होता है। अब प्रश्न यह होता है, कि इन विभिन्न गुण-कर्म-स्वभाव वाले बड़े लोगों में एकता कैसे लाई जाय, तो उसका भी उत्तर है—ज्यायस्वन्तः अर्थात् बड़ों का सम्मान करो, उनको आदर दो। उनका आशीर्वाद लो। विभिन्नता में एकता लाने की और कोई विधा नहीं। एक बात अनुभव की बताते हैं। यह जो आयुवृद्ध अर्थात् अनुभववृद्ध, ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध बुज़ुर्ग हैं, यह हमेशा आपके साथ रहने और परामर्श देने वाले नहीं। एक न एक दिन उन्होंने इस संसार से चला जाना है। परन्तु यदि आपने अपने जीवन में उनका भरपूर आशीर्वाद प्राप्त किया है, तो निश्चित जानिये वह आशीर्वाद जीवन-पर्यन्त आपके साथ रहेगा और आपके जीवन-साफ़ल्य में बहुत सहायक सिद्ध होगा।

यहाँ यह भी बात विचारणीय हो जाती है, कि बड़ा कौन है? वेद के दृष्टिकोण से बड़ों की पहचान निम्न बातों से की जा सकती है—

(१) बड़ा वह है, जो दूसरों का बड़प्पन स्वीकार करता है। दूसरों को बड़प्पन देता है।

(२) बड़ा वह है, जिसका दिल बड़ा है। संकुचित हृदय वाला आदमी बड़ा नहीं हो सकता।

(३) बड़ा वह है, जिसके विचार महान हैं, जो बड़ी और दूर की सोचता है। क्षुद्र और हीन विचारों का व्यक्ति बड़ा नहीं हो सकता।

(४) बड़ा वह है, जो बड़े-बड़े कामों में प्रवृत्त है। श्रेष्ठतम

कर्म जिसके जीवन के अंग हैं।

(५) बड़ा वह है, जो किसी भी अवस्था में शील और शालीनता का त्याग नहीं करता।

(६) सामान्यतः सारे वृद्ध बड़ों की श्रेणी में आते हैं, पर वास्तव में बड़े वे हैं, जो मात्र वयोवृद्ध न होकर या तो अनुभववृद्ध, ज्ञानवृद्ध या पद-वृद्ध हैं, और जिनका अनुभव और आचरण अन्यों द्वारा अनुकरणीय है। जिनका आत्मिक ऐश्वर्य महान है। ऐसे महान् व्यक्ति अनेकता में भी एकता ला देते हैं।

बड़ों के विषय में विदुर जी ने क्या सुन्दर कहा है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

—विदुर नीति ३।५७

वह सभा नहीं, जिसमें वृद्ध न हों, वे वृद्ध वृद्ध नहीं, जो धर्म का कथन नहीं करते। वह धर्म धर्म नहीं जिसमें सत्य न हो और वह सत्य, सत्य नहीं जो छल से युक्त हो। तो जहाँ ऐसे बड़े हों, वहाँ उचित मान-सम्मान व आदर से विभिन्नता में भी एकता लाई जा सकती है।

एकता का दूसरा आधार-स्तम्भ है—**चित्तिनः,** अर्थात् लोगों का विचारशील, चेतन और स्थिर चित्त वाले होना। जिस का चित्त स्थिर नहीं, वह एकता को भी बनाये नहीं रख सकता। एकता और स्थायी एकता के लिये 'जी-हुज़ूरिये' व्यक्ति नहीं, वरन ज्ञानवान और विवेकी व्यक्ति होने चाहियें। ऐसे व्यक्ति जो जागरूक हों, सोच-समझ वाले हों, चेतन हों। जिन्होंने अपने दिल और दिमाग की खिड़कियाँ बन्द कर रखी हों, और बुद्धि पर ताला डाल रखा हो, वे '**चित्तिनः**' की श्रेणी में नहीं आते। ऐसे लोगों के लिये एक कवि ने उलाहना दिया है—

दिलों के बन्द किवाड़ों को खोलते नहीं।
और दुआएँ माँगते फिरते हैं रोशनी के लिए॥

चित्तिनः की श्रेणी में केवल वही व्यक्ति आ सकते हैं, जिनके दिल और दिमाग खुले हुये हों, जो खुले दिल से और स्वतन्त्र बुद्धि

से सोच सकते हों, विचार कर सकें और समयोचित ठीक निर्णय ले सकें। बिना परस्पर परामर्श और सोच-समझ के आपसी एकता नहीं आ सकती और यदि किसी स्वार्थवश एकता हो भी गई, तो ज्यादा दिन तक टिकने वाली नहीं।

चित्तिनः का अभिप्राय यही है कि जो भी कार्य किया जाये वह बहुत सोच-समझकर समझदारी से किया जावे। यह तभी सम्भव होता है, जब व्यक्ति अपना स्वभाव बना ले कि उसका दिल रहे गरम एवं संवेदनशील और दिमाग़ रहे ठण्डा। मनुष्य का दिल जब बर्फ़ जैसा ठण्डा और कठोर हो जाता है, और दिमाग़ गरम रहता है, तब सब-कुछ उल्टा-पुल्टा हो जाता है। दिमाग़ की गर्मी बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है और बुद्धि की भ्रष्टता उस व्यक्ति का अपना ही नुक़सान नहीं करती बल्कि दूसरों को भी तबाह और बर्बाद कर देती है।

वेद मन्त्र का यह **चित्तिनः** शब्द एक और शिक्षा हमें देता है और वह है—चित्त की वृत्तियों को समस्त बुराइयों से हटाकर शुभगुणों में स्थिर करके योगारूढ़ होकर कर्त्तव्य-पथ पर चलना। योग जीवन-पद्धति ही सामाजिक एकता को दृढ़ता और स्थायित्व प्रदान करती है।

तीसरा आधार एकता का है—**संराधयन्तः**, अर्थात् एक मत से समृद्धि सम्पादन हेतु कार्य-सिद्धि करने वाला होना। मोटे तौर से एक दूसरे की उन्नति में, एक दूसरे को ऊपर उठाने वाला होना। हम एक तभी होंगे, जब एक दूसरे को बढ़ाने का यत्न करेंगे। एक दूसरे की हम टाँग खेंचते रहें, और बात करें एकता की, तो यह नीति अधिक चलने वाली नहीं। मानवतावाद का तो संराधयन्तः के विषय में एक बड़ा सुन्दर नियम है, कि *'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।'* और उन्नति भी एक प्रकार की नहीं, तीन प्रकार की *'अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति।'* वस्तुतः शरीर और आत्मा से जो उन्नत व सशक्त है, वही दूसरे का सहारा बन सकता है, वही एक दूसरे का सहयोगी हो सकता है, और वही समाज में एकता बनाये रख सकता है।

चौथी मर्यादा है—**सधुराश्चरन्तः**, अर्थात् धुरे से युक्त पहिये के समान चलने वाले होना। आड़ी, टेढ़ी, तिरछी या अपनी अलग चाल

चलने से एकता नहीं आने वाली। एकता तभी आ सकती है, जब हम सब पहिये की तीली या अरों के समान भली प्रकार अपने धुरे से जुड़े रहें। जो पहिया वाहन के धुरे से पृथक हो गया वह तो किसी कार्य का न रहा, सो अलग; लेकिन सारे वाहन का सत्यानाश दुर्घटनाग्रस्त करके ज़रुर रख देता है। जिस धरती, समाज व राष्ट्र से हम जुड़े हुये हैं, उस से जुड़े हुये ही हम विचरण करें। धुरा केन्द्र है, धुरा प्रधान लक्ष्य है, मूलाधार है। उस से अलग होकर हम सिवाय अहित के और कुछ नहीं हासिल कर सकते। हम सब धरती पुत्र हैं, धरती और धरतीपुत्रों का हित हम धरती से अलग होकर कैसे कर सकते हैं ? धरती से जुड़ कर ही हम धरती को स्वर्ग बना सकते हैं। इसी प्रकार समाज का हित भी हम समाज से जुड़े रह कर ही कर सकते हैं, अपने आपको समाज से पृथक कर के नहीं। और समाज का हित इसमें है कि हम जो भी कार्य करें, या जो भी उत्तरदायित्व लें, उसको पूरी ज़िम्मेदारी के साथ दक्षता से निभायें। अपने नियत कार्य को बोझ न समझें, वरन् उसे परमेश्वर द्वारा प्रदत्त महान् सौभाग्य के वर्धन का एक अवसर समझकर पूरी इमानदारी और कुशलता के साथ निष्पादित करें।

आगे मन्त्र में कहा गया **मा वियौष्ट** अलग मत होओ, न अपनी धरती से, न अपने समाज से और न अपने कार्यों से। पृथकतावादी नीति न अपनाओ। परस्पर विरोध न करो। यह पाँचवीं मर्यादा है। **'मा वि यौष्ट'**—एक दूसरे को रुष्ट मत करो। विलग मत होओ। चाहे घर हो, चाहे समाज, चाहे देश; परस्पर सौहाद्र एवं प्रेम बना रहना चाहिये। प्रेम है, तभी एकता होगी। प्रेम ही है जो बांध कर रखता है। प्रेम ही मानवता है। प्रेम ही देवत्व की पहचान है। रहीम जी ने क्या खूब कहा है—

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो चटकाय।
टूटे से फिर ना जुड़े, जुड़े तो गाँठ पड़ जाय॥

अथर्ववेद के इसी सूक्त के चौथे मन्त्र में आया है कि **'येनं दे॒वा न वि॒ यन्ति॒'** वेद का ज्ञान तो वह ज्ञान है, जिसको प्राप्त करके देवगण=विद्वान् लोग आपस में लड़ते नहीं, एक दूसरे का विरोध नहीं करते; और यदि किसी कारणवश द्वेष आ जाय तो **'नो च वि**

द्विषते मिथः' क्षण भर में उस द्वेष को दूर कर देते हैं; **तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृह संज्ञानं पुरुषेभ्य** समस्त लोगों को उत्तम ज्ञान प्राप्त कराने हेतु ब्रह्म अर्थात् वेद का उपदेश उन के घरों में जाकर करते हैं। समस्त मनुष्यों को यही उचित है, कि मन, वचन और कर्म से इन मर्यादाओं का पालन करें और ज्योति से ज्योति जलाते हुये प्रेम की गंगा घर और समाज में बहाते रहें।

छठी बात जो मन्त्र में कही, वह बेमिसाल है। **अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तः** एक दूसरे के प्रति भद्र भाषण करें, अर्थात मधुर वचन बोलें। मधुरता से ही मधुरता उपजती है, कटुता से तो कटुता ही बढ़ती है। मधुर भाषी ही एकता को सम्पादित कर पाते हैं। वाणी सत्य भी हो और प्रिय भी हो, तभी वह सरस्वती (स-रस-वती) होती है और अपना प्रभाव छोड़ती है। सन्त कबीर ने कहा है—

बोली तो अनमोल है, जो कोई जाने बोल।
हिय तराजू तोल के, तब मुख बाहरे खोल॥

और संत तुलसीदास ने तो यहाँ तक कह दिया—

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण यह मन्त्र है, परिहरु वचन कठोर॥

मीठा बोलोगे तब ही सम्मान मिलेगा, कडुवा बोलने से मान तो मिलने से रहा, हाँ, अपमानित होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

सातवीं मर्यादा है, **सध्रीचीनान्** समान पथगामी होना। हमें कहीं भी पहुँचना हो, तो तीन बातें जरूरी हैं—(१) मंजिल की जानकारी, (२) दिशा का ज्ञान और (३) गति। सब को साथ लेकर चलने की बात हो, तो यह आवश्यक हो जाता है, कि सब की मंजिल एक हो, दिशा सही हो और गति समान हो। यदि ऐसा नहीं है, तो या तो अलग-अलग हो जायेंगे, या भटक जायेंगें, या पिछड़ जायेंगे। तीनों ही दशाओं जो चीज ख़त्म हो जाती है, वह है एकता। अतः एकता के लिये जरूरी है **'सध्रीचीनान'** समान पथ पर, एक साथ सही दिशा में, क़दम से क़दम मिला कर, समान गति से चलना। यह जब सम्भव है, जब हमारे मन, चित्त और गति (अर्थात् चेष्टा) एक जैसी हो, हमारे मन्तव्य, हमारी वृत्तियाँ और हमारी

चेष्टायें न केवल सात्विक हों, परन्तु समान भी हों।

मनुष्यों-मनुष्यों में यह समानता ही एकता को परिपक्व करती है। पर यह समानता स्थापित करना किसी मनुष्य के बस की बात नहीं। इस के लिये हम मनुष्यों को आश्रय लेना पड़ेगा जीवन-दाता सृष्टिकर्ता परमेश्वर का, जो स्वयं एकता को समर्पित देवों और देवियों का आह्वान कर रहा है, इन वचनों से **(एतं, वः संमनस्कृणोमि)** 'एत'=आ+इत=आगे आओ, तुम लोगों को मैं समान मन वाले करता हूँ। मर्यादापालन, शालीनता, समझदारी, सहयोग, सौहाद्र और सुवाणी के साथ कार्य करते हुये हम परमेश्वर से प्रार्थना करें कि वह हमारे सब के अन्दर सांमनस्यता स्थापित करे। द्वेष से रहित हमारे मन सुमन हों। फूलों के समान हमारे सब के मन खिले रहें। हम सब शुभ संकल्पों वाले हों।

वेद का अन्तिम उद्देश्य समस्त मानवमात्र को एक आर्यत्व के सूत्र में पिरोना है। **'सं ज्ञानं ब्रह्म'** वेद का ज्ञान, ब्रह्म का ज्ञान, एकता का बोध कराने वाला ज्ञान है। यही हम सब मनुष्यों को उन्नति के उच्च शिखर तक ले जाने वाला है ऋग्वेद का समापन ही जिस सूक्त से होता है, वह संगठन सूक्त कहाता है। परमात्मा का तो वेद-ज्ञान के माध्यम से आदेश ही यही है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

—ऋग्वेद १०।१९२।२; अथर्ववेद ६।४१।१ (पाठ भेदसहित)

हे ऐश्वर्य के अभिलाषी मनुष्यो। सम्यक् शालीनता के साथ गमन, अर्थात् व्यवहार करो। सम्यक्, शालीनता के साथ परस्पर वार्तालाप करो। तुम्हारे अपने मन सम्यक् ज्ञानवान हों। जैसे तुम्हारे पूर्ववर्ती विद्वान, देव, महापुरुष अपने-अपने कर्त्तव्यों का यथावत पालन करते आये हैं, ऐसे ही तुम भी अपने कर्त्तव्यों/दायित्वों का पालन करो।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

—ऋग्वेद १०।१९२।३; अथर्ववेद ६।६४।२ (पाठ भेदसहित)

तुम सब का मनन एवं चिन्तन एक जैसा हो। चित्त सहित

तुम्हारे मन एक मति वाले हों। मैं तुम्हारी एकता को अभिमंत्रित करता हूँ, तथा समान ऐश्वर्य के लिये तुम्हें हविर्युक्त करता हूँ।

एकता में ही जीवन है; इसके विपरीत वैर-विरोध, घृणा-द्वेष आदि साक्षात मृत्यु है। **'मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्'**—(अथर्व ६।३२।३) परस्पर एक दूसरे का विरोध करना और विघ्न डालना मृत्यु को प्राप्त होना है। वेद की शिक्षा तो यह है—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥

—अथर्व० ६।७४।१

तुम लोगों के जीवन प्रेम से मिले हुये हो। मन और व्रत भी भली प्रकार मिले हुये हों। ब्रह्मणस्पति और ऐश्वर्यपति तुम लोगों को [एकता के सूत्र में] जोड़े रखे। वेद की इन उदात्त प्रेरणाओं के साथ आइये, हम सब मिल कर संकल्प करें—

हम मन-वचन-कर्म से समाज की उन्नति के कार्यों में संलग्न रहेंगे तथा राष्ट्र की एकता के लिये निष्ठापूर्वक समर्पण करेंगे।

हम जननी-जन्मभूमि की स्वाधीनता, अखण्डता, गरिमा और उदात्त सिद्धान्तों की रक्षा, अभिवृद्धि के लिए सर्वस्व न्योछावर करने में पीछे नहीं रहेंगे।

हम हर स्थिति में मर्यादापालन, शालीनता, समझदारी, सहयोग और सुवाणी के साथ कार्यरत रहेंगे और अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन पूरी कुशलता और तत्परता के साथ करते रहेंगे।

—:o:—

२५

स्वराज्य का अर्चन*

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते। इन्द्र नृम्णं
हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥

—ऋग्वेद १।८०।३

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग् वृहती।

पदपाठ—प्र। इहि। अभि। इहि। धृष्णुहि। न। ते। वज्रः। निः। यंसते। इन्द्र। नृम्णम्। हि। ते। शवः। हनः। वृत्रम्। जयाः। अपः। अर्चन्। अनु। स्वऽराज्यम्।

(इन्द्र) — हे इन्द्र!

(अर्चन् अनु स्वराज्यम्) — स्वराज्य का निरन्तर अर्चन करता हुआ,

(प्र इहि) — प्र+गति कर,

(अभि इहि) — सब ओर से बढ़ (विकास कर)

(धृष्णुहि) — सुदृढ़ता से उतक्रमण कर,

(ते वज्रः न निः यंसते) — तेरा वज्र [शत्रुओं से] रोका न जा सके।

(नृम्णं हि ते शवः) — [तेरा] धन ही तेरा बल है,

---

* आर्यजगत् १८ अगस्त, १९९६ वर्ष ६१, अंक ३३ में प्रकाशित।

(हनः वृत्रम्) — वृत्रों [असुरों, दुष्टों, दुष्ट वृत्तियों] का हनन कर

(जया अपः) — जलों/ प्रजाओं को जीत।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का अस्सीवाँ सूक्त एक प्रकार से 'स्वराज्य-अर्चन' का सूक्त कहा जा सकता है, क्योंकि इस षोडशर्च सूक्त के सभी मन्त्रों के अन्त में एक ही टेक है—**'अर्चन् अनु स्वराज्यम्'**। 'स्वराज्य', 'अनु', 'अर्चन' यह केवल तीन शब्द नहीं हैं; यह सूक्त के सारे मन्त्रों के प्राण है। इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र का 'आदि' भी यही है, 'अन्त' भी यही हैं।

इस सूक्त से यह स्पष्ट है, कि 'स्वराज्य' की भावना ईश्वर-प्रदत है, क्योंकि वेद उस प्रभु की ही वाणी है, जो सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य को ज्ञान के रूप में मिली हुई है। इस प्रकार "स्वराज्य" हमारा 'जन्म-सिद्ध अधिकार' ही नहीं, 'ईश्वर-प्रदत अधिकार' भी है। अन्य मतावलम्बियों की पवित्र पुस्तकों की तुलना में केवल "वेद" ही एकमात्र प्राचीनतम ऐसी पुस्तक है, जो कही भी "दासता" या "गुलामी" का पोषण नहीं करती, किसी भी प्राणी और किसी भी वर्ग, जाति, या देश को दासता की बेड़ियों में जकड़ने को नहीं कहती। अपनी 'देह' पर और अपनी 'भूमि' पर अपना राज्य (अर्थात स्वराज्य) हो, यही उदात्त भावना है, वेद और वैदिक संस्कृति की।

जिन व्यक्तियों या देशों को पराधीनता की त्रासदी से गुज़रना पड़ा हो, वे जानते हैं, कि स्वाधीनता का मूल्य क्या है। स्वातंत्र्य-संग्राम में कितना त्याग और बलिदान स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये करना पड़ता है, यह उस देश का इतिहास ही बता सकता है। भारत एक ऐसा देश है, जिसने अपने वैभव काल में भी किसी भी देश को अपना दास नहीं बनाया, किन्तु पराभव काल में इसको दासता की त्रासदी से ग़ुज़रना पड़ा। अब जब कि भारत अपनी स्वाधीनता के स्वर्ण-जयन्ती वर्ष में प्रवेश कर चुका है, इससे बढ़कर और क्या होगा, कि भारत स्वराज्य का अर्चन वेद की ऋचाओं से करे, और अपने उसी प्राचीन वैभव को प्राप्त हो, जो इसकी सांस्कृतिक धरोहर बन चुका है।

वेद के अनुसार पराधीनता की अवस्था में स्वराज्य का अर्चन

बल, ओज और पराक्रम से दासता की ज़ज़ीरों को जकड़ने वाले शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर मार भगा देने से होता है। वेद सशस्त्र क्रान्ति का विरोधी नहीं है। **'शविष्ठ वज्रिन ओजसा पृथिव्या निः शशा अहिं अर्चन अनु स्वराज्यम्'** (ऋग्० १।८०।१) शविष्ठ (क्रान्तिवीर) वज्रिन (शस्त्रास्त्र विद्या से सम्पन्न सेनानी) अपने पराक्रम से, सूर्य जैसे मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार सर्प के समान कुटिल दासता की ज़ज़ीरों में बाँधने वाले शत्रुओं को मार कर स्वराज्य के लिये अनुकूल अर्चन करे।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात, अथवा एक स्वतन्त्र राष्ट्र स्वराज्य का अर्चन-पूजन कैसे करे, इस पर प्रस्तुत मन्त्र अच्छा प्रकाश डालता है।

मन्त्र का देवता है 'इन्द्र'। वेद में इन्द्र शब्द बहुआयामी है। संक्षेप में, जगत में जगद्पति परमेश्वर 'इन्द्र' है। सौरमण्डल में सौरमण्डल का अधिपति सूर्य 'इन्द्र' है। भू-मण्डल पर भू-पति 'इन्द्र' है। राष्ट्र में राष्ट्रपति 'इन्द्र' है। संयुक्त राष्ट्र संघ में राष्ट्र संघ का अध्यक्ष 'इन्द्र' है। राज्य में राजा, राज्यप्रमुख या शासनाध्यक्ष 'इन्द्र' है। इस शरीर में इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा 'इन्द्र' है। चूँकि परमात्मा तो अपनी सत्ता से सर्वत्र व्यापक है, अतः उसके अपने राज्य का अर्चन करने का प्रश्न नहीं उठता। अतः मन्त्र में 'इन्द्र' से परमात्मा के अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्र में उसके अधिपति का ग्रहण किया जा सकता है।

उस 'इन्द्र' को सम्बोधन करते हुये मन्त्र-द्रष्टा ऋषि कहता है—**(इन्द्र! अर्चन् अनु स्वराज्यम्)** हे शक्ति-सम्पन्न, ऐश्वर्यशाली नायक! अपने राज्य का नित्य अनुकूल अर्चन कर। अपनी 'देह' पर और अपने 'देश' में अपना (स्वकीय) राज्य ही 'स्वराज्य' है। 'स्वराज्य' शब्द में दो बातें निहित है—एक 'आत्मवित्' होना, दूसरे 'अनुशासित' होना। 'आत्म-अनुशासन' और 'आत्म-ज्ञान' का महत्त्व समझने वाला शक्ति-सम्पन्न अधिकार-प्राप्त व्यक्ति 'स्वराज्य' का अर्चन कर सकता है। भ्रष्ट, चोर, लुटेरे, प्रपञ्ची, असंयमी, संदग्धि-चरित्र वाले प्रतिनिधि न तो 'स्वराज्य' का महत्व समझ सकते हैं, और न उसका निरन्तर अर्चन कर सकते हैं।

"अर्चन" शब्द में पूजन, वन्दन, वर्धन, समर्पण, सत्कार, यश, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, गौरव और बल की वृद्धि, सब कुछ आ जाता

है। "अनु" से तात्पर्य है निरन्तर अनुकूलता से। अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति, जन-प्रतिनिधियों और राष्ट्रनायकों का यह कर्त्तव्य बनता है, कि वे स्वकीय राज्य की गरिमा के अनुकूल, उसकी मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा में निरन्तर वृद्धि करें। कैसे होगी यह वृद्धि, इसके लिये मन्त्र में सात मर्यादाओं का पालन निर्देशित किया गया है। वेद के इन आदेशों का पालन होगा तभी स्वाधीनता 'योग-क्षेमकारी' बनेगी।

पहला आदेश है—**(प्र-इहि)** प्रकृष्ट रूप से गति, अर्थात् 'प्रगति' कर। सामाजिक इकाई के रूप में व्यक्तिगत जीवन में प्रगति और सामूहिक रूप से देश/राष्ट्र की प्रगति स्वराज्य अर्चन का प्रथम अंग है। प्रगति में क्रियाशीलता एवं गतिशीलता दोनों आ जाते हैं। प्रगति के तीन प्रमुख क्षेत्र हैं—**शारीरिक उन्नति** (इसमे निहित है सुस्वास्थ्य, स्वास्थ्य रक्षा, खेल-कूद, व्यायाम, योगाभ्यास, पौष्टिक आहार, स्वास्थ्यवर्धक रहन-सहन, सुन्दर आवास, सुन्दर पर्यावरण, प्रदूषण-नियन्त्रण, औषधि और चिकित्सा आदि)। दूसरी है, **आत्मिक उन्नति** (इसमें निहित है पठन-पाठन, शिक्षा, प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर का ज्ञान, यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म करने की) विधा, कला और शिल्प, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, सदाचार, मानवीय सम्बन्ध, धर्म और दर्शन, आत्म-विद्या, ब्रह्म विद्या आदि)। तीसरी है, **सामाजिक उन्नति**, जिसमें सब प्रकार की सामुदायिक सेवायें, समाज कल्याण के कार्यक्रम, न्याय व्यवस्था, नागरिक सुरक्षा, सामाजिक सुरक्षा, राष्ट्रीय सुरक्षा, उद्योग, उद्यमी, व्यापारिक सेवायें, यातायात, गमनागमन के साधनों की उचित व्यवस्था, आदि आ जाते हैं,। सामाजिक उन्नति अर्थात् सब समाज की उन्नति में राष्ट्र की इकाई व्यक्ति की उन्नति स्वतः आ जाती है। तीनों प्रकार की उन्नतियों की निरन्तर प्रगमन करते रहना ही प्रगति है।

दूसरा आदेश है—**(अभि इहि)** सब ओर से बढ़, अर्थात् **सर्वांगीण विकास** कर। समग्र विकास में कृषि, उद्योग और व्यापार का विकास, मूलभूत अवस्थापना सुविधाओं का विकास, आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सम्पत्ति का विकास आ जाते हैं। यह विकास सब दिशाओं और क्षेत्रों में होने चाहियें। अभिमुख लक्ष्य को लेकर सब ओर से आगे बढ़ना "अभि इहि" का अभिप्राय है।

तीसरा आदेश है—(**धृष्णुहि**) सुदृढ़ता से उतक्रमण कर। उन्नति और विकास के मार्ग में बाधाओं का आना स्वभाविक है। आत्म-विश्वास, साहस और शौर्य से समस्याओं से निबटना, बाधाओं और रुकावटों को दूर करना ही धृष्णुता है। आवश्यकता है इसके लिये दृढ़-संकल्पों की, स्थिर-बुद्धि की, शारीरिक और आत्मिक बल की, जो 'इन्द्र' को विचलित न होने दे। निर्भय होकर, अतुल साहस और उत्साह से लक्ष्य-पूर्ति में लग जाना, और विघ्न-बाधाओं को धड़ल्ले से परास्त कर देना ही "धृष्णुहि" का आशय है।

चौथी बात बड़ी ही महत्वपूर्ण है। (**ते वज्रः न निः यंसते**) तेरा वज्र काबू में न किया जा सके। सूर्य की किरणों को जैसे कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार से तेरे वज्र को कोई काबू में न कर सके। वज्र उन साधनों एवं आयुधों को कहते हैं, जिनसे शत्रुओं से युद्ध किया जाता है। आसुरी-वृत्ति के लोगों को अथवा शत्रु पड़ोसियों को श्रेष्ठों की उन्नति एवं प्रगति कदापि नहीं सुहाती। अपनी विफलताओं को छिपाने हेतु वे प्रगति के मार्ग पर अवरोधक बन कर खड़े हो जाते हैं। ऐसे शत्रुओं (जो अपने और पराये दोनों ही हो सकते हैं) के दमन के लिये हमारे शस्त्रास्त्र तथा सैन्य-शक्ति इतनी प्रबल और आक्रामक होनी चाहिये कि कोई उससे मुक़ाबला करने का साहस ही न कर सके, और यदि दुःसाहस कर बैठे, तो हमारे वज्र वज्रपात ही ढा दें। शत्रुओं के ठिकानों पर जहाँ-जहाँ हमारे वज्र गिरे, वहाँ वज्रपात हो जाय। **स्वराज्य के अर्चन और आत्म-रक्षा के लिये भीषण आयुध, शीघ्र दमनकारी शस्त्रास्त्र तथा विशाल सैन्य-बल परम आवश्यक हैं,** जिसके आगे शत्रु ठहर ही न सकें।

अन्दर और बाहर की अप्रतिम सुरक्षा के पश्चात अगली अत्यन्त महत्वपूर्ण बात जो मन्त्र में कही गई है, वह है—(**नृम्णं हि ते शवः**) धन ही तेरा बल है। आर्थिक रूप से सुसम्पन्न होना व्यक्ति और देश दोनों को आवश्यक है। आज जिन राष्ट्रों को हम 'विकसित' 'विकासशील' या 'अविकसित'/ निर्धन राष्ट्र कहते हैं, उसका मापदण्ड उन देशों की राष्ट्रीय सम्पदा और प्रति व्यक्ति वार्षिक राष्ट्रीय आय ही तो है, इसी को वेद में "नृम्णं" कहा गया है। कौन है, जो आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र जिनकी सकल वार्षिक आय सर्वाधिक हैं,

उनको आँख दिखाने का साहस भी कर सके। वेद का कथन तो सृष्टि के आदि काल से यही है, कि स्वराज्य के अर्चन के लिये धन ही सबसे बड़ा बल है। कदाचित इसीलिये आचार्य चाणक्य ने कहा—

सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलं अर्थः।
अर्थस्य मूलं राज्यम्। राज्य मूलं इन्द्रिय जयः॥

—चाणक्य प्रणीत सूत्र १-४

अर्थशास्त्र और राजधर्म की दृष्टि से आचार्य चाणक्य ने ठीक ही कहा है **'हितमप्यधनस्य वाक्यं न गृह्यते'** धन हीन व्यक्ति का हितकारक वाक्य भी ग्रहण नहीं कियी जाता। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भी आर्थिक रूप से पिछड़े हुये राष्ट्रों की बात नहीं सुनी जाती। निषेधन (वीटो) का अधिकार भी आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों के पास ही रहता है। **आर्थिक सुसम्पन्नता इस प्रकार जहाँ स्वराज्य का वर्धन करने में सहायक होती है, वहाँ वह व्यक्तियों और राष्ट्रों की प्रतिष्ठा को भी बढ़ाती है।**

धन के सम्बन्ध में दो बातें अवश्य ध्यान रखनी हैं। एक, भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार की सम्पदायें धन ही हैं। व्यक्ति और राष्ट्रों के लिये विद्या, स्वास्थ्य, चरित्र, ज्ञान-विज्ञान उतना ही बल प्रदान करते हैं, जितनी कि भौतिक सम्पदायें। दूसरी बात यह, कि धन के उपभोग के सम्बन्ध में वेद की जो शिक्षायें हैं, वे अपने स्थान पर यथावत हैं। धन का त्यागपूर्वक भोग हो, व्यक्ति और राष्ट्र धन का अपव्यय न करें, दान की भावना से अर्थसंचय किया जाय, इन बातों का आर्थिक सुसम्पन्नता से कोई विरोध नहीं है। मन्त्र का आशय केवल यह प्रतिपादित करना है कि व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों के लिये आर्थिक सुसम्पन्नता सबसे बड़ा बल है। (ECONOMIC PROSPERITY IS THE GREATEST SOURCE OF STRENGTH TO AN INDIVIDUAL OR A NATION.)

छठा आदेश है, **(हनः वृत्रम्)** वृत्रों, अर्थात् **असुरों, दुष्टों, दुष्ट मनोवृत्तियों का हनन** कर। उमड़-घुमड़ कर जो घेरा डालें, उन्हें कहते हैं 'वृत्र'। इस प्रकार मेघ (बादल) वृत्र हैं। मनुष्य के अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष से जनित वासनाएँ 'वृत्र' हैं। राष्ट्र में व्यभिचारी, हत्यारे, लोभी-भ्रष्टाचारी, अत्याचारी, अनाचारी और

अनेक प्रकार के आर्थिक एवं सामाजिक अपराधों में लिप्त, राष्ट्रघाती दुष्ट 'वृत्र' हैं, इन सबके अपने-अपने गिरोह होते हैं और अपराधों के लिये व्यूह-रचना करना तथा जघन्य अपराध करना/करवाना इनकी वृत्ति बन जाती हैं।

ऐसे दुष्ट चाल वाले लोगों के विषय में अथर्ववेद में कहा है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

—अथर्व० ८।४।२२

उल्लू, भेड़िये, कुत्ते, चिड़े, गरुण और गिद्ध की चाल वाले दुष्टों को मार दे। ऐसे राक्षसी भावनाओं और कुवृत्तियों वाले दुष्टों को पत्थर के समान कठोर साधनों से कुचल दे। यही आशय "हनः वृत्रम्" वृत्रों को हनन कर देने का है। यह वृत्र 'बाहर' के शत्रु नहीं है, जिनसे युद्ध लड़ा जा सके। यह सब 'अन्दर' के शत्रु हैं। स्वराज्य के अर्चन के लिये इनको अन्दर ही अन्दर हनन करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं।

अन्तिम बात। **(जया अपः)** अपः को जीत। जो प्रवाहित होता रहे, उसका नाम 'अपः' है। पृथिवी पर जल 'अपः' है। शरीर में रुधिर के साथ प्रवाहित होने वाले 'रेतःकण' 'अपः' हैं। राज्य में प्रजायें 'अपः' है। राष्ट्र में जो कार्य सतत चलते रहते हैं, वे 'अपः' हैं। **अपः को जीतने का अर्थ है, उनको नियमन और नियंत्रण में रखना।** स्वराज्य-वर्धन के लिये 'अपः' को जिस रूप में भी ग्रहण करें, विजय प्राप्त करनी है। जो देश व भू-खण्ड सागर से घिरे हैं, उस सागर पर अधिकार काफ़ी बड़ी सीमा तक उसी देश का होना चाहिये, जिनके तटों को सागर छूता है। इसी प्रकार राज्य का कर्त्तव्य है कि प्रजा पर अपना वर्चस्व रखे। प्रजा की सन्तुष्टि और सुरक्षा से राज्य के वर्चस्व में वृद्धि होती है। इसी प्रकार राज्य-कार्यों पर निगरानी रखना, अपव्यय को रोकना, राष्ट्रीय धन को राष्ट्र-हित में लगाना, विकास योजनाओं को समय से क्रियान्वित करना करवाना, यह सब कार्य 'अपः' को वश में रखने से सम्बन्धित हैं। प्रजा के नियमन और नियन्त्रण के लिये देखें महाभारत अन्तर्गत "विदुर नीति" का यह श्लोक—

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्, विज्ञातदोषेणु दधाति दण्डम्।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च, तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा॥

—विदुर नीति १।१०२

जो राज्य मनुष्यों (प्रजाओं) को विश्वास दिलाना जानता है, जो अपराध प्रमाणित हो जाने पर अपराधियों को दण्ड दे सकता है, जो अपराध के अनुसार दण्ड की मात्रा तथा क्षमा करना भी जानता है, उसको समग्र सुसम्पन्नता तथा 'श्री' (सुयश) की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वाधीनता दिवस के पुण्य-पर्व पर अपने स्वराज्य का अर्चन करे। स्मरण करे उन अगणित आत्म-त्यागी वीरपुङ्गव स्वतन्त्रता सेनापतियों/सेनानियों को जिन्होंने अपना सब कुछ स्वराज्य लाने के लिये अर्पित कर दिया। याद करें **महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती** को जिन्होंने उद्घोष किया था "**कोई कितना ही करे, जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।**" याद करें **महात्मा गांधी को**, जिन्होंने वेद की ही बात को यों कहा था "**स्वराज्य एक पवित्र शब्द है, जिसका अर्थ है आत्म-शासन और आत्म-संयम। मेरे सपनों के भारत में....स्वराज्य सबके लिये, सबके कल्याण के लिये होगा।**" गाँधी जी ने जो बात भारत के लिए कही, वही सिद्धान्तरूप में अन्य राष्ट्रों के लिए भी लागू होती है।

ऋग्वेद में स्वराज्य को 'व्यचिष्ट' और 'बहुपाय्य' कहा गया है। स्वराज्य किसी एक के लिये नहीं, राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिये हैं। स्वराज्य का अर्चन, पूजन और वर्धन सबने मिलकर करना है।

आ यद्वामीयचक्षसा मित्रे वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥

—ऋग्० ५।६६।६

विशाल दृष्टि वाले परस्पर मित्रता के सूत्र से आबद्ध भद्र पुरुषो! आइये हम सब मिलकर विशाल और बहुपाय्य स्वराज्य की रक्षा एवं प्रतिष्ठा हेतु पुरुषार्थ करें। स्व-राष्ट्र की उन्नति में ही हम सब की उन्नति है।

—:०:—

२६

आत्म ऐश्वर्य की साधना*

न्यू३ षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते॥

—ऋग्वेद १।५३।१

ऋषिः—सत्य आङ्गिरस। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती।
स्वरः—निषाद।

पदपाठ—नि। ऊ। सु। वाचम्। प्र। महे। भरामहे। गिरः। इन्द्राय। सदने। विवस्वतः। नु। चित्। हि। रत्नम्। ससताम्ऽइव। अविदत्। न। दुःऽस्तुतिः। द्रविणाःऽदेषु। शस्यते॥

(१) [पुरुषार्थी] (**इन्द्राय**) परम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (**नि**) निश्चय से (**सदने**) अपने सदन में (**प्र**) प्रकृष्टतया (**भरामहे**) भरपूर धारण करते हैं—

—(**उ सु वाचं**) उत्कृष्ट कल्याणी वाणी [वेदवाणी] को,

—(**महे गिर**) परमेश्वर के प्रति महान स्तुतियों को, तथा

—(**विवस्वत**) विद्या रूपी सूर्य के प्रकाश को।

(२) (**ससताम् इव**) सोते हुये लोगों के समान [आलसी

---

* आर्यजगत् २६ मई, १९९६ के वर्ष ६१, अंक २१ में प्रकाशित।

और प्रमादी] (**रत्नम्**) ऐश्वर्य रूपी धन से (**नु चित् हि**) शीघ्र ही निश्चय से (**अ विदित**) अज्ञात अर्थात् वंचित हो जाते हैं।

(३) (**द्रविणोदेषु**) एश्वर्य रूपी इस धन का दान देने वाले (**दुष्टुति**) दुष्ट-स्तुति अर्थात् निन्दा से (**न शस्यते**) नहीं शंसित होते।

संसार में मातायें लोरियाँ सुनाती हैं शिशुओं को सुलाने के लिये, पर वेदमाता लोरी सुनाती हैं, हमें जगाने के लिये। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तिरेपनवें सूक्त के इस प्रथम मन्त्र में वेद माँ का बड़ा ही सुन्दर सन्देश है, इसको समझ लेगें, तो कह उठेंगे '**नमो वेदमाते**'; वेदमाता तुझको नमस्कार है।

मन्त्र का देवता, अर्थात्, विषय है 'इन्द्र'। 'इन्द्र' अधिष्ठाता है, अधिपति है। सामर्थ्य और साधनों से युक्त ब्रह्माण्ड में 'इन्द्र' है, वह 'ब्रह्म', वह जगदीश्वर, जिसके लिये कहा गया है। '**तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**' —अथर्व १०।८।१; और इस पिण्ड में 'इन्द्र' है, इन्द्रियों का अधिपति 'आत्मा' जिससे ही इस पिण्ड का अस्तित्व है। जगत की कल्पना बिना 'जगतपति' के और जीवन की कल्पना बिना आत्मा के नहीं की जा सकती। 'सत' और 'चित' होते हुए भी उस 'इन्द्र' और इस 'इन्द्र' में महान अन्तर है। उस 'इन्द्र' के पास आनन्द है, और इस 'इन्द्र' को आनन्द की तलाश है। उस 'इन्द्र' के पास महान ऐश्वर्य है, और इस 'इन्द्र' को ऐश्वर्य प्राप्त करना होता है। उस 'इन्द्र' से वाणी प्रकट हुई है, और इस 'इन्द्र' को वाणी की साधना करनी पड़ती है। वह 'इन्द्र' अनन्त गुणों वाला है, और इस 'इन्द्र' को गुणों का आह्वान गुणों की स्तुति करके करना पड़ता है। वह 'इन्द्र' सारे प्रकाशित और प्रकाश्य लोकों का स्वामी तथा स्वयं प्रकाशमान है, और इस इन्द्र को अन्धकार को दूर कर प्रकाश को पकड़ना पड़ता है।

मन्त्र के दृष्टा 'सत्य-आङ्गिरस' ऋषि ने पूर्व-सूक्त में उस 'इन्द्र' का साक्षात्कार कर, इस सूक्त का आरम्भ इस विवेचन से किया है, कि इस 'इन्द्र' को ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये, जिससे यह 'इन्द्र' भी अपने इन्द्रत्व को सार्थक कर सके। इस प्रकार से यह

मन्त्र 'आत्म-ऐश्वर्य' का साधना की है।

संसार में प्राय: जब ऐश्वर्य की बात होती है, तो धन स्वत: जुड़ जाता है। बिना धन के ऐश्वर्य कहाँ? पर प्रश्न होता है, कौन-सा धन ?। सर्व-साधारण ही क्या, व्यास, भर्तृहरि और कौटिल्य तक ने ''अर्थ'' (रुपया, पैसा, मुद्रा, रत्न, आभूषण, ज़मीन, जायदाद) को ही धन माना है। कुछ नमूने देखें—

यस्यास्ति वित्तं स नर कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनायः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते॥

—भर्तृहरि नीति शतक ४०

जिसके पास धन है, वही कुलीन, पण्डित, बहुश्रुत, गुणज्ञ, सुवक्ता और दर्शनीय है। काँचन के आश्रय से ही सर्व-गुण-सम्पन्नता आ जाती है।

यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि, यस्याऽर्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्याऽर्थाः स पुमाँल्लोके, यस्याऽर्थाः स च जीवति॥

—चाणक्य नीति ७।१५

अर्थात् जिसके पास अर्थ (धन) है, उसके सब मित्र हैं, जिसके पास धन है, उसके सब बन्धु हैं। जिसके पास धन है, वही इस लोक में बड़ा है, जिसके पास धन है, वही ठाठ-बाठ से जीता है।

इसमें कोई शक नहीं, कि **दारिद्रयमन्तकं दुःखम**। दरिद्रता से बढकर कोई भी दुःख नहीं, और धन की उपादेयता के सम्बन्ध में भी नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थों में 'अर्थ' का अपना महत्व है। परन्तु वेद माता जिस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है, वह यह कि स्वर्ण, रत्न, आभूषण, ज़मीन, जायदाद से भी बड़ा धन है 'आत्म-ऐश्वर्य'। आत्म-ऐश्वर्य प्राप्त होता है 'आत्म-ज्ञान' से और आत्मज्ञान प्राप्त होता है स्वाध्याय से, सत्संग से, और स्व-चिन्तन से। स्वाध्याय, सत्संग और चिन्तन का आधार है 'विद्या'। विद्या वह धन है, जिसके बारे में स्वयं वेद ने कहा—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥

—ऋग्० ६।२८।३; अथर्व० ४।२१।३

विद्या का नाश नहीं होता, तस्कर दबा नहीं सकता, अमित्र (शत्रु) और व्यथित करने वाला दुष्ट इसका तिरस्कार नहीं कर सकता। इसके द्वारा देव (विद्वान) यज्ञ करते हैं और दान करते हैं। गोपति (इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा) निरन्तर उस (विद्या) के साथ ही संचित (पोषित) होते है। ज्यों-ज्यों यह विद्या-रूपी धन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आत्म-ऐश्वर्य में वृद्धि होती जाती है। यही एक ऐसा धन है, जो निर्विकार है, बाक़ी सारे भौतिक पदार्थ विकारों का (काम, क्रोध, लोभ, मद) आदि का सृजन ही करते हैं। **समस्त दैवी सम्पदायें** (भगवद् गीता १६।१-२-३) **विद्या अर्थात् ज्ञान से ही प्राप्त होती हैं।**

वेद में 'विद्या' का भी अपना एक विशिष्ट अर्थ और विशिष्ट महत्व है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

—यजुः० ४०।१४

जो विद्या और अविद्या इन दोनों के स्वरूप को जान लेता है, वह अविद्या से मृत्यु (अर्थात् दुःखों कोः लांघ जाता है, किन्तु विद्या से अमृत (मोक्ष, आनन्द) को प्राप्त हो जाता है। अविद्या और विद्या दोनों ही ज्ञान से भरपूर हैं। जेब काटने के लिये भी ज्ञान चाहिए, और जेब भरने के लिए भी। अतः विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर आधारित जो ज्ञान हमें केवल इन्द्रियों की इच्छापूर्ति करना सिखाता है, वह अविद्या है, और जो ज्ञान हमारी आत्मोन्नति में सहायक बनता है, वह है विद्या। एक प्रकार से 'ईश्वर', 'जीवात्मा' व 'प्रकृति' इनके गुण, स्वरूप कार्य, कारणों से सम्बद्ध ज्ञान है 'विद्या' और शेष जो कुछ भी ज्ञान विज्ञान 'विद्या के अतिरिक्त' है, वह है अविद्या। यहाँ जिस धन की बात हो रही है, वह है 'विद्या-रूपी धन'। विद्या से ही विद्या बढ़ती है; और अविद्या से अविद्या।

अब प्रश्न यह होता है कि यह 'विद्या' कहाँ से प्राप्त करें, कैसे प्राप्त करें। इस विद्या को प्राप्त करने के लिये निश्चय ही हमें परमेश्वर और उसकी कल्याणी वाणी वेद की शरण जाना पड़ेगा, क्योंकि "सब सत्य विद्या, और जो पदार्थ विद्या से जाने-जाते हैं, उन सबका

अदिमूल परमेश्वर है," तथा "वेद ही सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" इन अकाट्य नियमों को प्रतिपादित करती है यह ऋचा, जिसमें कहा गया है कि (**इन्द्राय**) ऐश्वर्य-प्रदाता इन्द्र की प्राप्ति के लिये (**नि**) निश्चय से (**सदने**) अपने सदन में (**प्र**) प्रकृष्टतया अर्थात् उत्तमता के साथ (**भरामहे**) भरपूर धारणा करो (**उ सु वाचं**) उत्कृष्ट कल्याणी वाणी वेदवाणी को, (**महे गिरः**) परमेश्वर के प्रति महान स्तुतियों को और (**विवस्वतः**) सूर्य के प्रकाश के समान उस अध्यात्म-ज्ञान अर्थात् परा विद्या को जिसको यदि आत्मसात कर लिया तो उस (**ज्योतिरूत्तमम्**—यजुः० ३।१४) परम ज्योति को प्राप्त कर लिया।

मन्त्र के इस भाग में कुछ शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक है (**सदने**) अर्थात सदन में। सामान्यतया 'सदन' घर को या उस स्थान को कहते हैं, जहाँ परिवार के लोग तथा इष्ट मित्र मिल कर रह सकें। लौकिक दृष्टि से मन्त्र के इस भाग से यह बात प्रतिपादित होती है कि हमारे घर खुले हुये हों, जिनमें भरपूर सूर्य का प्रकाश पहुँच सके। हमारे कमरे अंधेरे कमरे 'डार्क रुम्स्' न होकर पर्याप्त रोशनी तथा हवादार कमरे 'रूम्स विद एबन्डेन्ट नेचुरल ऐअर एण्ड लाइट' होने चाहिये। दूसरे, हमारे घरों में वेद प्रतिष्ठित होना चाहिये। और तीसरे, हमारे घरों में सत्संग होने चाहिये, जहाँ प्रभु-परमेश्वर का गुण गान, स्तुति, प्रार्थना-उपासना होती हो। ऐसे ही घर ऐश्वर्यों से दैवी सम्पदाओं से भरपूर होते हैं; जिनको तो कोई चुरा कर या छीन कर भी नहीं ले जा सकता।

आध्यात्मिक दृष्टि से हमारा सदन यह शरीर है। इस पंचकोषीय शरीर में ऐसी सुन्दर व्यवस्था है कि जितना चाहे हम स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान को ग्रहण करें, जितना चाहें हम चिन्तन और मनन करें, जितना चाहें शुभ और श्रेष्ठ कर्मों को सम्पादित करें। इसी सदन में हमारा 'अन्तर्मन', 'अन्तरात्मा' और 'अन्तर्यामी' विद्यमान हैं। सारे के सारे द्वारे खुले हुये हैं, जिससे स्वच्छ वायु और ज्ञान का अधिक से अधिक प्रकाश हमारे अन्दर पहुँच सके, और दूषित वायु एवं दूषित विचारों को हम दूर फेंक सके। आवश्यकता है कि अपने इस सदन को हम खाली न रखें। खाली घर तो शैतान (पाप) का घर

होता है। अपने इस सदन में हम भरपूर धारण करें (क) उत्कृष्ट कल्याणी वाणी वेद-वाणी को, (ख) परमेश्वर की स्तुतियों को ताकि दिव्य गुण हमारे अन्दर आ सकें, और, (ग) नित्य-नूतन सूर्य के समान ज्ञान के आलोक को, जिससे जीवन के चारों पुरुषार्थों को, यथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को, उस 'इन्द्र' की सहायता और कृपा से शीघ्र प्राप्त कर सकें।

(उ सु वाचं) उत्कृष्ट सुमधुर वाणी का एक और भी महत्व है।

लक्ष्मीर्वसति जिह्वाग्रे, जिह्वाग्रे मित्रबान्धवः।
जिह्वाग्रे बन्धनं प्राप्तं, जिह्वाग्रे मरणां ध्रुवम्॥

ऐश्वर्य एवं सम्पन्नता जिह्वा के अग्र भाग पर रहती है जिससे बोला जाता है। वाणी से ही मित्र और बन्धु बनते हैं, और वाणी ही बन्धन में डलवाती है, और मृत्यु का कारण बन जाती है। वाणी की मधुरता तथा उत्कृष्टता ही वाणी का तप है। इसी को योगिराज श्री कृष्णजी महाराज ने यूँ कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १७।१५

उद्विग्न न करने वाला, प्रिय और हितकारी सत्य भाषण तथा स्वाध्याय की प्रवृत्ति, यह वाणी का तप कहाता है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात है **(महे गिरः)** महान स्तुतियाँ। महान इन्द्र **(परमेश्वर)** की स्तुतियाँ भी महान होती हैं। इन्हीं स्तुतियों से मनुष्य देव बनता है। कहा भी है '**विद्वांसों हि देवः**' जो उस इन्द्र को जानता है, वही उसकी स्तुति कर पाता है, और वही विद्वान=जानकार व्यक्ति देव कहाता है। स्तुति करने से परमेश्वर में प्रीति होती है और उस प्रभु के गुण, कर्म, स्वभाव से अपने भी गुण, कर्म, स्वभाव सुधर कर वैसे ही होने लगते हैं। इसका फल होता है, 'आत्म-शक्ति' और 'आत्म-ऐश्वर्य' की निरन्तर वृद्धि।

तीसरा महत्वपूर्ण शब्द है **(विवस्वतः)** विवस्वत अर्थात् प्रकाशमान सूर्य के प्रकाश में। सूर्य का प्रकाश जब फैलता है, तो कोई स्थान उससे खाली नहीं रहता। अब यह हमारे ऊपर है, कि हम उसका प्रकाश कितना, कितनी मात्रा में ग्रहण करते हैं। इसी

प्रकार परमेश्वर का ज्ञान सर्वत्र सब ओर कण-कण में व्याप्त है; यह हमारे ऊपर है, कि हम उसके ज्ञान से अपने आप को कितना पूरित करते हैं। सूर्य ने अपने आप को उस प्रभु के प्रकाश से कितना पूरित कर रखा है, यह इसी से स्पष्ट है, कि सृष्टि के आरम्भ से वह प्रकाश दे रहा है परन्तु उसमें कोई न्यूनता या कमी नहीं। यह न्यूनता इसलिये नहीं है कि सूर्य में प्रकाश उसका अपना नहीं, परन्तु परमात्मा का है जो असीम है, अनन्त है। इस प्रकार अनन्त ज्ञान और समस्त सत्य-विद्याओं के आदिमूल एवं भण्डार, गुणों के सागर, परम-पिता परमात्मा से युक्त होकर हम अक्षय ऐश्वर्यों के स्वामी हो सकते हैं।

मन्त्र के दूसरे भाग में जो बात कही गई है वह और भी महत्वपूर्ण है। 'आत्म-ऐश्वर्य' की प्राप्ति साधना का विषय है, परन्तु आत्म-ऐश्वर्य को निरन्तर बनाये रखना यह 'परम साधना' है। कहा भी गया है, ऊचाँइयों को छू लेना प्रयत्न से आसान है, परन्तु ऊचाँइयों पर टिका रहना इतना आसान नहीं। इसके लिये सतत जागरूकता तथा परम साधना की आवश्यकता है। **(ससताम् इव)** सोते हुये या सुस्त लोगों के समान यह **(रत्नम्)** आत्म-एश्वर्य आलसी व प्रमादी व्यक्तियों से **(नु चित् हि)** शीघ्र ही निश्चय से **(अविदित)** अज्ञात हो जाता है, छिन जाता है। यह एक नियम है कि जिस वस्तु की हम बेक़द्री करेंगे, वही हमारा साथ छोड़ जायेगी। ज्ञान और विद्या भी उसी के पास रहती है, जो उसकी कद्र करता है, जो जागा हुआ है, जो प्रतिक्षण अपने ज्ञान और अपनी विद्या को सुकृत करने के लिये प्रयत्नशील है। जो सोया पड़ा है, जिसे होश ही नहीं, है, उसकी गुदड़ी भी उसके पास अधिक समय रहने वाली नहीं। अतः साधना का मार्ग आराम से सोने वालों के लिये नहीं, यह तो जागने वालों के लिये और जागे हुये लोगों के लिये हैं।

यो जा॒गार॒ तमृच॑ः कामयन्ते॒ यो जा॒गार॒ तमु॒ सामा॑नि यन्ति।
यो जा॒गार॒ तम॒यं सोम॑ आह॒ तवा॒हम॑स्मि स॒ख्ये न्यो॑काः॥

—ऋग्० ५।४४।१४; साम० १८२६

जो जागा हुआ है उसी की कामना ऋचायें करती है, जो जाग गया है, उसी को समतायें (अर्थात् समत्व योग) प्राप्त होती हैं। जागे हुये के प्रति वह प्रेममय प्रभु स्वयं यह कहता है, मैं तेरी सख्यता में

नियुक्त हूँ, तेरे साथ हूँ। वस्तुतः जो सोवत है, सो खोवत है, और जो जागत है, सो पावत है।

मन्त्र की अन्तिम बात, और वह यह, कि एश्वर्य का दान करने से प्रशस्ति ही मिलती है, निन्दा नहीं। भौतिक सम्पदाओं के सौदे किये जा सकते हैं, उनका क्रय-विक्रय हो सकता है, परन्तु आत्म-ऐश्वर्य, आत्म-ज्ञान व ब्रह्म-विद्या का नहीं। धन्य हैं वे देव, जो इनको प्राप्त कर फिर सुपात्रों को इनका दान करते हैं। कहा भी गया है—

सब दानों में श्रेष्ठ है, विद्या ही का दान।
इसी दान से होत है, देवों का निर्माण॥

देवों का तो धर्म ही दान है। ऐश्वर्य प्राप्त कर यदि उसको बाँटा नहीं, दान नहीं किया, तो क्या लाभ? सूर्य ने प्रकाश परमात्मा से प्राप्त किया, पर यदि उस प्रकाश को सूर्य संसार को नहीं देता, तो सूर्य का होना, या न होना, बराबर था। अतः विद्यादि ऐश्वर्य से सम्पन्न लोगों को श्रेष्ठ यही है, कि वे इनसे दूसरों को लाभान्वित करें। इसी लिये मन्त्र में कहा है, कि **(द्रविणोदेषु)** पुरुषार्थ से प्राप्त इस ऐश्वर्य-रूपी धन का दान देने वाले **(दुष्टुति न शस्यते)** दुष्टुति, अर्थात् निन्दा को नहीं प्राप्त होते; उनकी सर्वत्र प्रशंसा ही होती है। और यदि अज्ञानवश कोई दुष्ट-स्तुति अर्थात् निन्दा पर उतर ही आये तो यह दुष्टति उनको प्रभावित नहीं करती। वे अपने कर्त्तव्य-पथ पर अविचिलित बढ़े चले जाते हैं।

दानेन माप्यते स्वर्गो, दानेन सुखमश्नुते।
इहामुत च दानेन पूज्यो भवति विद्वांसः॥

दान से ही स्वर्ग (सुख) प्राप्त होता है, और दान से ही सुख का भोग किया जाता है। दान के कारण ही विद्वान इस लोक तथा उस लोक में पूज्य होते हैं।

प्रभु करें, कि हम सब ऐश्वर्यवान हों। जीवन में भूरपूर ऐश्वर्यों को प्राप्त करें, तथा इन ऐश्वर्यों को बनाये रखें। हमारे ऐश्वर्य नष्ट न हों, किन्तु दानादि द्वारा यही ऐश्वर्य लोक-परलोक में हमारे यश-कीर्ति की पताका फहरा कर हमें अमर करने वाले हों, यही इस मन्त्र का आशय है।

—:o:—

साधनाशील की यज्ञ-साधना*

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

ऋषिः—दीर्घतमा। देवताः—साध्याः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।
—ऋग्वेद १.१६४.५०

ऋषिः—नारायणः। देवताः—पुरुषः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।
—ऋग्वेद १०.९०.१६, यजुर्वेद ३१.१६

ऋषिः—अथर्वा। देवताः—आत्मा। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।
—अथर्ववेद ७.५.१

पदपाठ—यज्ञेन। यज्ञम्। अयजन्त। देवाः। तानि। धर्म्माणि। प्रथमानि। आसन्। ते। ह। नाकम्। महिमानः। सचन्त। यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः ॥

(यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः) — देव-जनों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया,

(तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) — [क्योंकि] वे [यज्ञ=श्रेष्ठतम कर्म] ही धारणात धर्मों का मूलतः अनादि रूप से मुख्य आधार थे।

---

* वेद-सविता मार्च १९९७ के अंक में प्रकाशित।

(ते ह नाकं महिमानाः सचन्त) — [ऐसे श्रेष्ठतम कर्मों से कर्त्ता] वे देव जन निश्चय से महिमामान होकर सर्वोच्च पद/परम आनन्द/मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं,

(यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः) — जहाँ उनके पूर्ववर्ती साधनाशील देवजन (प्रतिष्ठित) हैं।

साधनाशील सुविद्वानों का जीवन, यज्ञ-कार्यों में प्रवृत्त होने से यज्ञमय होता है और यज्ञमय जीवन वाले ज्ञानी जन ही उस परम-पुरुष परमेश्वर के आनन्दमय धाम को प्राप्त होते हैं। इसी तथ्य का साक्षात्कार करवाया है उपरोक्त मन्त्र में मन्त्र-द्रष्टा ऋषि दीर्घतमा, ऋषि नारायण और ऋषि अथर्वा ने। मन्त्र का देवता (विषय) ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में शब्दों से पृथक्-पृथक् भले ही दीखता हो, परन्तु 'साध्याः', 'पुरुषः', 'आत्मा' हैं एक ही तत्त्व। जिसके लिये साधना की जाती है, जिसके लिये पुरुषार्थ किया जाता है, जिसको पाने के लिये आत्म-साक्षात्कार करना जरुरी है, वह परम-पुरुष है एक ही; जिसके परमपद को प्राप्त कर **यत्र॑ देवाऽअमृत॑मानशानास्तृतीये॒ धाम॑न्नध्यैर॑यन्त** (यजुः० ३२।१०) देव-जन स्थूल-जगत तथा सूक्ष्म-आदिकरण-प्रकृति से भिन्न उस पर-ब्रह्म, परम-पुरुष परमेश्वर के अनन्तानन्दस्वरूप तृतीय-धाम में अमृत का सेवन करते हुये मोक्षानन्द में विचरण करते हैं।

मोक्षानन्द या मुमुक्षत्व की प्राप्ति वैदिक ऋषियों के अनुसार कोरी कल्पना नहीं है, किन्तु यथार्थ सत्य है, जिसके साक्षात्कार के उपरान्त ऋषियों ने अप्रतिम उद्‌घोष किया है **यत्र पूर्वे॑ साध्याः सन्ति॑ देवाः** कि पहले भी साधनाशील देव-जन इस आनन्दधाम को प्राप्त होकर परान्त-काले इसमें आनन्दपूर्वक बिराजते रहे हैं।

मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थों, यथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, में परम-पुरुषार्थ है, मोक्षानन्द की प्राप्ति। इस मोक्ष को, परम-आनन्द की स्थिति को कैसे प्राप्त किया जाये, यही मन्त्र का प्रतिपाद्य

विषय है, जिसमें ऋषियों की अनुभूति और साक्षात्कार अन्तर्निहित है। ज्ञान, कर्म और कर्म-विज्ञान का अद्‌भूत संगम इस मन्त्र में है, इसी कारण यह ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों में विद्यमान है। बहु-प्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' में इस मन्त्र की विद्यमानता साधनाशील, सुसाध्यायी, साधक-ज्ञानी-जनों के लिये यज्ञ और यज्ञानुष्ठानों द्वारा 'परम-पुरुष' अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

पहली बात जो मन्त्र में कही गई है, वह है (**यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः**) देव जनों ने (परम पुरुष की प्राप्ति और मोक्ष धाम में आनन्दपूर्वक विचरने के लिये) यज्ञ से यज्ञ का यजन किया और इस प्रकार हमारे लिये एक दिशा प्रशस्त की। मन्त्र के इस भाग का एक-एक शब्द मननीय है। परम-पुरुष की प्राप्ति के लिये जो पहली अनिवार्यता है, वह है हम मनुष्यों का 'देव' होना। देव-जन वे कहाते है, जो दिव्य-गुणों, दिव्य-विचारों और दिव्य-भावनाओं से युक्त हों। निरुक्तकार ने कहा **'देवोदानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा'** (निरुक्त ७.१५) दाता, दीप्त (प्रकाशक) और द्योतित (ज्योर्तिमय) का नाम 'देव' है। शतपथ में कहा **'विद्वांसो हि देवाः'** (शतपथ० ३.७.३.१०) विद्वान ही देव कहाते हैं। पर यज्ञ के लिये वेद विद्वानों की नहीं, सुविद्वानों की अपेक्षा रखता हैं। विद्वान की साधना स्वल्प और सीमित होती है, पर सुविद्वानों की साधना विश्वतोधारम् होती है। देखें वेद का यह मन्त्र—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्याꣳ रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारम् सुविद्वाꣳसो वितेनिरे॥

—यजुः० १७।६८; अथर्व० ४।१४।४

इतिहास साक्षी है कि सुविद्वानों ने बिना किसी की अपेक्षा करते हुये अपने ही स्वयं के पुरुषार्थ से द्यौ और पृथिवी पर आरोहण कर विश्वतोधारक यज्ञों को विस्तारा। उन्होंने साधनों की प्रतीक्षा नहीं की, स्वयं साधनामय सुसाध्यायी होकर साधनों का निर्माण किया और अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त की।

एक बात और। देव मात्र दिव्य, देदीप्यमान, दाता और होता ही नहीं होते; उनकी वेदानुसार कुछ और भी खूबियाँ होती हैं। देखें वेद का यह मन्त्र—

नकिर्देवा मिनीमसि न क्रिया योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे॥ —ऋ० १०.१३४.७

देवजन न तो [किसी की] हिंसा करते हैं, न ही [किसी को] बहकाते हैं। मनन द्वारा श्रुति-ज्ञान को आचरण में लाते हैं। पक्ष और विपक्ष दोनों को साथ लेकर यहाँ (जगत में) सर्वतः मिल-जुल कर कार्य (कर्त्तव्यों का पालन) करते हैं। '**न वै देवाः स्वपन्ति**' (शतपथ ३.२.२.२२) देव सोते नहीं हैं वरन् '**जाग्रति देवाः**' (शतपथ २.१.४.७) देव जागते हैं। सतर्क और जागरुक रह कर सुमहान कार्यों में लगे रहना ही जागना है।

ऐसे देवजन ही वस्तुतः पात्र और अधिकारी होते हैं, यज्ञ से यज्ञ का यजन करने के।

आइये अब 'यज्ञ' शब्द पर विचार करें। यज्ञ तो वेद और वैदिक संस्कृति का प्राण है। '**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**' (शतपथ १।७।१।५) यज्ञ नाम है 'श्रेष्ठतम कर्म' का। यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र के अनुसार भी '**श्रेष्ठतमाय कर्मण**' (यजुः० १।१) श्रेष्ठतम कर्मों का करना ही 'यज्ञ' कहाता है। अतः जो भी भद्र, शुभ श्रेष्ठ, स्वस्ति और शांति हित करणीय कर्म वा कर्त्तव्य किये जा रहे हैं, वे सब यज्ञ हैं। जहां यज्ञ हैं, वहीं धर्म हैं और जहां धर्म हैं, वहीं विजय है। इस प्रकार विजय और साफल्य का मूल यज्ञ ही है।

यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति 'यज्' धातु से की मानी है, जिसका अर्थ है 'देवपूजा संगतिकरण दानेषु'। देवपूजा में निहित है 'सत्कार तथा सम्मान' की भावना। संगतिकरण में निहित है 'स्तुति-प्रार्थना-उपासना' द्वारा लक्ष्य के प्रति संयुक्त रहना। और 'दान' में निहित है, पूरी तरह से लक्ष्य के प्रति समर्पण। जिस भी श्रेष्ठाचार में संसार के देवों के प्रति 'सत्कार' है, 'संगतिकरण' है, 'समर्पण' है, उसका नाम है 'यज्ञ'।

'यज्ञ' को परिभाषित करने में ऋषि स्वामी दयानन्द सरस्वती के अधोलिखित शब्द विशेषतया द्रष्टव्य हैं—

''धात्वर्थाद्यज्ञार्थस्त्रिधो भवति, विद्याज्ञानधर्मानुष्ठान वृद्धानां देवानां विदुषामैहिक पारमार्थिक सुख संपादनाय सत्करणं, सम्यक् पदार्थ गुणसंमेल विरोध ज्ञान संगत्या शिल्प विद्या प्रत्यक्षीकरणं,

नित्य विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभ विद्या सुख धर्मा दिगुणानां नित्यं दानकरणामिति।''

''धात्वर्थ के अभिप्राय से यज्ञ शब्द का अर्थ तीन प्रकार का होता है। अर्थात् **एक** जो इस लोक और परलोक के सुख के लिये विद्या, ज्ञान और धर्म के सेवन से वृद्ध अर्थात् बड़े-बड़े विद्वान हैं उनका सत्कार करना। **दूसरा** अच्छे प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से 'शिल्प-विद्या' का प्रत्यक्ष करना, और **तीसरा** नित्य विद्वानों का समागम अथवा विद्या, सुख, धर्म और सत्यादि शुभ गुणों का नित्य दान करना है।''

—यजुर्वेदभाष्य, प्रथम अध्याय के द्वितीय मन्त्र के संस्कृत और भाषा में पदार्थ से उद्धरित

ऋषिवर दयानन्द कहीं पर भी 'यज्ञ' को संकुचित रूप में नहीं ग्रहण करते। यदि युजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र पर ही, उनका पदार्थ और भावार्थ देखें, तो निम्नलिखित श्रेष्ठतम कर्म सब 'यज्ञ' की परिधि में आ जाते है—

(i) अन्न आदि उत्तम-उत्तम पदार्थों की विज्ञान द्वारा अधिकाधिक उत्पत्ति।

(ii) ऊर्जा/शक्ति/उत्तम रसों की पराक्रम द्वारा अधिकाधिक प्राप्ति।

(iii) सेवा करने योग्य धन और ज्ञान से भरे हुये श्रेष्ठतम कर्मों द्वारा सबकी उन्नति की प्राप्ति।

(iv) प्रजा की रक्षा तथा संतानों की सुशिक्षा।

(v) प्रबल विघ्न, रोग और चोरों का अभाव—ऐसा पुरुषार्थ।

(vi) पशु-धन (गौ, घोड़े, हाथी आदि) तथा लक्ष्मी और प्रजा की निरंतर रक्षा।

ऋषिवर दयानन्द के अनुसार मनुष्यों के यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) करने से 'पवित्रता का प्रकाश, पृथिवी का राज्य, वायु रूपी प्राण के तुल्य राजनीति, प्रताप, सब की रक्षा, इस लोक और परलोक में सुख की वृद्धि, परस्पर कोमलता से वर्तना और कुटिलता का त्याग, इत्यादि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं, इसलिये सब मनुष्यों को परोपकार तथा अपने सुख के लिये विद्या और पुरुषार्थ के साथ प्रीतिपूर्वक यज्ञ

(श्रेष्ठतम कर्मों) का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये।

कैसी विडम्बना है कि आज श्रेष्ठतम कर्मों के सम्पादन के बजाय मात्र अग्नि में आहुति डालना ही 'यज्ञ' समझ लिया गया है 'अग्निहोत्र' यज्ञ का प्रतीक है 'यज्ञ' का पर्याय नहीं। अग्निहोत्र का लक्ष्य है अन्दर और बाहर की शुद्धि, मन, बुद्धि, चित्त और आत्मा की पवित्रता और देवों के देव परम देव परमेश्वर के प्रति पूजन, अर्चन और नमन। जो भी आहुति है, वह मन्त्रों के देवता के लिये है, 'इदं न मम' मेरे लिये नहीं। अग्निहोत्र जीवन में परोपकार का पाठ पढ़ने और पढ़ाने की एक विधा है, जिसका जानना, मानना, करना और कराना शुभ है, पर 'यज्ञ' तो अग्निहोत्र से कई गुणा सुमहान श्रेष्ठतमं कर्म है। अग्निहोत्रपरक समस्त याग 'सकाम कर्म' हैं, जब कि 'यज्ञ' परहित और केवल परोपकार की भावना से किया गया महानतम् 'निष्काम कर्म' है। यजमान 'अग्निहोत्र' तो घृत, समिधा और हवि से सम्पन्न कर लेता है, पर श्रेष्ठतमं कर्म 'यज्ञ' में तो पूरे जीवन की आहूति निस्वार्थ भाव से निरन्तर देनी पड़ती है। देखें वेद का यह मन्त्र—

यत पुरुषेण हुविषा युज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादजीयो यद् विहव्येनेजिरे॥

—अथर्व० ७.५.४

देवजन जो पुरुष-रूप जीवन-हवि से यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्मों) को सम्पादित करते हैं, वे निश्चय ही उस से बढ़ कर अधिक ओजस्वी हैं, जिसे विविध प्रकार की हवि-सामग्री से किया जाता है। **'नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः। कविर्हि मधुहस्तयः'** (ऋ० ५.५.२) उन "यज्ञों" को तो वह ही सु-संचालित कर पाता है, जो अनुशासित नेतृत्व वाला, दम्भ-रहित (निश्छल, निष्पाप, निष्कपट), कवि (क्रान्तप्रज्ञ मनीषी) और मधुर (नेक) हाथों वाला (हो)।

देवों का देव परमपिता परमेश्वर स्वयं ही सब से बड़ा यज्ञपति है जिसका सृष्टियज्ञ निर्बाध रूप से सृष्टि के आरम्भ से चल रहा है। इसलिये परमेश्वर को भी यज्ञ-रूप कहा गया है। **'यज्ञो वै विष्णु'** यज्ञ विष्णु (सर्वव्यापक) है। **'यज्ञो वभूव स आ वभूव स प्रजज्ञे स उ वावृधे पुनः'** (अथर्व० ७.५.२) यज्ञ रूप प्रभु व्यापा हुआ है,

वह सब ओर से सर्वत्र व्याप रहा है। वह प्रकृष्ट रूप से सृष्टि को उत्पन्न करता है, वह ही बार-बार (प्रलयोपरान्त) इस को बनाता और बढ़ाता है। सृष्टि भी परमेश्वर का श्रेष्ठतम कर्म है, क्योंकि इसमें परमेश्वर का अपना कोई स्वार्थ नहीं, केवल लोकहित की कामना ही है। **'यज्ञार्थ विद्धि तत् सृष्टं लोकानां हित काम्यया'** (महाभारत, अनुशासन पर्व अ० १४५)

इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि देवगण यज्ञ से यज्ञ का यजन क्यों करते हैं। परमात्मा सबसे बड़ा यज्ञिक है। **'रोहितो यज्ञं व्यदधाद विश्वक्रमणे'** (अथर्व० १३.१.१४) सर्वोत्पादक परमेश्वर विश्व को रचने के लिये यज्ञ को विविध रूप से धारण करता है। याज्ञिक को याज्ञिक बन कर ही समझा जा सकता है। इसी लिये देवगण श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा ही उस यज्ञरूप सब के पूज्यनीय परमेश्वर का पूर्णाहुति से अर्थात् पूरी निष्ठा से यजन (पूजन, अर्चन, वन्दन) करते हैं। 'कार्य ही पूजा है' यही परम सत्य है। देव उस सत्य को समझते हैं, अतः वे श्रेष्ठतम कर्मों को श्रेष्ठता, दक्षता और कुशलता के साथ कार्यान्वित करके ही परमात्मा की पूजा करते हैं। परमेश्वर की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रसन्नता जरूरी है, और परमेश्वर प्रसन्न होता है, धूप, दीप और नैवेद्य से नहीं, केवल श्रेष्ठतमं कर्मों के सफलतापूर्वक सम्पादन से, जिसके लिये हमें बनना है 'देव', और करना है 'यज्ञ' (श्रेष्ठतम निष्काम कर्म) पूरी दक्षता से समर्पित होकर।

एक बात और। देवों ने क्यों यज्ञरूप परमेश्वर का यजन कीया यज्ञ के लिये। क्योंकि वे जानते थे कि श्रेष्ठतम कर्मों को करने के लिये जो कार्य-कुशलता, दक्षता तथा सामर्थ्य चाहिये, उसका देने वाला वह परमेश्वर ही है। श्रेष्ठतम कर्मों को करने के लिये अन्तःप्रेरित होना जरूरी है। अन्तः प्रेरणा केवल अन्तर्यामी परमात्मा ही देने वाला है। कार्य पूजा तभी बनता है, जब उसको ईश्वर-प्रदत्त कार्य समझने में सहायक होती है, जिसका देने वाला वह 'सविता' देव ही है और ग्रहण करने वाला है 'आत्मा'। यजुर्वेद का आरम्भ ही है, **देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे** (यजु:० १। १) प्रेरक देव श्रेष्ठतम कर्मों के लिये समर्पित करे। और आत्मा **यज्ञस्य पूर्व्यः** (ऋ० ९.२.१०; साम १०४५) आत्मा यज्ञ का अग्रज है। कार्य के

प्रति निष्ठा जभी आती है जब आत्मा उसको पहिले स्वीकार कर ले। अन्त:प्रेरित रहने के लिये **'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः, तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये'** (ऋ० १०।९०।७; यजुः० ३१।९) देवजन, साधक और ये जो ऋषि हैं उसी का यजन करते हैं, उसी को हृदयान्तरिक्ष आत्मा में अभिषिक्त करते हैं जो परम-पुरुष प्रादुर्भूत जगत से पहले विद्यमान सृष्टि-यज्ञ का कर्त्ता था, तथा है। अजर, अमर, नित्य और पवित्र परमेश्वर की प्रेरणा ही नित्य, पवित्र और शाश्वत हो सकती है; देहधारी, अल्पज्ञ मर्त्य की नहीं, चाहे वह कितना भी महान क्यों न हो।

दूसरी बात जो मन्त्र में कही **(तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्)** वे [यज्ञ=श्रेष्ठतम कर्म] ही धारणात् धर्मों के मूलरूप से अनादि आधार थे। अतः यज्ञ-कर्त्ता देव-जन यज्ञ के धर्मों को जीवन में प्रथम स्थान देते हैं। कर्त्तव्य समझ कर निष्ठापूर्वक निष्काम भाव से किये जाने वाले श्रेष्ठतम कर्म ही धारणा योग्य धर्म के अनादि काल से प्रथम आसन थे, हैं, और रहेंगे। धर्मों की प्रतिष्ठा और परख तो कर्मों से ही होती है अतः धर्म का प्रथम आसन कर्म ही है। धर्म भाषण या वाणी का विषय नहीं, यह तो आचरण का है। इसी लिये कहा, 'सत्यं वद, धर्मं चर'। कर्मों के द्वारा ही धर्म आचरण में आता है। इसीलिये, यद्यपि धर्म तो प्रत्येक का एक ही होता है, पर जब कर्मों के संदर्भ में धर्म का ग्रहण किया जाता है, तो उनकी संज्ञा हो जाती है 'धर्माणि'। जो भी 'यज्ञ' अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म हैं, वे सब 'धर्म' हैं। जो भी 'अयज्ञ' हैं, 'अक़र्म' हैं, 'विकर्म' हैं, वे सब 'अधर्म' हैं। **जहाँ 'धर्म' है, वहां सुख है, शान्ति है। जहाँ अधर्म है वहाँ घोटाले ही घोटाले, अशान्ति और हिंसा ही हिंसा है।** जब राज्य 'धर्म-सापेक्ष' होता है, वह सु-राज्य होता है। जब राज्य 'धर्म-निरपेक्ष' होता है, सर्वत्र अफ़रा-तफ़री और अशान्ति का माहौल होता है। देव-जन 'धर्म' और 'अधर्म' दोनों को समझते हैं, और तब धर्मों को अपने जीवन में सर्वोच्च अर्थात् प्रथम स्थान देते हैं। देव जीते है तो धर्म की रक्षा के लिये, और प्राण त्यागते हैं तो भी धर्म की रक्षा के लिये। देवों की एक ही साध होती है 'धर्म की रक्षा', जिसके दो पहलू होते हैं 'अधर्म का विनाश तथा धर्म का विस्तार'। देव जानते हैं **धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः** (मनुस्मृति ८.१५)

हनन किया हुआ धर्म हनन कर देता है, और रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है।

देव यह भी समझते हैं कि वे केवल अपने आप तक ही स्थित नहीं हैं। **'पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश'** (यजुः० २३.५२) पुरुष पांच में प्रविष्ट है, एक वह स्वयं, दूसरा परिवार, तीसरा समाज, चौथा राष्ट्र पांचवा विश्व। अतः धर्म के भी पांच स्वरूप है, एक है 'स्व-धर्म', दूसरा 'गृहस्थ-धर्म', तीसरा 'सामाजिक-धर्म', चौथा 'राष्ट्र-धर्म' और पाँचवा 'विश्व-धर्म'। प्रत्येक की अपनी मर्यादायें हैं। देव अपने जीवन में इन मर्यादाओं के पालन को प्रथम स्थान देते हैं। इन्हीं धर्मो के पालनार्थ ऋषियों और शास्त्रकारों ने यज्ञों का विधान किया हैं। पंच-महायज्ञ स्वधर्म का अंग हैं। षोडष संस्कार-यज्ञ गृहस्थ एवं पारिवारिक धर्म के निर्वहन के लिये हैं। पर्व-यज्ञ (त्योहारों पर किये जाने वाले बृहद्-यज्ञ) सामाजिक धर्म के निर्वहन के लिये हैं। इसी प्रकार राष्ट्र-धर्म के लिये 'राष्ट्रभृत होम' और राष्ट्र-यज्ञ का विधान है। विश्वधर्म के पालनार्थ भूमि-यज्ञ या पृथिवी-यज्ञ या विश्व-शान्ति यज्ञों की परम्परा है। 'स्वस्ति' और 'शान्ति' प्रत्येक यज्ञानुष्ठान के प्रमुख अंग हैं। देव इन यज्ञों के धारणात् धर्मों को जीवन में व्यवहृत करते हुये इस प्रकार के श्रेष्ठतम कर्म करते हैं, जिनसे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवता का सर्वांगीण 'अभ्युदय' और ' निःश्रेयस' की सिद्धि हो। धरती पर आज भी जहाँ पर 'मानव-धर्म' और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा देखने को मिलती है, तो इन्हीं देवों की बदौलत है, क्योंकि इन्होंने अपने जीवन में वेदानुसार अपने आचरण और व्यवहार से श्रेष्ठतम कर्मो अर्थात (धर्माणि) को प्रथम स्थान दिया है।

ऐसे वे देव **(ते ह नार्कं महिमानः सचन्त)** निश्चय से महिमामान् (अर्थात् महत्ता से युक्त) होकर सर्वोच्च पद/धाम को प्राप्त होते मोक्ष-सुख का सेवन करते हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि श्रेष्ठतम कर्मों का फल श्रेष्ठतम होना ही है। यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) के तीन धाम माने गये हैं—शोध, बोध और व्याप्ति। शुद्धता से बोध और बोध से व्याप्ति स्वयमेव हो जाती है। व्याप्ति में ही अलौकिक आनन्द है, मोक्ष की प्राप्ति है। नाकम् उस आनन्दमय स्थिति का नाम है जिसको लोक में 'स्वर्ग' और अध्यात्म में मोक्ष कहते हैं। 'स्व' कहते हैं आनन्द

को। 'ग' का अर्थ है गति, गमन वा लोक। जहाँ आनन्दपूर्वक गति/गमन करने की स्वतन्त्रता हो, वह आनन्द लोक है स्वर्ग। इसी प्रकार दुःखों से सर्वथा निवृत्ति तथा निष्पाप होकर परम आनन्द में विचरण करने का नाम 'मोक्ष' है। धर्मानुकूल आचरण और श्रेष्ठतम कर्मों के सम्पादन से, अर्थात् जीवन को यज्ञमय बनाने से मोक्ष सर्वथा निश्चित है। देखें वेद का मन्त्र जहाँ यज्ञ-कर्ता स्वयं कह उठता है—

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम्॥

—यजुः० १७।६७; अथर्व० ४।१४।३

पृथिवी से ऊपर उठ कर मैं अन्तरिक्ष पर चढ़ा, अन्तरिक्ष से द्यौ पर चढ़ा। स्वर्गिम द्यौ की पृष्ठ से मैं आनन्दस्वरूप ज्योति को प्राप्त हो गया।

यह प्राप्ति ठीक उसी प्रकार और उसी धाम में निश्चित है (**यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**) जहाँ पूर्ववर्ती साधनाशील देव प्रतिष्ठित हैं। यहाँ 'साध्याः' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साध्याः का अर्थ है साधनाओं को किये हुये साधनाशील। मुख्य बात यह कि केवल आचार-विचार की दिव्यता देवों को परम पद की प्राप्ति के लिये पर्याप्त नहीं, उनको साधनाशील कर्मठ निष्काम कर्मयोगी होना भी जरूरी है। जैसे परमेश्वर आप्तकाम, निस्पृहः निर्लेप होते हुये भी निष्काम भाव से निरन्तर सृष्टि-कर्मों में प्रवृत्त रहता है, उसी प्रकार देवों को भी निरन्तर श्रेष्ठतम कर्मों की साधना में साधनाशील रहना है। सारा जीवन जब साधनामय और यज्ञमय होता है, जैसा कि पूर्व के अर्थात् पहले के देवों का रहा है, तभी देव मुक्ति-सुख को प्राप्त होते हैं। जैसे हमारे साधनाशील पूर्वज देव मोक्षानन्द में प्रतिष्ठित हैं, उसी प्रकार हम भी साध्याः (साधनामय जीवन वाले) देव बन कर, यज्ञ-साधना से परम पद, अथवा परमेश्वर के आनन्दमय धाम को प्राप्त हों, और आनन्द का सेवन करें। साधनाशील की यज्ञ-साधना (अर्थात श्रेष्ठतम कर्मों के निष्पादन के लिये किया गया परिश्रम पुरुषार्थ और तप) शुद्ध बुद्ध और अमर बना कर मोक्ष प्राप्त कराता ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

—:०:—

२८

तृप्ति-याग*

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति। तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥ —ऋग्वेद १।१२५।५

ऋषिः—कक्षीवान्दैर्धतमस ऋषिः। देवता—दम्पती दान स्तुति। छन्दः—जगती।

पदपाठः—नाकस्य। पृष्ठे। अधि। तिष्ठति। श्रितः। यः। पृणाति। सः। ह। देवेषु। गच्छति। तस्मै। आपः। घृतम्। अर्षन्ति। सिन्धवः। तस्मै। इयम्। दक्षिणा। पिन्वते। सदा॥

(यः पृणाति) — जो पुष्ट तथा तृप्त करता है,

(सः ह) — वही निश्चय से—

(नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति) — नाक की पृष्ठ पर अधितिष्ठत होता है,

(श्रितः) — आश्रय बनाया जाता है,

(देवेषु गच्छति) — देवों में जाता है [दिव्यताओं में प्रवेश करता है]

(तस्मै) — उसके लिये—

(आपः) — प्रवाहित जल-धारायें [मानव-प्रजायें]

---

१ वेद सविता, अगस्त १९९६ के अंक मे प्रकाशित।

(सिन्धवः) — सागर [मानव-समूह]
(घृतम् अर्षन्ति) — घृत [स्नेह प्रेम] बरसाती हैं,
(तस्मै) — उसके लिये—
(इम् दक्षिणा) — यह दक्षिणा अर्थात् प्राप्त प्रशस्ति, प्रेरणा, प्रोत्साहन
(सदा) — हमेशा
(पिवन्ते) — प्रसन्नता (तृप्ति) प्रदान करती हैं।

आज सबको चाहिये तृप्ति, भरपूर तृप्ति। भोजन से तृप्ति नहीं हुई तो भोजन किस काम का। गृहस्थ में तृप्ति नहीं हुई तो गृहस्थ किस काम का। लेखन से तृप्ति नहीं हुई तो लेखन किस काम का। प्रवचन से तृप्ति नहीं हुई तो प्रवचन किस काम का। जीवन में तृप्ति नहीं, तो लगता है, 'जीवन कोरा काग़ज़, कोरा ही रह गया।' तृप्ति में ही सुख है, सन्तोष है, आनन्द है, स्थिरता है, स्थायित्व है। अतृप्त तो सदा भटकता ही रहता है और रहता है सदैव प्यासे का प्यासा, संतप्त और अशान्त।

तो तृप्ति कहाँ से मिले ? इस प्यारे ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२५ वें सूक्त का मन्त्र-दृष्टा ऋषि कहता है, कि यदि तृप्ति चाहते हो, तो अपने से दूसरों को तृप्त करो। जिस प्रकार 'सुख दीये सुख होत है, दुःख दीये दुःख होय, उसी प्रकार तृप्त किये ही तृप्ति प्राप्त होती है। तृप्ति में ही दोनों को तृप्ति होती है, देने वाले को भी और पाने वाले को भी। तृप्ति देने के लिये जो श्रम व तप किया जाता है, उसी का नाम है 'तृप्ति याग'।

कौन हो सकता है, इस 'तृप्ति-यज्ञ' का यजमान ? वह जो प्रेम करता है। कौन पति, पत्नी को तृप्त कर सकता है, वह जो पत्नी से प्रेम करता है। कौन पत्नी, पति को तृप्त कर सकती है, वह जो पति से प्रेम करती है। यदि प्रेम नहीं,तो तृप्ति नहीं। मन्त्र का देवता (विषय) इसी लिये दम्पति है। पारस्परिक प्रेम ही तृप्ति का आधार है।

इसी आधार को और विस्तृत करें, तो हम पायेंगे कि मानवता को वही तृप्त कर सकता है, जो मानवता से प्यार करता है। कौन अध्यापक विद्यार्थियों को तृप्त कर सकता है, जिसको अपने विद्यार्थीयों से प्रेम है। कौन शिष्य अपने गुरु को तृप्त कर सकता है, जिसे अपने

गुरु से प्रेम है। कौन मालिक अपने अधीनस्थ श्रमिकों/ कर्मचारियों को तृप्त कर सकता है, जो उनसे प्रेम करता है। इसी प्रकार वही कर्मचारी अपने मालिक को तृप्त कर सकते हैं, जो उससे प्रेम करते हैं।

जो प्रेम इस तृप्ति का आधार है, उसका मूल है, आस्था, श्रद्धा और विश्वास। यदि यह नहीं, तो प्रेम भी एक छलावा है, एक दिखावा, एक धोखा, जिसका परिणाम तृप्ति नहीं, वरन उसका उल्टा ही होता है। तृप्ति के लिये पृणाति अर्थात् आस्था, श्रद्धा और विश्वास को पुष्ट करना आवश्यक है। इस प्रकार (**यः पृणाति**) जो पारस्परिक आस्था, श्रद्धा और विश्वास को पुष्ट करता है, वह तृप्त होता भी है, और तृप्त करता भी है। पारस्परिक तृप्ति में ही परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का कल्याण है। यदि आपस में प्रेम नहीं बढ़ा, श्रद्धा, आस्था और विश्वास की धज्जियाँ उड़ गई, तो सिवाय वैमनस्य, घृणा, द्वेष, युद्ध और विनाश के अतिरिक्त और क्या मिलेगा। सेवा करो और तृप्त करो, न केवल हमारा उदघोष ही, वरन हमारा आचरण भी होना चाहिये। हम तृप्त करें इतना कि लोगों के दिल का सरूर और आँखों का नूर बन जाये।

गौधन, गजधन, वाजधन और रत्न–धन खान।
जब आवे, सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥

सन्तोष तो तृप्ति में ही है, अतः तृप्त करना ही श्रेष्ठतम कर्म, अर्थात् यज्ञ है।

मन्त्र आगे कहता है कि जो तृप्त करता है, (सः ह) वह निश्चय से तीन ऐश्वर्यों को प्राप्त होता है—

(क) (**नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति**) नाक की पीठ पर अधिष्ठित होता है,

(ख) (**श्रितः**) आधार बनाया जाता है,

(ग) (**देवेषु गच्छति**) देवों में जाता है।

'नाक' प्रतीक है सम्मान की, प्रतिष्ठा की। निःसन्देह जो दूसरों को तृप्त करता है, उसको उनसे सम्मान, आदर व प्रतिष्ठा मिलती है। वह परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में प्रतिष्ठित होता है। उसकी सुनी जाती है, वह सम्मान का पात्र हो जाता है। दूसरे, वह अन्यों का

आधार बन जाता है और अन्योन्याश्रित के आधार पर अन्य भी उसके आश्रय बन जाते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारी वसुधा उसका परिवार हो जाता है। यह स्वभाविक ही है, कि यदि आपने तृप्त करने में अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी है, तो दूसरे भी इतने कृतघ्न नहीं होंगे कि वह आपको आश्रय भी न दें। तीसरी, और सबसे बड़ी चीज जो प्राप्त होती है, वह यह कि तृप्त करने वाले की पहुँच, उसका उठना बैठना देवों में, विद्वानों में हो जाता है। देवों की संगत में वह स्वयं दिव्य हो जाता है और दिव्यताओं में प्रवेश कर जाता है। दिव्य गुणों की प्राप्ति से उसका समस्त आचरण धर्मानुकूल हो जाता है। धर्माचरण से जीवन में चारों पुरुषार्थों, यथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह है, तृप्ति-याग का विज्ञान।

वेद की इस ऋचा से यह बात स्पष्ट है कि हमारा जीवन हमारे लिये नहीं, वरन दूसरों के लिये है। जो स्वयं तो तृप्ति चाहते हैं, पर दूसरों को तृप्त करना नहीं जानते, वे महास्वार्थी और महापातकी हैं। मनुष्य को उचित है, कि वह अपनी सन्तुष्टि से ही सन्तुष्ट न रहे, किन्तु दूसरों की सन्तुष्टि को समझे, और उन्हें सन्तुष्ट करे।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न शादन्ति फलानि वृक्षा।
धराधरो वर्षति नात्महेतोः परोपकाराय सतां विभूतयः॥

नदियाँ स्वयं पानी नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते, मेघ स्वयं अपने लिये नहीं बरसता। सज्जनों का सब कुछ परोपकार के लिये होता। उर्दू के एक कवि ने क्या खूब कहा है—

यही है इबादत यही दीनों ईमाँ।
कि काम आये दुनियाँ में इन्साँ के इन्साँ॥

प्रश्न हो सकता है, कि तृप्त करना तो ठीक है, परन्तु तृप्ति-याग का प्रसाद क्या है? क्या मिलेगा इस याग को करने से। वेदमाता उसका भी उत्तर देती है—(**तस्मै आपः सिन्धवः घृतम् अर्षन्ति**) उसके लिये जल-धारायें और सागर घृत की वर्षा करते हैं। लोकोक्ति है—'**पानी नहीं घी बरसता है**'। पानी का क्या, गिरा और सूख गया; घृत तो वह चिकनई है, जो लग गई, तो लग गई। यह चिकनई, वह स्निग्धता है, वह स्नेह वह प्रेम है, जिसके तुल्य संसार की कोई वस्तु नहीं। प्रेम ही परमेश्वर है, प्रेम ही जीवन है, मानव-प्रजाओं का

आधार है। **'ढाई अक्षर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय'**। तृप्ति प्रदान करने वाले को मानव-प्रजाओं से और मानव-समूह से प्रचुर मात्रा में वह प्रेम मिलता है, जिसका कोई सानी नहीं, जो अमूल्य है। मनुष्य की आत्मा को जो तृप्ति मिलती है, उसका भी मूल कारण प्रेम ही है। प्रेम की महिमा अपरम्पार है, यह वह काव्य है, जिसमें रस ही रस है, नीरसता का नाम नहीं। कविवर राम नरेश त्रिपाठी के शब्दों में—

स्थिर, पवित्र, आनन्द-प्रवाहित, सदा शान्त, सुखकर है।
अहा। प्रेम का राज्य परम सुन्दर, अतिशय सुन्दर है॥

जिसको यह राज्य मिल जाये, उसका तो कहना ही क्या। मन्त्र यह कहता है कि जो तृप्त करते हैं, मानव-समाज को पुष्ट करते हैं, उन्हें यह आनन्द प्रवाहित करने वाला प्रेम का राज्य अवश्य प्राप्त होता है।

तृप्त किये तृप्ति मिले, जिसमें प्रेमानन्द।
तृप्ति से ही पाइये, पूर्ण परमानन्द॥

आख़िरी बात—

(तस्मै इयं दक्षिणा पिन्वते सदा) उसके लिये यह दक्षिणा सदा प्रसन्नता (अक्षय-सुख, समृद्धि) प्रदान करती है। यहाँ 'दक्षिणा' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि अगले ही मन्त्र में कहा गया है कि दक्षिणावताम् और दक्षिणावन्तः आकाश में सूर्य के समान तेजस्वी होकर सांसारिक सुख, उत्तम वायु और मोक्ष को प्राप्त होते हैं। दक्षिणावताम् और दक्षिणावन्तः वही है, जिसको जीवन में दक्षिणा प्राप्त हुई है। दक्षिणा कैसे प्राप्त होती है, और दक्षिणा से क्या प्राप्त होता है, इसके लिये यजुर्वेद का यह मन्त्र बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

—यजुः० १९।३०

व्रत के द्वारा व्रती प्राप्त होता है दीक्षा (दक्षता) को। दीक्षा से प्राप्त होता है दक्षिणा को। दक्षिणा से श्रद्धा प्राप्त होती है, और श्रद्धा प्राप्त कराती है, परम सत्य को। तो इससे यह तो स्पष्ट हुआ कि किसी भी संकल्पित कार्य को दक्षता एवं कुशलतापूर्वक करने से

दक्षिणा प्राप्त होती है। दक्षिणा कोई मज़दूरी या परिश्रमिक नहीं है, यह तो वह प्रशस्ति है, प्रशंसा, प्रेरणा व प्रोत्साहन या यूँ कहिये, कि शाबाशी है, जो प्राप्त होती है। यही शाबाशी और प्रेरणा व्रती के अन्दर उत्साह का वर्धन करती है, जिससे व्रती उस कार्य में श्रद्धापूर्वक समर्पित हो जाता है। इस बद्धता और समर्पण से व्रती को उस चरम-लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है, जिसे सत्य कहते हैं। सत्य ही ईश्वर है।

प्यासी मानवता को तृप्त करें हम सेवा से, स्नेह से, सुविचारों से, संगतिकरण से और दान से, और प्राप्त करें असीमित ऐश्वर्य तथा परमानन्द, यही इस मन्त्र का आशय है।

—:o:—

२१

पाशों से मुक्ति*

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

—ऋ० १।२४।१५; यजुः० १२।१२, साम० ५८९,
अथर्व० ७।८३।३, १८।४।६९

ऋषिः—शुन.शेपः। देवताः—वरुणः। छन्दः—विराडार्षी त्रिष्टुप्।
स्वरः—धैवत।

पदपाठ—उत्। उत्तमम्। वरुण। पाशम्। अस्मत्। अव। अधमम्। वि। मध्यमम्। श्रथाय। अथ। वयम्। आदित्य। व्रते। तव। अनागसः। अदितये। स्याम॥

(वरुण) — हे वरणीय सर्वश्रेष्ठ जगदीश्वर!
(अस्मत्) — हमसे
(उत्तमम् पाशम् उत् श्रथाय) — उत्तम पाशों को ऊपर से शिथिल कर दे।
अधमम् [पाशम्] — अधम पाशों को
अव [श्रथाय] — नीचे से शिथिल कर दे।
मध्यमम् [पाशम्] — मध्यम पाशों को

---

* आर्यजगत् के ५ जनवरी, १९९७, वर्ष ६२ अंक १ में "जीवन से नहीं, पाशों से मुक्ति" शीर्षक से प्रकाशित।

वि [श्रथाय]	— विशेषकर शिथिल कर दे।
अथ	— तत्पश्चात्
आदित्य	— हे अविनाशी, अखण्ड, सूर्य के समान प्रकाशमान् परमात्मन्!
वयं तव व्रते अनागसः	— हम सब तेरे व्रतों अनुशासन में रहते हुये निष्पाप होकर
अदितये	— अदिति (अखंड/अक्षय आनन्द की प्राप्ति) के लिए
स्याम	— नियत होवें।

इस पवित्र वेदमन्त्र की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि चारों वेदों में यह मन्त्र आया हुआ है। अथर्ववेद में थोड़े-से पाठ भेद ('अथा' के स्थान पर 'अधा') के साथ यह दो बार आया है, जहाँ एक स्थान पर इसका ऋषि 'अथर्वा' है। बृहद् यज्ञ में आज्याहुति मन्त्रों में इसका विनियोग किया गया है, इस से इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है। मन्त्र से स्वाहाकार करते हुये यजमान कहता है—"**इदं वरुणाय, आदित्याय, अदितये च, इदं न मम**", अर्थात् यह आहुति वरुण, आदित्य और अदिति के लिये है, यह मेरे लिये नहीं। वस्तुतः 'वरुण', 'आदित्य' और 'अदिति' यह तीन शब्द इस मन्त्र की आत्मा हैं, इन तीन को हम सब हृदयङ्गम कर तदनुकूल आचरण करें तो सत्य मानिये, यह लाभ निश्चित हैं—

१. पाशों से मुक्ति।
२. निष्पाप जीवन।
३. पृथिवी पर स्वर्ग।
४. अखण्ड सुख, अर्थात् मोक्षानन्द की प्राप्ति।

मन्त्र का ऋषि '**शुनः शेपः**' इस तथ्य का द्योतक है कि वह अखण्ड सुख को चाहने वाला तथा निर्माण करने वाला है। निर्माण में दो चीजें आ जाती हैं—एक प्रारूप तैयार करना और दूसरा प्रारूप के अनुरूप उसको आकार देना या बनाना। पृथिवी को स्वर्ग बनाने के लिये वा मोक्षानन्द की प्राप्ति के लिए क्या कार्य-योजना हो और किस प्रकार लक्ष्य को प्राप्त किया जाय, इसका साक्षात्कार मन्त्र-दृष्टा ऋषि ने विज्ञानवत्, अमृत प्राप्त कराने वाली विद्या के संस्पर्श से

किया है, अतः उसका नाम शुनःशेपः (Shaper of Bliss) है।

मन्त्र का देवता (विषय) है **'वरुण'**। जैसे लोहे के काम में लुहार की अहम भूमिका है, उसी प्रकार अखण्ड सुख की प्राप्ति का मार्ग-प्रशस्त करने के लिये 'वरुण' की भूमिका है। अतः मन्त्र का आरम्भ ही 'वरुण' के आह्वान से है।

वरुण कौन है? **वरुणो वृणोतीति सतः।** (निरु० १०।३) सब को आवृत्त करने के कारण जो सर्वोपरि है, वह वरुण है। **वरुणो वाऽ एतं गृहणाति यः पाप्मना गृहीतो भवति। वरुणो नैवेनं वरुण्यान्मुञ्चत्यन्त्यो भवत्यन्तत एवैनं वरुण पाशात्प्रमुञ्चति।** (शतपथ० १२।७।२।१७) जो पाप-मना होता है, उसको वरुण घेर लेता है। फिर वरुण की शक्ति से वरुण उसको छुड़ाता है। इस प्रकार सदा के लिये वरुण पाश से छुड़ाता है। **वरुणः मुमोक्तु** (ऋग्० १।२४।१२) वरुण (पाप और क्लेशों से) छुड़ावे। **अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्** (ऋग्० १.२४.१३) अदब्धः, विद्वान्, व्यवस्थापक वरुण इस पाशों से बन्धे हुए को पाशों को पृथक्-पृथक् कर विमुक्त करे। **'वरुणेह बोध्युरुशंस'** (ऋग्० १.२४.११) अति प्रशंसनीय स्तुत्य सर्वश्रेष्ठ वरुण यहाँ (इस संसार में) बोधयुक्त करे।

उपरोक्त वचनों से सिद्ध होता है कि वरुण सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि है। **वरुणो नाम वरः श्रेष्ठ** : सब से श्रेष्ठ होने के कारण परमेश्वर का नाम वरुण है। **यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभि धर्मात्मभिर्वियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः**; जो आत्मयोगी, विद्वान मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकार करता, अथवा जो शिष्ट, मुमुक्ष, मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह ईश्वर 'वरुण' संज्ञक है। प्रकाशमान्, कभी न दबाया जा सकने वाला, अविनाशी और नियामक है। इसी नाते वह **वरणीय** है। दुःखों का निवारण और सुखों का वरण कराने वाला है। पापियों को घेर कर नष्ट करने का उसमें महान् सामर्थ्य है। परन्तु जो पाशों से जकड़ा हुआ उसका भक्त उस वरुणदेव का आह्वान करता है, उसके पाशों को वह पृथक्-पृथक् कर उसको विमुक्त कर देता है। अतः पाशों से विमुक्ति के लिये हम आह्वान करते हैं, वरणीय वर-श्रेष्ठ वरुणेश्वर का।

अब हम यह जानें, कि '**पाश**' क्या है, जिनसे विमुक्ति के लिये **हमें वरुणदेव** की जरुरत है। पाश वे शिकंजे, फन्दे व जाल हैं, जिन **में हम** फँस या बुरी तरह इस प्रकार उलझ गये हैं, कि हम स्वयं उनको सुलझा नहीं पाते। पाश वे रस्सियाँ हैं जिनसे हम बुरी तरह से उलझकर फँस गये हैं और जितना ही हम छटपटाते हैं, उतना ही पाशों का कसाव सख़्त होता जाता है। इस प्रकार देखा जाय, तो हर पाश एक बन्धन है, जी का जंजाल है। पर यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हर बन्धन पाश नहीं होता। जो बन्धन हम परमात्मा व परमात्मा की कल्याणी वाणी वेद की व्यवस्था के अनुरूप व्यक्तिगत, परिवारिक, सामाजिक, देश और विश्व के हित के लिये व्रत-स्वरूप धारण करते हैं,वे बन्धन पाश नहीं होते। इस प्रकार ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, सब के अपने-अपने व्रत हैं, जिनके अनुशासन से वे बन्धे हुये हैं। इसी प्रकार राजा और प्रजा तथा समाज का प्रत्येक वर्ग, यथा ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र (आज की भाषा में बुद्धिजीवी वर्ग, रक्षक, वर्ग, व्यापारी वर्ग तथा सेवावृती) सब की अपनी-अपनी मर्यादायें, हैं, जिनसे वे बन्धे हुये हैं। यह मर्यादायें, यह व्रतानुशासन के नियम बन्धन तो हैं, पर पाश नहीं। पाश वे ही बन्धन हैं, जिनका लक्षण दुःख है। '**बाधनालक्षणं दुःखम्**' (न्याय दर्शन १.२१) दुःख का लक्षण प्रतिकूल स्थिति है, अर्थात् इच्छा न हो, फिर भी भोगना पड़े। यह प्रतिकूल स्थिति ही बन्धन है, जिसका नाम पाश है और जिस का परिणाम दुःख है। यह दुःख भी तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। इन त्रिविध दुःखों से निवृत्ति सांख्य दर्शन की दृष्टि से 'अत्यन्त पुरुषार्थ' और न्याय दर्शन की दृष्टि से अपवर्ग (मोक्ष) है। बन्धा हुआ, फाँसों से जकड़ा हुआ व्यक्ति सिवाय पुकारने के और छटपटाने के और कोई पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता, जब तक कोई सशक्त सत्ता उसके पाशों को शिथिल करके उसको विमुक्त न करे। विमुक्त करने वाला है नित्यमुक्त वरुण देव परमेश्वर।

मन्त्र के अनुसार यह **पाश** तीन प्रकार के हैं—**उत्तम, मध्यम और अधम**। हम सब जानते हैं कि शरीर और जीवात्मा की **संयुक्तावस्था** का नाम जीवन है। आत्मा एक स्वतन्त्र, चेतन, नित्य, किन्तु अल्पज्ञ सत्ता है। शरीर, जो प्रकृति के पञ्चभौतिक तत्त्वों से

बना है, इसको सामर्थ्य प्रदान करता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अर्थात् सत्व, रज व तम से युक्त। अतः शरीर में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियों का होना स्वभाविक है। यदि तामसिक और आसुरी वृत्तियों का निरोध योगानुशासन द्वारा न किया जाये, तो अविवेक उत्तम, मध्यम और अधम पाशों का कारण बन जाता है। **प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः** (सांख्यदर्शन ६।१६) प्रकारान्तर से अविवेक ही बन्धन का कारण बनता है।

मानव शरीर में उत्तम भाग शिर है, जिसमें समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, मस्तिष्क तथा बुद्धि एवं मति स्थान आ जाते हैं। शिर से ही हरेक मनुष्य की पृथक् पहचान बनती है। नाभि से लेकर ग्रीवा तक शरीर का मध्य भाग है, जिसे धड़ कहते हैं। इसी भाग में उदर, हृदय, प्राण, मन, चित्त विद्यमान् हैं। बाहु और हाथ भी धड़ का ही भाग हैं। नाभि से नीचे, शरीर का नीचे का भाग है, जिसमें उपस्थ (जननेद्रियाँ, मल, मूत्र के स्थान) तथा पैर आदि आ जाते हैं। अविवेक के कारण जब मस्तिष्क भ्रम, भ्रान्ति, संकीर्णता, कुमति और बुद्धि-भ्रष्ट का शिकार हो जाता है, तो इनको ऊपर के उत्तम-पाशों की संज्ञा दी जाती है। इनकी उत्तमता यही है कि बुद्धि के भ्रष्ट होने से सब-कुछ नष्ट हो जाता है। ऊपर के (उत्तम) पाशों के पश्चात् मन्त्र में नीचे के (अधम) पाशों का उल्लेख हुआ है। कामुकता, कामवासना, यौन-शोषण, यौनोत्तेजक-पशुता, भोग-लालसा और भोग ही अधम पाश हैं, जो अन्ततोगत्वा मानव और मानव समाज के पतन के कारण बनते हैं। अविवेकपूर्ण यौन-सम्प्रयोग का परिणाम है, चरित्रिक-पतन, अल्प-वयस्क बालक-बालिकाओं का शोषण, वैश्यावृत्ति और ऐडस् जैसे अनेकानेक यौन-रोग। नीचतापूर्ण कार्यों को अधम-पाशों की संज्ञा देना युक्ति-युक्त ही है। संसार में जितने भी अपराध हो रहे हैं वा होते हैं, उनमें से अस्सी प्रतिशत अपराध के मूल में हैं यह तथाकथित उत्तम और अधम पाश। शेष बीस प्रतिशत अपराधों के मूल में हैं मध्यम पाश, जिनका सम्बन्ध 'मन' व 'चित्त' से है जो शरीर के मध्य भाग में प्रतिष्ठित हैं। भय, विवशता, व्यसन, विपरीत-धारणा, कुचिन्तन और कुभावनायें, ईर्ष्या, द्वेष, मनोविकार ही मध्यम पाश हैं। यह मध्यम इसलिये कहाते हैं कि उत्तम और अधम पाशों के मेल से इन मध्यम पाशों का उदय होता है। श्रीमद्भगवदगीता में

इन तीनों पाशों की परिणामी अवस्था इस प्रकार व्यक्त की गई है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धि नाशो, बुद्धि नाशात् प्रणश्यति॥

—गीता २।६२-६३

विषयों के संग से अथवा विषयों के भोग से तृप्ति न होकर विषयों की इच्छा और अधिक बढ़ती है। विषयों के भोगने से भोग बढ़ते चले जाते हैं। भोगों की वृद्धि और भोगेच्छा के प्रबलतर होने से मानसिक अव्यवस्था अथवा तनाव हो जाते हैं। स्वभाव में चिड़चिड़ापन, चित्त में खिन्नता, क्रोध आदि इसके लक्षण हैं। इस मानसिक विक्षोभ से होता है '**संमोह**' अर्थात् चित्त-विभ्रम। चित्त-विभ्रम से स्मृति-विभ्रम, स्मृति-विभ्रम से बुद्धि-नाश और बुद्धि नाश से पूर्ण विनाश। इस प्रकार "**भोग**" अधम-पाश, "**संमोह**" मध्यम-पाश और "**बुद्धि-भ्रम**" अर्थात् **भ्रमित-बुद्धि** उत्तम-पाश हैं। हथकड़ी और बेड़ी चाहे लोहे की हो, चाहे पीतल की और चाहे सोने की, रहेगी हथकड़ी और बेड़ी ही।

यदि पाशों से ग्रस्त और बंधे हुये होते भी होश नहीं आया, तो निस्सन्देह वरुण देव अंत में होश ठिकाने लगा ही देंगे। वरुण देव की दृष्टि से कोई अपराधी-पापी बच नहीं सकता। परन्तु यदि समय रहते पश्चाताप और प्रायश्चित की भावना से पाशों से विमुक्त होने के लिए वरुण देव को पुकारा जाये, तो वरुण देव ऊपर के पाशों को ऊपर ही, नीचे के पाशों को नीचे से ही, और मध्य के पाशों को मध्य से शिथिल (ढ़ीला) कर देते हैं। इस प्रकार पापी वा अपराधी को न्यायकारी वरणीय परमेश्वर दोषमुक्त तो नहीं करता, किन्तु सच्चे हृदय से पुकारने वाले की लाज ज़रुर रख लेता हैं। यही उस परमेश्वर की दयालुता है। मन्त्र में उत्तम पाशों के साथ '**उत्**' उपसर्ग, अधम पाशों के साथ '**अव**' उपसर्ग, और मध्यम पाशों के साथ '**वि**' उपसर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। पाशों से जकड़ा भक्त प्रभु से याचना कर रहा है कि हे प्रभो! **उत्तमम् पाशम् उत श्रथाय** ऊपर के पाशों को ऊपर से ढीला कर दो। **अधमम् (पाशम्) अव (श्रथाय)** नीचे

के पाशों को नीचे से ढीला कर दो। **मध्यमम् (पाशम्) वि (श्रथाय)** मध्य के पाशों को मध्य से ढ़ीला कर दो। इससे सिद्धान्तः इतने निष्कर्ष निकलते हैं—

१. मनुष्य जब विवेकशून्य होता है, तो भ्रम, भ्रान्ति, सम्मोहन और भोग का शिकार होकर पाशों से ग्रस्त हो जाता है।
२. पाश वे बन्धन हैं, जो अत्यन्त दुःखदायी होते हैं।
३. अपने कुकर्मों, पापों, अपराधों का फल मनुष्य को स्वयं भोगना ही पड़ता है। ईश्वर कोई भी पाप क्षमा नहीं करता।
४. पश्चाताप और प्रायश्चित् (अर्थात् आगे से निष्पाप जीवन व्यतीत करने की) भावना से यदि ईश्वर का आश्रय लिया जाय तो दयालु प्रभु पाशों को यथास्थान ढ़ीला (शिथिल) कर देता है।
५. पाशों से पूर्णतया विमुक्त होने के लिये शेष पुरुषार्थ मनुष्य को स्वयं ही करना पड़ता है। यह पुरुषार्थ ही उसकी सदाशयता का प्रतीक है। हाँ, पुरुषार्थी के ऊपर परमेश्वर की कृपा-दृष्टि प्रेरक के रूप में अवश्य रहती है।

यह शेष पुरुषार्थ क्या है ? शेष पुरुषार्थ है, पाशों की पशुता से पिण्ड छुड़ा कर (१) अनागसः अर्थात् पाप-रहित होना, और (२) 'अदिति' के लिए 'आदित्य' प्रभु के व्रतों में बंधना। मन्त्र में आया—
अथा वयम् आदित्य व्रते तव अनागसः अदितये स्याम।

पहली अनिवार्यता है "**अनागसः**" अर्थात् पाप रहित होना। 'पाप' आगस है, आता है और घुस के बैठ जाता है। अनागसः का अर्थ है "प्रवेश निषेध", पाप को आने ही नहीं देना। ऊपर ही ऊपर भगा देना। अथर्ववेद ६।४५।१ का वचन है—**परोपेहि मनस्पाप,** हे मेरे मन के पाप! दूर भाग जा **न त्वा कामये,** मैं तुझ को नहीं चाहता। **परे हि** परे हट, दूर रह। ऐसी वृत्ति बनानी चाहिये। दूसरी चीज अनागसः होने के लिये जरुरी है 'पवित्रता'। तीनों पाशों में फिर से न बंध जायें इसके लिए (१) शिर की पवित्रता (२) हृदय की पवित्रता, और तीसरी जननेन्द्रियों की पवित्रता निरन्तर बनाये रखना जरूरी है। ब्रह्म-यज्ञ (सन्ध्या वन्दन) इसका एक अचूक साधन है, जहाँ प्रभु से हम अपने समस्त अंगों की शुद्धता और

पवित्रता के लिये बारम्बार प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना के तदनुरूप ही साधना भी होना चाहिये।

निर्द्वन्द, निर्भय, निर्भोग, और निष्पाप होकर ही हम शिथिल हो गये पाशों को परे फेंक कर 'अदिति' के लिये 'आदित्य प्रभु के व्रतों में प्रवृत्त हो सकते हैं।' "अदिति" नाम है अखण्ड/अक्षय सुख का, मोक्षानन्द का, अदीनता का, सारी पृथिवी का। पृथिवी पर सुख-शान्ति तभी हो सकती है, जब सारे पृथिवीवासी निष्पाप हों। जब पाप नहीं होंगे, तो अपराध, अनाचार, अत्याचार नहीं होंगे तो पृथिवी अखण्ड सौभाग्य का सृजन करेगी। स्वर्ग इस धरा पर ही आ जायेगा, यह पृथिवी स्वर्ग हो जायेगी। सारे पृथिवी-वासी प्रभु के व्रतों/ अनुशासन में होंगे। मानव-धर्म की मर्यादाओं का पालन होगा। मानवाधिकारों का हनन नहीं होगा। अदीनता के साथ विश्व-बन्धुत्व और परस्पर सहयोग की भावना बढ़ेगी। सभी मनुष्य अखंड व्रती रहते हुये निर्भ्रान्त, निर्द्वन्द्व, निर्भय, निसंगी, और निर्भोग होंगे। इस प्रकार वे अक्षय-सुख और मोक्षानन्द के अधिकारी होंगे। अतः प्रभु के व्रतों में रहने का लक्ष्य है एकमात्र 'अदिति' अर्थात् अखण्ड समृद्धि।

'अदिति' को अपेक्षित है, 'आदित्य'। जो अखण्डनीय अविनाशी और प्रकाशमान है, वह है '**आदित्य**'। आदित्य का जो आश्रय लेते हैं, उनके व्रत खण्डित नहीं होते। **सुगः पन्थां अनृक्षुर आदित्यास ऋतं यते**—ऋग्० १।४१।४) आदित्यासः ऋत की साधना करने वालों का मार्ग सुगम और निष्कण्टक कर देते हैं। जैसे सूर्य सागर से खारे जल को लेकर, उनको बादलों में परिवर्तित कर शुद्ध मीठे जल की वृष्टि करता है, इसी प्रकार आदित्य व्रतधारियों की कमियों व छिद्रों की पूर्त्ति कर देता है। (**असौ वाऽआदित्यो ब्रह्मः**—शतपथ ७।४।१।१४) यह आदित्य ब्रह्म है। (**स यः स धातासौ स आदित्यः**—शतपथ ९।५।१।३५) यह जो धाता=धारण करनेवाला है, सो यह आदित्य है। (**असौ वाऽआदित्य एकाकी चरति**—तैत्तरीय ३।९।५।४) यह आदित्य है, जो एकाकी विचरता है। इस प्रकार अखण्ड, प्रकाशस्वरूप एक अकेला ब्रह्म ही आदित्य है। आदित्य के ही प्रकाश में विवेक जागृत होता है। ऋग्वेद में आया—

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम्॥
—ऋग्० २।२३।४

आदित्य रूपी ब्रह्मणस्पति सुनीतियों से सब जनों को सन्मार्ग पर चलाता है। जो अपने को इसे सौंप देता है, उसको फिर पाप नहीं व्यापता। उस ब्रह्म की इतनी महान् महिमा है कि द्वेष और क्रोध उसकी तपन में भस्मीभूत हो जाते हैं।

ऐसे आदित्य रूपी ब्रह्म के व्रतों को हम परम पद की प्राप्ति के लिये जीवन में धारण करें। **ऋध्याम ते वरुण खाम् ऋतस्य** (ऋग्० २।२८।५) वरुण, हम तेरे ऋत की डोरी को बढ़ायें। वस्तुतः ऋताचार में नियुक्त रहना ही व्रत है।

वह व्रत, व्रत नहीं है, जो प्रातः धारण किया और साँय अथवा रात्रि को तोड़ दिया। व्रत का अर्थ है किसी शुभ साध की साधना का दृढ़ संकल्प, अथवा दृढ़ निश्चय वा नियम-पालन। प्राचीन परिपाटी यह थी कि व्रत लेने वाला किसी भी व्रत को धारण करने से पूर्व उपवास तथा मौन रखता था। कालान्तर में दिन भर उपवास रखना या निराहार रहना ही व्रत समझा जाने लगा, जो सर्वथा ग़लत है। **मन के शुभ-सङ्कल्पों को क्रियात्मक रूप देकर उन्हें सफलता के साथ सम्पादित कर लेने का नाम 'व्रत' है। जहाँ दृढ़ प्रतिज्ञा है, प्रतिज्ञा पर आरुढ़ रहने के लिये तप है, तप के साथ दक्षता है, वहीं व्रत है।**

बिना व्रत लिये साधना नहीं होती। और बिना साधना के अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती। परमात्मा ही व्रतों का पालन कराने वाला है। **'त्वमग्ने व्रतपाऽअसि'** (यजुः० ४।१६) परमेश्वर ही व्रतों का रक्षक है। वही व्रतों को पूर्ण करने की शक्ति और सामर्थ्य मदान करता है। अतः यजुः० ४।११ के अनुसार (**व्रतं कृणतु अग्निर्ब्रह्म अग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः**। यजुः० ४।११) ब्रह्म-अग्निः, यज्ञः अग्नि और यज्ञीय वनस्पति के लिये व्रत धारण करने का आदेश है। इस प्रकार से व्रत तीन प्रकार के हुये—(१) ब्रह्म (परमेश्वर) को जीवन में धारण करने का व्रत, अर्थात् ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना द्वारा ईश्वर के गुणों को जीवन में धारण करना, (२) यज्ञ आदि श्रेष्ठतम

कर्मों को जीवन में करने का व्रत, अर्थात् जगत् में श्रेष्ठतम कर्मों को सम्पादित करना और (३) वन, वनस्पति तथा पर्यावरण को जीवनपर्यन्त यज्ञीय बनाये रखने का व्रत, अर्थात् वन, वनस्पति और पर्यावरण को सुरक्षा प्रदान करना। इन व्रतों की पूर्णता में ही अखण्ड-सुख और मोक्षानन्द की प्राप्ति है।

अन्त में, वेद-मन्त्रानुसार महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को पाशों से मुक्त होना है, जीवन से नहीं। जीवन को निष्पाप बनाकर शुद्ध, बुद्ध और पवित्र बनाना है। इसमें '**विवेक**' ही परम सहायक है। विवेक जाग्रत होता है—विज्ञानवत अमृतमयी विद्या के संस्पर्श से। विवेकी पुरुष ही 'शुनः शेप' बनकर अखण्ड व्रतों का पालन कर 'धृतव्रत वरुण' की कृपा से इहलोक और परलोक में अक्षय सुख को प्राप्त करता है। बद्ध (बंधे हुए) न होकर हम शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हों, यही इस मन्त्र में हम सबके लिये बहुमूल्य प्रेरणा तथा इस मन्त्र का आशय है।



३०

सोलह कलाओं वाला*

यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ —यजुर्वेद ३२।५

ऋषिः—स्वयंभू ब्रह्म। देवताः—परमात्मा। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवत।

पदपाठ—यस्मात्। जातम्। न। पुरा। किञ्चन। एव। यः। आबभूव। भुवनानि। विश्वा। प्रजापतिः। प्रजया। सं-राणः। त्रीणि। ज्योतिंषि। सचते। सः। षोडशी।

(यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव) — जिससे पहले उत्पन्न ही कुछ नहीं हुआ था,

(यः आबभूव भुवनानि विश्वा) — जो—समस्त भुवनों को सब ओर से व्यापे हुये हैं।

(प्रजापतिः प्रजया सं-राण) — वह प्रजापति प्रजा के साथ सम्यक् रमण करता हुआ,

(त्रीणि ज्योतिंषि सचते) — तीनों ज्योतियों को सींचता/समवेतता है,

(सः षोडशी) — वह षोडशी है।

* आर्यजगत् में १६ फरवरी, १९९७, वर्ष ६२, अक ७ में परम-पुरुष की सोलह कलायें शीर्षक से प्रकाशित।

षोडश मन्त्रों वाला यजुर्वेद का बत्तीसवाँ अध्याय, जिनका मन्त्र-दृष्टा ऋषि स्वयंभू ब्रह्म है, अपने विषय के अनुरूप परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पर विशद प्रकाश डालता है। ईश्वर क्या है, और क्या नहीं, क्या करता है, कौन उसका साक्षात्कार कर पाता है और कहाँ पर, क्यों उससे युक्त हुआ जाय और कैसे, इन सब प्रश्नों का समाधान इस अध्याय में है। कोई कितना भी महान नाम तथा यश वाला क्यों न हो, उसमें आस्था, विश्वास और प्रीति उसको अधिकाधिक जानकर ही होती है। परमेश्वर के विषय में हमारी मान्यताओं का कोई महत्व नहीं; महत्व इस बात का है कि परमेश्वर के बारे में हम कितना जानते हैं। मानने से विश्वास नहीं होता, विश्वास तो केवल जानने, अर्थात्, अनुभव या साक्षात्कार करने से होता है। मान्यतायें ग़लत भी हो सकती है, पर जिसको स्वयं प्रत्यक्ष किया गया हो, उसके विषय में किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता।

आज बिडम्बना यही है, कि सर्वत्र मान्यताओं का बोलबाला है। फलस्वरूप षोडश कलाओं वाले निराकार, अजन्मा, अनुपम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान परमेश्वर को केवल पाषाण या धातु की मूर्त्ति के सोलह-श्रृंगार और षोडश-पूजा-अर्चना तक समेट कर रख दिया गया है। आज कितनी ही ऐसी मान्यतायें हैं, जो जन-मानस में प्रचलित हैं, परन्तु यथार्थ व सत्य से इनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं।

वेद की विशेषता यही है, कि इसमें सत्य है, निर्भ्रान्त सत्य, जिसका प्रदाता परब्रह्म परमेश्वर स्वयं है। वेद स्वयं परमात्मा के विषय में क्या कहता है, देखें—

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ताऽआपः॒ स प्र॒जाप॑तिः॥

—यजुः० ३२।१

"वह परमेश्वर अग्निः, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः तथा प्रजापति है।"

सर्वे॑ निमे॒षा ज॑ज्ञिरे वि॒द्युतः॒ पुरु॑षा॒दधि॑।
नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्यञ्चं॒ न मध्ये॒ परि॑ जग्रभत्॥

—यजुः० ३२।२

"जिस विशेष द्युत से प्रकाशमान पूर्ण परमेश्वर से समस्त

कलायें वा काल के अवयव, जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय उत्पन्न होते हैं उस परमेश्वर को कोई भी ऊपर से बीच में से या तिरछे से नहीं पकड़ सकता।'' उसका कोई आकार नहीं। वह निराकार है।

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः॥

—यजुः० ३२।३

''जिसका नाम महान यश वाला है, उसकी कोई प्रतिमा (प्रतिकृति) नहीं है।''

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः
सऽउ गर्भेऽअन्तः। —यजुः० ३२।४

''वह देव ही निश्चय से समस्त दिशाओं को व्यापे हुये हैं। वही निश्चय से सबसे पूर्व प्रकट हुआ। वही सब के गर्भ अर्थात अन्तःकरण में विद्यमान हैं।''

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद
भुवनानि विश्वा। —यजुः० ३२।१०

''वह ही हमारा बन्धु, जनिता और विधाता है। वह ही समस्त धामों और लोकों को जानता है।''

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥

—यजुः० ३२।१२

''मूल (उपादान) कारण प्रकृति से रचित विस्तृत सृष्टि को ऋत के सर्वकालिक नियमों से बाँधकर उसकी देख-रेख करता है, उसी में व्यापता है, और उसमें वैसा ही (अविच्छिन्न) रहता है।''

यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति
सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ —यजुः० ३२।८

''जिस (परमात्मा) में समस्त विश्व एक ही आश्रय पर स्थित होता है, उसमें यह दृश्य जगत प्रलयकाल में लीन हो जाता है, और पुनः सृष्टि के उत्पत्ति समय में विविध रूप में प्रकट हो जाता है। वह परमेश्वर समस्त सृष्टियों और प्रजाओं (प्राणियों) में ओत-प्रोत है, उरोया पिरोया हुआ है।''

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि परमेश्वर की कोई

मूर्त्ति, परिमाण, प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब नहीं है। वह निराकार, सर्वत्र, और सर्व-व्यापक है। सृष्टि का कर्त्ता, धारण-पोषण कर्त्ता और संहारकर्त्ता वही है। वही कर्म-फलों का विधान करने वाला और समस्त लोकों और धामों को जानने तथा नियम में रखने वाला है। अब जो मान्यताये इन सत्यों के विपरीत हैं, स्वभाविक है, कि उनके आश्रय से परमेश्वर को कभी जाना नहीं जा सकता। सही जानकारी के अभाव में परमेश्वर के प्रति की गई स्तुति, प्रार्थना, उपासना, पूजन-अर्चन का कोई फल प्राप्त नहीं हो पाता। **वे॒नस्तत्प॑श्यन्नि॒हि॑तं॒ गुहा॒ सत्** (यजुः० ३२।८) उसको तो '**वेन**' (ज्ञानवान-योगाभ्यासी-कर्मकुशल) ही—अंतःस्थित अंतःकरण के अंतःकक्ष में साक्षात्कार कर सकता है। अंतर्निहित अंतर्यामी परमात्मा के दर्शन के लिये बाह्य जगत में इधर-उधर भटकना कोई अर्थ नहीं रखता। बाहर के चक्षुओं से परमात्मा की अद्भुत कला का और कला-सौन्दर्य का अवलोकन किया जा सकता है, परन्तु स्वयं उस सच्चिदानन्द-स्वरूप अनादि, अनन्त सत्ता का साक्षात्कार केवल ज्ञान-रूपी अन्तःचक्षुओं से अपने अन्दर ही किया जा सकता है। परमात्मा तो—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तम क्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

—कठोपनिषद् १।२।२०; श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।२०

सूक्ष्मता की दृष्टि से "अणु से अणु, और महानता की दृष्टि से महान से महान है। वह इसी देह-धारी जीव के अन्दर गुहा में स्थित है। कर्मों के बन्धन में न फँसा हुआ निष्काम कर्मयोगी, जो शोक रहित हो, उस विधाता की महिमा को उसकी कृपा प्रसाद से ही साक्षात कर पाता है।" अतः तत् सत् के दर्शन की यदि अभिलाषा है, तो 'वेन' बनना ही होगा। सतत् साधना और सतत् चिन्तन के द्वारा 'तत्व-ज्ञान' को ग्रहण करना होगा।

प्रस्तुत मन्त्र भी उसी तत्व-ज्ञान की एक कड़ी है, जो परमेश्वर को अजन्मा, अनन्त, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्व-व्यापक, नित्य और सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकर्त्ता एवं अनुग्रह और निग्रह के हेतु-भूत (कारणस्वरूप) षोडश कलाओं वाला सिद्ध करती है।

ईश्वर अनादि, अनन्त और नित्य है, इस हेतु मन्त्र में आया **(यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव)** जिससे पहले उत्पन्न ही कुछ नहीं हुआ था, अर्थात् कुछ भी उत्पन्न होने से पूर्व यदि कोई चेतन सत्ता कार्य रूप में थी, तो वह परमेश्वर था। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा प्रलयोपरान्त पुनः उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, और इस प्रकार अनन्त-काल से चला आ रहा सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का यह क्रम, परमेश्वर की अनन्तता, अनादिता और नित्यता को सिद्ध कर देता है। क्योंकि प्रलयकाल तो एक ऐसी अप्रकेत अवस्था का नाम है, जिसमें प्रकृति के कार्य से कारण-अवस्था में लीन हो जाने के कारण, एक विचित्र ठहराव और गहन अन्धकार व्याप जाता है। जगत का उपादान-कारण प्रकृति प्रलयावस्था में सलिल-रूप हो जाती है। बद्ध जीव प्रसुप्तवत हो जाते हैं। केवल एक परमेश्वर ही विद्यमान रहता है। प्रलय-काल की समाप्ति पर वही परमेश्वर अपने सामर्थ्य एवं तप से सलिल-रूपा प्रकृति को आलोड़ित कर पुनः कारण से कार्य-रूप में ले आता है। यह अब नई सृष्टि की सृजनावस्था है। बद्ध-जीवों को यथापूर्व कर्मानुसार शरीर प्राप्त हो जाते हैं। 'ऋत' तथा 'सत्य' पर आधारित सृष्टि-नियम तथा वेद-ज्ञान यथापूर्व पुनः क्रियात्मक रूप में प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सृष्टि का (सृष्टि-काल की समाप्ति पर) प्रलय होता है। और हर प्रलयकाल की समाप्ति पर एक नई सृष्टि का अवतरण होता है। उपलब्ध जानकारी के अनुसार चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की अवधि सृष्टिकाल की, और उतनी ही अवधि प्रलयावस्था की आँकी गई है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का क्रम चलता रहता है, चलता आ रहा है, चलता रहेगा। जिसकी उत्पत्ति है, उसका प्रलय अनिवार्य है, और प्रलयोपरान्त पुनः उत्पत्ति होनी ही है। पर उत्पत्ति और प्रलय सृष्टि की होती है, परमेश्वर की नहीं। परमेश्वर तो सदैव एकरस, अनन्त, अनादि, अमर और नित्य, जैसा है, वैसा ही रहता है; और वैसा ही यथापूर्व रहता है उसका ज्ञान, उसकी सर्वज्ञता और उसकी ज्ञानशीलता। चाहे सृष्टिकाल हो, या प्रलयकाल हो, परमेश्वर हर काल में 'अग्रे' (पहले) से है, क्योंकि वही तो कर्त्ता है, मुख्य-निमित्त-कारण है। इसी भाव को दर्शाता है मन्त्र का प्रथम भाग— **यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव।**

मन्त्र में आगे आया **यः आविभूव भुवनानि विश्वा** जो समस्त भुवनों को सब ओर से व्यापे हुये है। परमेश्वर ही सर्व-व्यापक है। **'भवति इति भुवनम'** जो हो रहा है, वर्त रहा है, वर्तमान है, वह भुवन है। प्रलयकाल में प्रलयावस्था भुवन है, उसमें भी परमात्मा व्यापे हुये हैं। देखें प्रलयकालीन स्थिति का वृत्तान्त।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

—ऋग्० १०।१२९।२

"प्रलयावस्था में मृत्यु न थी, अमृत न था। रात्रि और दिन का चिह्न न था। तब भी वह एक (परमेश्वर) स्वधा के साथ अचल विद्यमान था। उससे परे अन्य कुछ नहीं था।"

सृष्टि-कालीन स्थिति में भी परमात्मा समस्त धामों और भुवनों को जानता व्यापे रहता है।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥

—अथर्व० २।१।३; ऋग० १०।८२।३ (पाठ-भेद सहित)

"वह (परमेश्वर) हमारा पिता (पालक), जनिता (जनक), और वही बन्धु समस्त धामों और भुवनों को जानता है। जो एक अकेला देवों के नामों को धारण करने वाला है, उस 'सम्प्रश्न' को सब भुवन प्राप्त हो रहे हैं।" परमात्मा को यहाँ 'सम्प्रश्न' कहा गया है, अर्थात् जिस विषय में प्रश्न किये जाते रहे हैं, और किये जाते रहेंगें। परमात्मा ही हमारे लिये एक सतत, शाश्वत महान प्रश्न है। वह इसलिये कि वह तो हमें जानता है, किन्तु हम उसे नहीं जानते। वेद में ही आया—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

—ऋग्० १०।८२।७; यजुः० १७।३१

"तुम उसे नहीं जानते, जो इन (लोकों, लोकस्थ पदार्थों) को जानता है, उल्टे तुम्हारी दूरी उससे होती जा रही है, क्योंकि तुम अज्ञान-अन्धकार से ढके हुये, व्यर्थ की बकवास में प्रवृत्त, केवल अपने प्राणों की परवाह करने वाले स्वार्थी, दम्भी, और दिखावे को नामोच्चारण कर विचरते हो।"

इस प्रकार जैसा कि पहले कहा, प्रमुख है, परमात्मा को जानना। परमात्मा का नाम बार-बार उच्चारण करते रहना, बात-बात में 'बाई गाड' या परमात्मा की क़सम खाते रहना या नाम जपन करते रहना कोई मायने नहीं रखता, यदि आचरण में परमात्मा नहीं आया। परमात्मा आचरण में जब आता है, जब उसकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता की अनुभूति साधक को निरन्तर बनी रहे। अल्पज्ञ जीवात्मा को जब यह निश्चय हो जाता है कि परमात्मा समस्त धामों और भुवनों को जानता है, तभी वह उस अनन्त सामर्थ्यवान से युक्त होने की साधना करता है।

तब **(प्रजापतिः प्रजया सं-राण त्रीणि ज्योतिंषि सचते)** वह प्रजापति परमात्मा अपनी प्रजा के साथ सम्यक् रमण करता हुआ तीनों ज्योतियों को सींचता या समवेतता है। साधक-भक्त और भगवान का सम्बन्ध प्रजा और प्रजापतिः का है। जो परमात्मा से युक्त होने की साधना करता है, परमात्मा भी उससे युक्त हो जाता है। उसके योग और क्षेम की रक्षा वह इसी प्रकार करता है, जैसे प्रजा-हितैषी राजा अपनी प्रजा की। सच्चे, निष्ठावान, प्रभु-भक्तों के साथ प्रजापति परमात्मा सम्यक रमण करता हुआ उनकी तीनों ज्योतियों को प्रबुद्ध कर देता है।

ज्योतियाँ तीन है। लोकों में **द्यौ** की ज्योति '**सूर्य**', **अन्तरिक्ष** की '**विद्युत**' और **पृथिवी** की '**अग्नि**' है। मानव देह में '**हृदय**', '**मस्तिष्क**' और '**आत्मा**' (दिल, दिमाग़, और रूह) को आलोकित (रोशन) करने वाली ज्योतियाँ हैं—'**ज्ञान**', '**विवेक**' और '**आनन्द**'। साधक जब प्रजापति परमेश्वर से युक्त होता है, तब वह परमेश्वर इन ज्योतियों को प्रबुद्ध कर देता है। ब्रह्म-ज्योति से समवेत होकर 'ब्रह्मज्ञान', 'ब्रह्म-विवेक' और 'ब्रह्मानन्द' की प्राप्ति होती है। दिल, दिमाग़ और रूह रोशन हो जाते हैं। 'मन' ज्ञान की ज्योतिः से जगमगा रहा होता है, 'बुद्धि' 'विवेक' से ज्योतित हो गई होती है, और 'अन्तरात्मा' अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा प्रदत्त 'आनन्द' में मग्न हो रहा होता है। 'आत्म-ज्योति', 'ब्रह्म-ज्योति' से सिंचित होकर उस आनन्द-धाम में विचरती है जिसमें '**यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त**' (यजुः० ३२।१०, अथर्व० २।१।३) देव-जन अमृत को प्राप्त करते हुये तृतीय (परम) धाम में मुक्त विचरते हैं। '**उपस्थाय**

प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश' (यजुः० ३२।११) प्रथम विद्यमान परमेश्वर को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से आत्मा परमात्मा के साथ अपने आप को संयुक्त कर देता है।

क्यों कर सम्भव हो पाती है यह संयुक्तावस्था? इसलिये, कि वह परमात्मा **(सः षोडशी)** षोडशी है, और जीवात्मा (इन्द्र) को भी '**एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने**' (यजुः० ८।३३; ८।३४; ८।३५) यह योनि तुझे षोडशी होने के लिये मिली है। परम ऐश्वर्यवान परमेश्वर षोडशी है, और जीवात्मा को जो यह योनि (शरीर, घर) मिला है, इसको ऐश्वर्य के लिये षोडशी करना है। यही वेद का निर्देश है यही परमेश्वर की प्रेरणा है।

षोडशी का भाव है, सोलह कलाओं वाला। इसकी व्याख्या जितनी सुन्दर प्रश्नोपनिषद् में है, अन्यत्र नहीं। भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न, जिज्ञासु सुकेशा के सोलह कलाओं वाले पुरुष सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुये पिप्पलाद ऋषि कहते हैं—

अरा इव रथनाभौ कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वः मृत्युः परिव्यथाः इति।

कि रथ के पहिये की नाभि में जैसे अरे लगे होते हैं, ऐसी ही ब्रह्म में सोलह कलायें प्रतिष्ठित हैं। यह सोलह कलायें उसी से प्रकट हुई हैं, और उसी में समा जाती, या यूं कहो समाई रहती हैं। कलायें कोई अवयव नहीं, वे तो कलाकार के कला-कौशल की सृजनात्मक अभिव्यक्ति हैं, अतः तात्विक दृष्टि से महत्व अंततोगत्वा कलाओं का नहीं कलाकार का है। जब कलाओं की अभिव्यक्ति गोचर होती है, वह कलाकार (परम-पुरुष परमात्मा) ''षोडशी'' कहा जाता है 'सकल' (कलाओं-सहित वाला) जाना जाता है। किन्तु जैसे विभिन्न नाम और रूपों वाली समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली नदियाँ जब समुद्र में मिल जाती हैं, उनके नाम-रूप नहीं रहते, सब कुछ समुद्र ही जाना जाता है, उसी प्रकार कलायें कलाकार में जब समाहित हो जाती हैं, तो उनके भिन्न नाम-रूप न रहकर केवल 'कलाकार' (परम-पुरुष परमात्मा) ही रह जाता है। उसको जानना ही मृत्यु की व्यथा को लाँघना तथा आनन्द की प्राप्ति है।

शक्ति-रूपा यह कलायें, जिनकी अभिव्यक्ति ब्रह्माण्ड और इस

मानव–पिण्ड में समान रूप से गोचर है, और जो उस परम–पुरुष में केन्द्रित हैं, उनके नाम प्रश्नोपनिषद् के अनुसार हैं—(१) प्राण, (२) श्रद्धा, (३) आकाश, (४) वायु, (५) अग्निः, (६) जल, (७) पृथिवी, (८) इन्द्रियाँ, (९) मन, (१०) अन्न, (११) वीर्य, (१२) तप, (१३) मन्त्र, (१४) कर्म, (१५) लोक और (१६) नाम। इन कलाओं का वैज्ञानिक–क्रम और विवेकपूर्ण–पारस्परिक–सम्बन्ध समझने के लिये दो बातों का ध्यान रखना होगा—

—एक, कला का कोई आकार नहीं होता। वह तो अमूर्त शक्ति है, कौशल है। अतः जिन कलाओं के नाम गिनाये गये हैं, उनके रूपों का नहीं, उनकी उनमें निहित शक्तियों को ग्रहण करना है।

—दूसरे, मनुष्य का शरीर, यह '**पिंड**'—'ब्रह्माण्ड' का छोटा नमूना है, और यह विशाल सृष्टि यह '**ब्रह्माण्ड**'—पिंड का बड़ा नमूना है। जो पिंड में है, वह ब्रह्माण्ड में है, और जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिंड में है। —**यत्पिंडे तत् ब्रह्मांडे, यत ब्रह्माण्डे तत् पिंडे।**

अब ज़रा अपने पिण्ड पर दृष्टिपात करें। इस पिण्ड में यदि प्राण न हो तो यह पिण्ड, पिण्ड नहीं, मिट्टी है। प्राण ही आत्मा के साथ छाया की तरह लगा हुआ है। प्राण से ही जीवन है। गति चेष्टा सब प्राण की बदौलत है, यही ऊर्जा का स्रोत है। जब तक प्राण शरीर में रहता है, न सोता है, न विश्राम करता है। समस्त इन्द्रियां भी जब सो जातीं हैं; प्राण जागता रहता है। प्राण की स्थिति से स्थिति है, प्राण के प्रयाण से प्रयाण है। अतः प्राण–शक्ति सर्वोपरि शक्ति है, और कलाओं में एवं सृजन की दृष्टि से उसका प्रथम स्थान है। आत्मा को आत्म–बोध प्राण से ही होता है।*

प्राण के पश्चात दूसरा स्थान है 'श्रद्धा' का, जिसका अर्थ है, अपनी क्षमता का बोध होना और उस पर विश्वास करना। आत्म–बोध के पश्चात आत्म–विश्वास ही वह नींव है, जिस पर आगे का ताना–बाना आधारित है। श्रद्धा एक प्रकार से वह सांचा है, जो धारणाओं को सत्य करती है। सत्य धारणाओं पर आरुढ़ रहने का नाम श्रद्धा है।

प्राण और श्रद्धा के बाद वे सब शक्ति साधन आ जाते हैं, जिनसे

---

* ब्रह्माण्ड में सूर्य 'प्राण' है, पृथिवी 'अपान' है, आकाश 'समान' है। वायु 'व्यान' है; तेज 'उदान' है।

इस पिण्ड का स्वरूप बना है, यह है पंच-महाभूत, क्रम से 'आकाश', 'वायु', 'अग्नि', 'आपः' (जल); और 'पृथिवी'। इसके पश्चात आती है हमारी समस्त इन्द्रियाँ जिनके विषय और गुण इन महाभूतों की शक्तियों से प्रभावित है। एक-एक महाभूत एक-एक इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध है। इस प्रकार सोलह कलाओं में से आठ कलायें यह हो गईं।

शेष आठ कलाओं में अगला है, 'मन' जो संकल्प-शक्ति का आधार है। 'मन' सशक्त होता है 'अन्न' से। लोकोक्ति है, जैसा खावे 'अन्न' वैसा होवे 'मन'। इन्द्रियों का जीवन-यापन मानसिक दृष्टि से 'मन' पर और शारीरिक दृष्टि से अन्न पर निर्भर है। 'अन्न' से ही सृजन होता है 'वीर्य' का जो पुनरुत्पादन शक्ति का प्रतीक है। इसके पश्चात है। 'तप' अर्थात् श्रम-शक्ति। उत्पादन हो, सृजन हो, रचना हो, इनके लिये चाहिये 'मन्त्र', अर्थात् 'मनन-शक्ति'। 'तप' की सार्थकता के लिये सही चिन्तन, मनन और सही विधा अनिवार्य है, इसी का नाम है 'मन्त्र'। 'तप' और 'मन्त्र' से सृजन होता है 'कर्म' का। कर्म से ही पहचान बनती है। 'कर्म' से ही बनता है 'लोक' अर्थात् कार्यक्षेत्र या कार्य जगत। कर्म और लोक के अनुरूप ही होता है, 'नाम' (पद-नाम, यश, प्रसिद्धि, आदि)। पद या नाम के अनुरूप ही अधिकार एवं शक्तियाँ प्राधिकृत होती हैं।

इस प्रकार पिण्ड में पुरुष एवं ब्रह्माण्ड में उस परम-पुरुष परमेश्वर की षोडश कलाओं की अभिव्यक्ति स्पष्ट गोचर होती है। लेकिन तत्त्व की बात यह है, कि महत्त्व कलाओं का नहीं कलाकार का है, जिसमें यह सारी कलायें समाहित रहती है। कलाकार तो इन कलाओं से भी ऊपर है। उसी की शक्तियाँ/ कलायें इस पिण्ड और ब्रह्माण्ड में अपना-अपना कार्य कर रहीं हैं। ज़रूरत केवल इस बात की है कि कलाओं के माध्यम उस कलाकार से युक्त हुआ जाय, ताकि उसके सहाय से यह जीवात्मा भी सोलह कलाओं वाला हो जाय। जीवन में एक अद्‌भुत निखार आ जाय। हम भी इस लोक में महान नाम और यश प्राप्त कर अन्ततोगत्वा मोक्षानन्द को प्राप्त कर सकें।

—:०:—

३१

ईश्वर का प्रत्यक्ष अवबोधन*

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि॥

—ऋग्वेद ८।१००।४

ऋषिः—इन्द्रः। देवताः—इन्द्रः। छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्।

पदपाठ—अयम्। अस्मि। जरितः। पश्य। मा। इह। विश्वा। जातानि। अभि। अस्मि। मह्ना। ऋतस्य। मा। प्रदिशः। वर्धयन्ति। आदर्दिरः। भुवना। दर्दरीमि॥

(अयम् अस्मि)	— यह मैं हूँ।
(जरितः)	— हे स्तुतिकर्त्ता,
(मां इह पश्य)	— मुझे यहाँ देख (प्रत्यक्ष कर)।
(विश्वा जातानि अभि अस्मि)	— समस्त उत्पन्न सृष्टि में सब ओर से मैं [व्याप्त] हूँ,
(मह्ना)	— [अपनी] महान महिमा से।
(ऋतस्य प्र-दिशः)	— ऋत का प्रकृष्ट रूप से उपदेश करने वाले ऋताचारी,

---

* वेद-सविता, जून १९९७ में 'ईश्वर दर्शन' शीर्षक तथा आर्यजगत् २० जुलाई १९९७ वर्ष ६२ अंक २९ में प्रकाशित।

(मा वर्धयन्ति) — मुझे बढ़ाते हैं/ विस्तार करते हैं।
(आ दर्दिरः भुवना दर्दरीमि) — संहार (छिन्न-भिन्न) करने की शक्ति रखने वाला [मैं] समस्त भुवनों (सृष्टि) को अन्त (प्रलयकाल) में विश्लेषित कर देता हूँ।

आदि काल से ऋषियों, मनीषियों, चिन्तकों, विचारकों, यहाँ तक कि साधारण मनुष्यों को भी एक विषय जो सदैव कौतूहल एवं जिज्ञासा का केन्द्र-बिन्दु रहा है, वह है—"ईश्वर"! क्या ईश्वर है; यदि है, तो कैसा है; क्या करता है; क्यों कोई ईश्वर की स्तुति करे; कैसे उसका दर्शन हो, अर्चन, वन्दन हो? क्या वह ऐसा है, कि उसकी मरज़ी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता? क्या जो इन्द्रियातीत है, उसका प्रत्यक्ष सम्भव है? क्या यह हास्यास्पद नहीं कि जो स्वयं रचियता तथा पोषणकर्त्ता हो, वह स्वयं ही संहार तथा विनाश करने वाला हो?

कुछ विचारक ऐसे भी हुये हैं, जिन्होंने पर्याप्त चिन्तन के पश्चात ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिन्ह लगा दिया है। उनका कहना है कि ईश्वर जैसी कोई वास्तविक सत्ता है ही नहीं। उनका सारा दर्शन अनीश्वरवाद पर आधारित है। कुछ ऐसे भी चिन्तक हैं, जिनके विचार में 'ईश्वर' केवल एक काल्पनिक सत्ता है जिसको कुछ भीरु, निर्बल और मुर्ख लोगों ने अपनी कल्पना के आधार पर गढ़ रखा है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसी के अनुरूप वह अपना 'ईश्वर' गढ़ लेता है, और अपने मन की भावनाओं को पूजन-अर्चन से अभिव्यक्त कर लेता है।

कुछ-कुछ इसी प्रकार के संशय प्रस्तुत मन्त्र से पूर्व के मन्त्र में (ऋग्वेद ८।१००।३) में उठाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—**'नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह'** 'कोई-कोई उस को ऐसा कहता है कि 'इन्द्र' (परमेश्वर) नहीं है' (अर्थात् उसका अस्तित्व ही नहीं है)। **'कः ईं ददर्श'** 'कौन उसको देखता है'? फिर हम **'कम् अभि स्तवाम'** 'किसकी स्तुति करे'? एक बात और, ऋग्वेद ८।१००।३ मन्त्र का मन्त्रदृष्टा ऋषि 'नेमोभार्गवः' ईश्वर की स्तुति को प्रेरित तो

करता है, पर एक निराले अन्दाज से। **'प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय, सत्यं यदि सत्यमस्ति।'** 'यदि सत्य ही परमात्मा सत्य है, तो हे वाजयन्तः, उस ऐश्वर्यवान इन्द्र के लिये स्तुतियों से अच्छी प्रकार भर दो।'

स्तुतिकर्त्ता के ईश्वर-सम्बन्धी इन सारे संशयों का निवारण करता है, ऋग्वेद के आठवें मंडल के सौवें सूक्त का यह चौथा मन्त्र। आइये इस पर विचार करें।

पहली बात, जो यह कहता है 'न इन्द्रः अस्ति' ईश्वर नहीं है उसके संशय को दूर करने के लिये वह 'इन्द्रः' (जो मन्त्र का दृष्टा ऋषि भी है और देवता भी) स्वयं कहता है—**'अयम् अस्मि'** 'यह मैं हूँ।' जब मैं अपनी विद्यमानता का स्वयं बोध करा रहा हूँ, तो यह कहना, कि मैं हूँ ही नहीं, स्पष्टतः सत्यता को नकारना है।

कक्षा में अध्यापक पूछता है कि 'क्या देवदत्त है?' और देवदत्त स्वयं उत्तर देता है 'जी श्रीमान, मैं हूँ' तो बाकी छात्रों का यह मानना, या शिकायत करना, कि देवदत्त नहीं है, कोई मायने नहीं रखता। इसी प्रकार वेद में, जो परमेश्वर की ही कल्याणी वाणी है, स्पष्ट स्वीकारोक्ति है, कि "यह मैं हूँ" तो ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न-चिन्ह लगाना कोई अर्थ नहीं रखता। दार्शनिक स्तर पर ईश्वर-सिद्धि में प्रमाण तो बहुत से हैं, पर ईश्वर जब स्वयं ही अपने अस्तित्व को स्वीकारता हो, प्रत्यक्ष कहे "यह मैं हूँ", तो फिर किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती।

दूसरी बात, जिसकी ओर मन्त्र इंगित करता है, वह यह कि बिना परमेश्वर का साक्षात्कार किये हुये उस की भरपूर स्तुति करते रहना एक प्रकार से अर्थहीन है। 'स्तुति' का अर्थ है, जो जैसा गुण, कर्म, स्वभाव वाला है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव का यथावत वर्णन करना। जब परमेश्वर को जाना नहीं, समझा नहीं, देखा नहीं, तो उसकी यथावत स्तुति कैसे हो सकती है। बिना किसी को जाने, समझे, देखे-भाले, उस के विषय में जो कुछ भी कहा जायेगा, स्वभाविक है कि वह कल्पना या अनुमान पर ही आधारित होगा। कल्पना या अनुमान यदि बुद्धिपूर्वक, युक्ति और तर्क पर आधारित हो, तो सम्भव है, कुछ अंशों में सत्य सिद्ध हो जाय; पर पूर्ण सत्य तो

तभी सम्भव है, जब जिसके बारे में जो कुछ कहा जाय, उसका पूर्ण साक्षात्कार कर लिया गया हो। वेद के ऋषियों की यही विशेषता है कि वे मन्त्र-द्रष्टा हैं; जो उन्होंने स्वयं साक्षात किया है, उसी को वह दूसरों को साक्षात कराते हैं। यहाँ मन्त्र में स्तुतिकर्त्ताओं के लिये कहा गया है—**'जरितः, मां इह पश्य'** 'स्तुतिकर्त्ता, मुझे यहाँ देख (प्रत्यक्ष कर)। पहले ईश्वर को यहाँ प्रत्यक्ष कर, फिर स्तुति कर।

'इह' शब्द यहाँ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कहाँ देखें हम 'ईश्वर' को ? क्या पुष्कर, अयोध्या, मथुरा, काशी जायें, या मक्का, मदीना, युरुशलम जायें ? क्या मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर जायें, या कहीं और। मन्त्र कहता है, **'इह'** यहीं, इसी पुर में, अपने अन्दर ही, इसी पिण्ड में, इसी जगत में। कहीं जाने की ज़रुरत नहीं। जब परमेश्वर स्वयं कहता है—"मैं यहीं हूँ, तू मुझे यहीं देख" तो कहीं जाने की जरुरत कहाँ रही ? जरुरत एक ही चीज की है, और वह है "जिज्ञासा"—जानने की, देखने की तीव्र इच्छा।

दूसरा महत्वपूर्ण शब्द है—'पश्य' जिसका सामान्य अर्थ है—'देख'। पर क्या कोई ईश्वर को इन आखों से देख पाया है। स्थूल से तो स्थूल का ही दर्शन होगा, परन्तु जो सूक्ष्म से सूक्ष्म है, उसका दर्शन (अनुभवीकरण) सूक्ष्म ही कर सकता है। अतः देखने के लिये जो प्रक्रिया हम को अपनानी होगी, वह इस प्रकार होगी कि स्थूल इन्द्रियों से हम इस सृष्टि का अवलोकन करें। देखें परमात्मा के उस अद्‌भुत कारीगरी को, उस के सौन्दर्य को, उस के काव्य को , जो सर्वत्र गोचर है, बिखरा पड़ा है। और सूक्ष्म आत्मा में साक्षात्कार करें उस अन्तरयामी परमात्मा का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, किन्तु महत्ता से महान से महान है। इसी लिये वेद में आया—

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥

—अथर्व० १०।८।३२

'वह (परमात्मा) इतना निकट है कि कोई उसको छोड़ नहीं सकता। वह इतना निकट है, कि कोई उसे देख नहीं सकता। अतः उस देव के काव्य (रचना) को देख, जो न कभी मरता, न जीर्ण होता है।' सच बात यह है कि जिसको कलाकृति से कलाबोध न हो

सका, वह कलाकार का गुणांकन और उसकी महत्ता को क्या समझ सकेगा। जिसे काव्य में कोई रसानुभूति नहीं हुई, वह उस काव्य के रचियता कवि की क्या प्रशंसा कर सकेगा। इसी लिये वेद ने कहा—

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥

—अथर्व० १०।८।३७

'जो उस विस्तृत सृष्टि रूपी सूत्र को जान लेता है, जिसमें यह सब प्रजायें (समस्त प्राणिवर्ग, चर और अचर जगत्) उरोये-पिरोये हुये हैं, और जो इस सूत्र के भी सूत्र को जान लेता है, वह उस महान ब्रह्म के स्वरूप को जान लेता है।' ऐसा ज्ञानी '**वेनस्तत पश्यन्निहितं गुहा सत**' (यजुः० ३२।८) वेनः उस परम सत्ता को (दृश्य-रूपी) गुहा में साक्षात देखता है। तत् सत् को यदि देखना है, तो वेन बनना होका। और कहीं जाने की जरूरत नहीं। साधना, चिन्तन और ज्ञान के आश्रय से उसको अपने अन्तर मे ही देखना होगा। वह कह तो रहा है—"मैं यही हूँ मुझे यहाँ ही देख।"

अब प्रश्न है कि ईश्वर क्या करता है, तो इस मन्त्र में ईश्वर के तीन कर्मों का वर्णन है। पहला उत्पन्न करना, दूसरा पालन करना, तीसरा संहार करना। एक कर्म और है ईश्वर का, और वह है, कर्म-फल का विधान करना। यह चारों कर्म परमेश्वर के दो शब्दों में समाहित हैं, जो हैं 'जनिता' और 'विधाता'। 'जनिता' के रूप में ईश्वर उत्पत्तिकर्त्ता भी है, पालन-कर्त्ता भी और संहारकर्त्ता भी। इस दृष्टि से वही एक ब्रह्मा भी है, विष्णु भी, और शिव भी। यह जो पौराणिक गाथाओं के आधार पर प्रदर्शित किया जा रहा है कि श्री ब्रह्मा जी, श्री विष्णु जी और श्री शिव जी तीन अलग-अलग देव अलग-अलग कार्यों के लिये है, नितान्त भ्रममूलक है। वेद मन्त्र तो स्वतः स्पष्ट कर रहा है—'**विश्वा जातानि अभि अस्मि महाँ**' अपनी महान सत्ता/ सामर्थ्य से समस्त उत्पन्न सृष्टि में सब ओर से मैं व्याप्त हूँ, तथा '**आ दर्दिरः भुवना दर्दरीमि**' संहार (छिन्न-भिन्न) करने की शक्ति रखने वाला मैं समस्त भुवनों (सृष्टि) को अन्त में विश्लेषित कर देता हूँ।

वेदान्त दर्शन में महर्षि व्यास ने प्रथम सूत्र में '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**' से ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की, तो दूसरे ही सूत्र

में उनको स्थापित करना पड़ा '**जन्माद्यस्त यत**' जिससे इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, वही ब्रह्म है। वस्तुतः उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अलग-अलग कार्य नहीं, एक ही वृहद् कार्य के तीन चरण हैं। एक 'ऋत' है, अटल नियम है, उसी के अनुसार सब कार्य हो रहा है। आत्मा जब इस पिण्ड में आया, तो गर्भस्थ यह एक मांस का लोथड़ा था। फिर इसका आकार बनता गया। यथा स्थान हर अवयव सेट होता गया। फिर जन्म हुआ। बहुत छोटा शरीर था, छोटे-छोटे हाथ, छोटे-छोटे पैर। आज ६०-७० वर्ष के हैं। हाथ-पैर कोई नये नहीं लगे। पर तब में अब में कितना अन्तर है। लेकिन एक दिन इन हाथ-पैरों में वह शक्ति नहीं रहेगी, तो क्या यह अच्छा न होगा कि हमें फिर से वही शक्ति मिले। इसी सारी प्रक्रिया-चक्र का नाम 'उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-चक्र' है। सब कुछ उसी एक परमात्मा के 'तप' तथा 'ऋत' और 'सत्य' पर आधारित 'यथा-पूर्व' हो रहा है। ईश्वर की महानता यह है कि अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक, व्यवस्थित रूप से सारे कार्य स्व-सामर्थ्य से करता चला आ रहा है, और करता रहेगा। और विशेषता यह है, कि बनाये गये पदार्थों को वह पालन और अनुरक्षण भी वह उनमें व्याप्त होकर स्वंय कर रहा है। उत्पत्ति और विकास मैं नैरन्तर्य बना हुआ है, और इन सब के लिये वह किसी का आश्रित नहीं। इसी तथ्य को दर्शाता है, मन्त्र का यह वाक्यांश—'**विश्वा जातानि अभि अस्मि महाँ**'।

संहार के कार्य की दृष्टि से ईश्वर को मन्त्र में 'दर्दिर' कहा गया है। 'दृ' धातु का अर्थ है, विदीर्ण करना, मिले हुये तत्वों को अलग-अलग करना। यह इसी प्रकार है जैसे ओवरहालिंग के लिये मोटरकार या मोटरसाइकिल के इन्जन को पूर्णतया खोल डालना। मिस्त्री द्वारा सारा कुछ इन्जन खुल जाने के पश्चात अपने स्वरूप में नहीं रहता। यह एक प्रकार से इन्जन का संहार है। पुनः उन्हीं कल-पुरजों की साफ-सफाई अथवा नवीनीकरण कर पुनः उनका संचयन और संयोज़न कर इन्जन को कार्यरूप में ले आना, यही इन्जन की 'उत्पत्ति' या पुनर्जीवन है। इस प्रकार संहार से ही उत्पत्ति है।

हर उत्पन्न हुये पदार्थ की एक आयु होती है। जिसकी आदि है, उसका उस रूप में अन्त निश्चित है। केवल अनादि ही अनन्त हो

सकता है। अनादि सत्तायें तीन हैं—ईश्वर, जीव, प्रकृति। सृष्टि 'जातानि' (उत्पन्न हुई) है। सृष्टि का उत्पत्तिकर्त्ता ईश्वर है। जिस के लिये यह सृष्टि रची गई है, वह जीवात्मायें है। जिस से सृष्टि की रचना हुई है, वह प्रकृति तत्व है। हम अपने ऊपर दृष्टि डालें। हमारे अन्दर जो आत्म-तत्व है वह अनादि है, किन्तु अल्पज्ञ है। इसके स्व-विकास (अर्थात् आत्म-विकास) के लिये यह शरीर परमात्मा ने प्रकृति के तत्वों से बना कर प्रदान किया है। आत्मा अजन्मा है, अतः अमर है। शरीर जन्मा है, अतः उसका अंत निश्चित है। यह अंत इस शरीर का संहार है, इसलिये कि आत्मा को पुनः नया शरीर आगामी विकास के लिये मिल सके। शरीरन्त जब होता है, तो जीव अलग हो जाता है, और शरीर के भिन्न-भिन्न तत्व कारण रूप में अपने-अपने तत्वों में मिल जाते हैं, यथा आग्नेय अंश अग्नि में, वायव्य वायु में, पार्थिव पृथिवी में, आपः जल में, और आकाश-आकाश में। फिर इन्हीं पंचतत्वों से पुनः एक नव-शरीर गठित होकर जीवन को कर्मानुसार मिल जाता है। यही विश्लेषण और संश्लेषण अर्थात् विघटन और पुनः सयोंजन की समस्त प्रक्रिया है 'दर्दरीमि', और इस क्रिया का कर्त्ता है '**दर्दिरः**'। जैसे हर शरीर की एक आयु है, उसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि की भी एक आयु है। मानव शरीर की मानक आयु वेद के अनुसार सौ वर्ष वा उस से अधिक है। सृष्टि की मानक आयु चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष है। शरीरन्त पर पंचभौतिक शरीर के तत्त्व अपने-अपने तत्त्वों में लय हो जाते हैं, उसी प्रकार सृष्टि भी अपने अन्त (प्रलय) काल में कारणरूप हो जाती है। पुनः प्रलयावस्था के उपरान्त परमेश्वर के तप से ऋत के आधार पर 'यथापूर्वमकल्पयत्' सृष्टि का प्रगटीकरण हो जाता है। कारणवस्था से पुनः कार्यावस्था में आ जाती है। इस प्रकार संहार और सृजन का क्रम चलता रहता है। संहार न हो, तो सृजन भी नहीं। इसी तथ्य को उजागर करताहै, मन्त्र का अन्तिम भाग—'**आ दर्दिरः भुवना दर्दरीमि**' संहार करने की (कार्य से कारण रूप में लाने की) महती शक्ति रखने वाला मैं समस्त भुवनों (सृष्टि) को अन्त (प्रलय) में विश्लेषित कर देता हूँ [प्रलयकाल उपरान्त पुनः सृष्टि-उत्पत्ति हेतु]।

मन्त्र का जो महत्वपूर्ण अंग है, जो हमें अपने कर्त्तव्य का बोध

कराता है, वह है—'**ऋतस्य प्रदिशः मा वर्धयन्ति**' ऋत का प्रकृष्ट रूप से उपदेश करने वाले ऋताचारी मुझे बढ़ाते हैं/ मेरा वर्धन करते हैं।

समझने की बात है कि प्रत्येक शरीर की जो आयु है, सो है। पर किसी का, यहाँ तक कि शरीरधारी का क्या हक है, कि वह शरीर को क्षति पहुचायें, आयु को क्षीण करे अथवा शरीर का हनन करे। पहली बात यह कि शरीर को न शरीरधारी ने बनाया, न उस जीवात्मा ने जो शरीर के अन्दर है। शरीर को बनाने वाला, प्राणों के द्वारा उसको संचालित करने वाला तो एकमात्र परमेश्वर है, वही इसका मालिक है। हमें तो सदुपयोग और आत्म-विकास के लिये यह शरीर मिला है। तो हमारा कर्त्तव्य यह बनता है, कि अपने तथा अन्य शरीरों की रक्षा करें, इनको पुष्ट करें, और इनके द्वारा शारीरिक आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति करें। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन, स्वस्थ बुद्धि, स्वस्थ चित्त, और स्वस्थ अंतःकरण सम्भव है। यह स्वस्थ होंगे तो हमारे संकल्प चिन्तन, मनन, कार्य, व्यवहार सब स्वस्थ होंगे। तभी हमारे अन्दर समता और शान्ति होगी, विषमता और अशान्ति नहीं। तो इस शरीर की रक्षा करना, इसको पुष्ट और बलशाली बनाना, तथा इसके द्वारा धर्माचरण एवं श्रेष्ठतम कर्मों (यज्ञों) को सम्पादित करना एक प्रकार से ईश्वर का वर्धन है, क्योंकि यह शरीर है तो कलाकृति उसी कलाकार की। कलाकृति को बिगाड़ना, इसकी उपेक्षा करना, इसकी अवहेलना करना, इसको नष्ट करना अथवा इससे अधर्माचरण तथा पापकर्म करना एक प्रकार से कलाकार का अपमान करना है, उसके सम्मान में वृद्धि करना नहीं।

जो बात शरीर को लागू होती है, वही सृष्टि को। जिस सृष्टि को हमने नहीं बनाया, बनाने वाला ईश्वर है, तो हमारा क्या हक बनता है कि हम इस सृष्टि को बिगाड़ें, इसको क्षति पहुचायें, इसमें विक्षोभ, अशान्ति उत्पन्न करें अथवा सृष्टि नियमों के विपरीत व्यवहार या कार्य करें। इस सृष्टि में यदि हम व्यक्ति अथवा समिष्टि रूप में हिंसा, घृणा, वैमनस्य, अत्याचार, अनाचार, शोषण, अन्याय, आदि को बढ़ावा दे रहे हैं, तो निस्सन्देह, न हम सृष्टि का वर्धन कर रहे हैं, न सृष्टा ईश्वर का। ईश्वर तो 'ऋत' है और 'सत्य' है। 'ऋत' और 'सत्य' के आश्रय से उसने सृष्टि की रचना की है। हम आश्रय ले रहे हैं

'अनृत' का और 'असत्य' का और लगे हुए हैं उजाड़ने में उसकी सृष्टि को। हम एक फूल बना नहीं सकते। पर हजारों-लाखों फूलों को उनके खिलते ही डाली से अलग करने में लगे हुये हैं। हम एक पशु पैदा नहीं कर सकते। पर प्रतिदिन लाखों पशुओं का बध कर देते हैं। वन-वनस्पति को पैदा करना हमारे बस में नहीं, परन्तु वन-वनस्पतियों के सफ़ाया करने में हम अग्रसर हैं। जल और वायु का निर्माण करने का सामर्थ्य हममें नहीं। परन्तु जल और वायु को दूषित करने और प्रदूषण फैलाने में हम आगे हैं। मांगने पर परमात्मा हमें आनन्द देता है; बिना माँगे हम परमात्मा को अपने क्रिया-कलापों से दिन-दूने और रात चौगुने दुःख ही दुःख दे रहें हैं, और बनना चाहते हैं उसके भक्त, पाना चाहते हैं उसकी कृपा, उसका आर्शीवाद!

मन्त्र में परमात्मा इसीलिये कह रहा है—

'ऋतस्यं प्रदिशः मा वर्धयन्ति'। ऋत को समझ कर ऋत का प्रचार-प्रसार दिशा-दिशा में करने वाले ऋताचारी ही मेरा वर्धन करते हैं। ऋत का वर्धन ही मेरा वर्धन है, मेरी पूजा, मेरा अर्चन है। ऋत का (अनृत का नहीं) वन्दन मेरा वन्दन है, ऋत का दर्शन मेरा दर्शन है।

सोचने की बात है, जिस परमात्मा का कोई आकार नहीं, जो असीम और अनन्त है, उसको कौन घटा-बढ़ा सकता है। वस्तुतः उसकी सृष्टि का अनुरक्षण और उन्नयन ही उसका वर्धन है। यह हम कर सकते हैं (१) उसके रचे हुये पदार्थों का सदुपयोग करके; (२) सृष्टि के समस्त पदार्थों का अनुरक्षण करके, उनको और अधिक सजा-सवांर कर (३) अविद्या, अज्ञान और अविवेक को दूर कर विद्या, ज्ञान और विवेक से सृष्टि को आलोकित करके; (४) ईश्वर के बनाये हुये पदार्थों से प्रेरणा लेकर अनुसंधान द्वारा सृष्टि-हित में नित्य नये अविष्कार कर, और (५) नास्तिकता और अधर्म का नाश कर स्वयं और मानव समाज में आस्तिकता और धर्म को जीवन का अंग बना कर। पर इसके लिये हमें ऋताचारी बनना होगा। ऋत के गुण और गुणी दोनों को समझ कर जीवन में उतारना होगा। ईश्वर अपनी सत्ता से तो चर-अचर सब में व्याप्त है, पर एक-एक मनुष्य के जीवन में जब ईश्वर कार्य और व्यवहार से गोचर होगा, तो यही

होगा उसका वर्धन।

सृष्टि से संबद्ध अपने कार्यों को ईश्वर तो कर ही रहा है। हमारा भी उत्तरदायित्व बनता है कि सृष्टि को हम उसकी आयु से पूर्व अकाल-प्रलय की ग्रास न बनने दें। आणविक अस्त्र-शस्त्रों तथा परमाणु विस्फोटों के इस युग में, जब युद्ध-लिप्सा और तहस-नहस करने की प्रवृत्ति आतंकवाद की चाशनी के साथ मुंह बाये खड़ी हो, सृष्टि संहार का खतरा और बढ़ जाता है। ऐसे में केवल ऋतज्ञः, ऋतपा और ऋताचारीयों से ही यह उम्मीद की जा सकती है कि वे विनाश-लीला को रोक कर सृष्टि को स्वर्ग (आनन्द-धाम) बनाने की चेष्टा करेंगे। तभी परमात्मा का हम यह कथन सार्थक कर सकेंगें—"**ऋतस्य प्रदिशः मा वर्धयन्तिः**"।

—:o:—

वेद-स्वाध्याय-प्रदीपिका
खण्ड-१
शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति (ऊपर से)	अशुद्ध	शुद्ध
४४	२८	एषिषीमहि	एधिषीमहि
५२	१८	आनुषुक	आनुषक
११०	१३	हॅ	हूँ
१२१	१६	कमी	कभी
१२७	११	आह्नाम्	अह्नाम्
१२७	१३	समर्य्थ	समर्य
१३१	१४	समर्य्य	समर्य
१३१	१४	विदते	विदथे
१३३	३	उदयर्त्ति	उदियर्ति
१३३	४	कल्यणी	कल्याणी
१७८	९	'प्राण' यज्ञों	'प्राण', यज्ञों
१८६	११	श्रेष्ठत्म	श्रेष्ठतम
२०३	३१	जय	जयः
२२३	१७	सद्विरेक	सद्विवेक
२२६	१४	सामनस्यम विद्वेषं	सामनस्यमविद्वेषं
२६३	१८	वाजधन	बाजिधन
२६४	१७	शादन्ति	खादन्ति
२९१	१३	होका	होगा

पुस्तक के विषय में...

मानवीय गुण, कर्म और स्वभाव के बारे मे मानवीय मूल्यो और कर्त्तव्यों का बोध करानेवाली 'वेद' से बढकर विश्व साहित्य मे प्राचीनतम और कोई पुस्तक नही। वेद ही मे समस्त सत्य विद्याओ, और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते है, उनका मूल है। उन्ही वेदों मे से ३१ मन्त्रो की बडी सरल भाषा मे व्याख्याये इस पुस्तक मे सग्रहीत है, जो महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती जी के स्वाध्याय, चिन्तन, मनन और अन्तस्साधना का परिणाम है। अपने गुरुवर स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के समान वेदों को मानव के दैनन्दिन जीवन से जोडने का उनका यह एक उत्तम प्रयास है।

इस पुस्तक मे प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या, मानव को एक उत्कृष्ट व्यक्ति बनने तथा समस्त मानवीय समस्याओ का वेदोक्त कल्याणकारी समाधान प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता रखती है।

पाठको को प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या मे ठोस सामग्री उपलब्ध होगी। दृष्टान्त, कथा, कहानियों से सर्वथा मुक्त यह व्याख्याये जन-मानस को सद् आचार, सद्-व्यवहार और सत्कर्मो की ओर प्रेरित करेंगी, ऐसा हमारा विश्वास है।



महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती

(सन्निविष्ट चित्र में पूर्व आश्रम में **श्री गोपाल शरण 'विद्यार्थी'** के रूप में)

श्री स्वामीजी द्वारा रचित/सम्पादित रचनाएँ

प्रकाशित

1. DAILY PRAYER
2. HUMAN RIGHTS & THE VEDAS
3. JYOTI PARVA DEEPAWALI (The Festival of Enlightenment)
4. वेद–स्वाध्याय–प्रदीपिका

प्रकाशनाधीन

5. वेदोक्त कर्मकाण्ड दर्पण
6. AGNIHOTRA (The Practical Way of Worship)
7. GYAN PARVA – SHRAVANI (The Festival of Knowledge)
8. VIJAY PARVA – DUSSEHRA (The Festival of Achievement)
9. MILAN PARVA – HOLI (The Festival of Harmony)